नमस्तस्मै कृता येन
रम्या रामायणी कथा।

प्रकाशकीय

हमारे प्राचीन साहित्य के दो अत्यंत लोकप्रिय ग्रंथ महाभारत और रामायण हैं। देश का शायद ही कोई ऐसा सुशिक्षित परिवार होगा, जिसने इन दोनों ग्रंथों का नाम न सुना हो तथा इनकी कहानी न पढ़ी हो, यहां तक कि अशिक्षित व्यक्तियों के घरों में भी इनका नाम पहुंचा है। इन दोनों ग्रंथों में रामायण को विशेष लोकप्रियता प्राप्त है।

हिंदी-जगत दो रामायणों से परिचित है। एक वाल्मीकि-कृत, जो संस्कृत में है, दूसरी गोस्वामी तुलसीदास-कृत, जो अवधी में है। दोनों के चरित-नायक एक हैं, पर उनके विवरणों में जहां-तहां अंतर है।

संस्कृत में होने के कारण वाल्मीकि-रामायण से कम ही लोग परिचित हैं। उसकी भाषा, शैली तथा घटनाएं बड़ी ही सजीव हैं। ज्ञान की तो वह खान है। उसमें जितना गहरा प्रवेश किया जाता है, उतने ही मूल्यवान रत्न प्राप्त होते हैं।

हमें हर्ष है कि लेखक ने वाल्मीकि-रामायण का बड़ी बारीकी से अध्ययन करके उस युग की सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की विशद जानकारी पाठकों को दो पुस्तकों में दी है। इस पुस्तक में उन्होंने उन विषयों को लिया है, जो तत्कालीन संस्कृति से—मनुष्य के भौतिक और आध्यात्मिक जीवन से—संबंधित हैं। हमें विश्वास है कि रामायण की कथा से सुपरिचित पाठक के लिए भी यह विवेचन नवीन और रोचक सिद्ध होगा, और उसे यह अनुभव होगा कि रामायण हमारे सांस्कृतिक इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय है।

इस प्रकार का अध्ययन प्रथम वार प्रस्तुत किया गया है। इसमें पाठकों को उस युग का एक प्रामाणिक तथा सुबोध चित्र मिल जाता है।

इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी उपयोगिता विद्वद्वर्ग तक ही सीमित नहीं है, अपितु इससे सामान्य पाठक भी लाभ उठा सकते हैं, कारण कि इसमें दुर्बोध अथवा शुष्क सैद्धांतिक सामग्री का समावेश न करके लेखक ने जीवन के स्पंदनशील कणों को एकत्र किया है। इसके पठन-पाठन से पाठकों के रस एवं रुचि में भी वृद्धि हो सकती है।

हमें विश्वास है कि यह पुस्तक वाल्मीकि-रामायण को समझने तथा उसे लोकप्रिय बनाने में सहायक होगी और इसका सर्वत्र स्वागत होगा।

—मंत्री

प्राक्कथन

रामायणकालीन संस्कृति कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो भारतीय संस्कृति से भिन्न हो अथवा अपना कोई स्वतंत्र और निरपेक्ष अस्तित्व रखती हो। रामायण की संस्कृति भी भारतीय संस्कृति की युग-युगीन धारा का ही एक अभिन्न अंग है और एक व्यापक संदर्भ में ही समझने-परखने का विषय है। फिर भी रामायण-कालीन संस्कृति एक विशिष्ट शोध और अध्ययन की इसलिए अपेक्षा रखती है कि उसमें सत्य, स्नेह, सदाचार, कर्तव्य-पालन और आत्म-त्याग के वे आदर्श प्रस्थापित हुए, जो हमें अब तक उत्तराधिकार में मिले हुए हैं और जिन्हें अपने दैनिक जीवन में उतारकर हम सच्चे गौरव का अनुभव करते हैं। रामायणकालीन संस्कृति का अधिकतर यही रूप—आदर्शवादिता का रूप—हमारे सामने आया है, यहां तक कि आज की नई पीढ़ी के लिए 'रामायण' शब्द ही नीरस धार्मिकता और शुष्क उपदेश-वृत्ति का पर्याय बन गया है। किंतु रामायण का एक और भी रूप है, जो खान-पान, वेश-भूषा, आहार-विहार, कला-कौशल-जैसे सरस लौकिक विषयों से संबंध रखता है। वास्तव में विचार और कर्म दोनों के क्षेत्रों में राष्ट्र का जो सर्जन है, वही उसकी सर्वांगीण संस्कृति है; और रामायणकालीन भारत की संस्कृति भी आदर्श और व्यवहार दोनों दृष्टियों से एक पूर्ण संस्कृति थी—स्थूल और सूक्ष्म, मन और कर्म, अध्यात्म जीवन और प्रत्यक्ष जीवन दोनों का समन्वय करनेवाली। रामायण के बारे में यह धारणा बना लेना कि उसमें इस लोक के मानवी जीवन को सुंदर, सुशांत, समृद्ध और संतुलित बनाने की ओर ध्यान नहीं दिया गया, अन्याय है। साहित्य, विज्ञान, पाक-कला, शृंगार, शिक्षा, शिष्टाचार, स्थापत्य, धर्म, दर्शन, तत्व-ज्ञान आदि अनेक क्षेत्रों में रामायणकालीन आर्यों ने अपना विकास किया; पार्थिव जीवन को जानने, समझने और उसमें रस लेने का

भरपूर प्रयत्न किया। जीवन को लौकिक और पारलौकिक दृष्टि से समुन्नत बनाने के इसी प्राचीन प्रयत्न की कहानी इस पुस्तक में वर्णित है।

किसी युग या देश की संस्कृति को किसी अन्य युग या देश के मापदंडों से आंकने की चेष्टा करना उचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रत्येक युग की अपनी विशेष परिस्थितियां होती हैं, जिनकी सीमाओं में देश के सांस्कृतिक जीवन का एक विशिष्ट प्रकार से विकास किया जाता है। ऐसी दशा में निरापद मार्ग यही होगा कि प्राचीन संस्कृति का वस्तुगत या तथ्याश्रित अध्ययन किया जाय, तत्कालीन सांस्कृतिक तथ्यों को एक व्यवस्थित एवं सुसंबद्ध रूप में उपस्थित कर दिया जाय और उनके विषय में अच्छी या बुरी संमति बनाने का काम पाठकों पर छोड़ दिया जाय। प्रस्तुत अध्ययन में यथासंभव यही मार्ग अपनाने का यत्न किया गया है। इसमें तत्कालीन संस्कृति का वैसा ही रूप अंकित किया गया है, जैसा स्वयं वाल्मीकि ने अपनी रामायण में चित्रित किया है, तथा निजी मत-प्रकाशन अथवा टीका-टिप्पणी से भरसक दूर रहा गया है।

इस अध्ययन में उत्तरकांड से अपेक्षाकृत कम सामग्री ली गई है, क्योंकि आज के अधिकांश अनुसंधानकर्ता उसे प्रक्षिप्त और परवर्ती मानते हैं। प्रायः सर्वत्र रामायण के आवश्यक संदर्भ दे दिये गए हैं और पाद-टिप्पणियों में अधिक-से-अधिक श्लोक उद्धृत किये गए हैं। विवेचन में कुछ घटनाओं का एकाधिक बार संकेत या उल्लेख अनिवार्यतः हो गया है, जो एक विश्लेषणात्मक कृति में अपरिहार्य है। इस अध्ययन का आधार वाल्मीकि-रामायण का बंबई-संस्करण है, जो १९१२-२० में गुजराती प्रेस, बंबई, से सात जिल्दों में प्रकाशित हुआ था।

इस पुस्तक के रेखा-चित्रों में चित्र १, ४, ५, ७, १२-१४, १८, २०, २२, २४-२६, ३०, ३३ तथा ३४ श्री शिवराममूर्ति की 'अमरावती स्कल्पचर्स इन मद्रास म्यूजियम' नामक पुस्तक में प्रकाशित चित्रों की अनुकृतियां हैं (कापी राइट, राजकीय संग्रहालय, मद्रास); चित्र ६, १६, १७, २१, २३, २८, ३८, ३९ तथा ४२ का आधार उनकी 'संस्कृत लिटरेचर एंड आर्ट, मिरर्स आफ इंडियन कल्चर' के चित्र हैं (कापी राइट, पुरातत्व-विभाग, भारत सरकार); चित्र २७, ३२, ३५, ३६ तथा ३७ उनके 'सम आर्किटेक्चरल पैसेजैस इन दि रामायण' ('जर्नल

आफ ओरिएंटल रिसर्च', जिल्द १३, भाग २) लेख के साथ प्रकाशित चित्रों की अनुकृतियां हैं; तथा चित्र ४३ उनकी 'सम न्यूमिस्मैटिक पैरेलल्स आफ कालिदास' के चित्र पर आधारित है। चित्र २ 'टाइम्स आफ सिलोन' (वार्षिकांक १९५६) में प्रकाशित चित्र की रेखानुकृति है। चित्र ३ पुरातत्व-विभाग, भारत सरकार, से प्राप्त हुआ है। चित्र ९ और ४१ राजकीय संग्रहालय, मद्रास, से प्राप्त छवि-चित्रों की रेखानुकृति हैं। चित्र १९ का आधार डा० वासुदेवशरण अग्रवाल-कृत 'हर्पचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन' (फलक १०।४१) है। चित्र ३१ डा० राधाकुमुद मुखर्जी की 'एन्श्यंट इंडियन एज्यूकेशन' के फलक १५।६ की अनुकृति है (कापी राइट, मैक्मिलन एंड् कंपनी, लंदन)। चित्र २९ और ४० पत्र-सूचना-विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली, से प्राप्त छवि-चित्रों की रेखानुकृतियां हैं। लेखक इन सबका आभारी है।

हिंदी की प्रकृति के अनुसार इस पुस्तक में हलंत का प्रयोग नहीं किया गया है तथा अनुनासिकों को अनुस्वार से व्यंजित किया गया है। केवल संस्कृत स्थल इसके अपवाद हैं। उद्धरण-संख्याओं में पहला अंक कांड का, दूसरा सर्ग का तथा तीसरा श्लोक का सूचक है (जैसे, ३।१५।१५ का अर्थ हुआ अरण्यकांड के पंद्रहवें सर्ग का पंद्रहवां श्लोक)।

'सस्ता साहित्य मंडल' द्वारा प्रकाशित लेखक की अन्य पुस्तक 'रामायणकालीन समाज' में वाल्मीकि-रामायण का समाजशास्त्रीय अध्ययन किया गया है। इन दोनों पुस्तकों में मिलाकर लेखक का रामायणकालीन समाज और संस्कृति का अध्ययन संपूर्ण हो जाता है। यदि ये वाल्मीकि के प्रति हिंदी-भाषियों की रुचि जगाने में तथा चिर-पुराण राम-कथा के एक महत्वपूर्ण और रोचक किंतु अपरिचित पक्ष का उद्घाटन करने में सहायक हो सकीं तो यह श्रम सार्थक होगा। लेखक के अज्ञान या दृष्टि-दोष से हुई भूलों के लिए मनीषी पाठकों की सहृदयता प्रार्थनीय है।

नई दिल्ली,
राम-नवमी, सं० २०१५

—शांतिकुमार नानूराम व्यास

विषय-सूची

सीता-राम

(कांस्य-मूर्ति, अठारहवीं शताब्दी, पुरातत्व-विभाग, भारत सरकार)

रामायणकालीन संस्कृति

: १ :

रामायण का सांस्कृतिक महत्व

रामायण की संस्कृति का प्रचार हिंदू-धर्म के व्याख्याताओं और उन्नायकों का सदा से प्रिय विषय रहा है, और हमारे साहित्य में ऐसे लेखों, ग्रंथों या काव्यों की कमी नहीं, जिनमें राम की स्तुति, उनके अलौकिक चरित्र का कीर्तन अथवा एक मर्यादा-पुरुषोत्तम लोकोत्तर विभूति के रूप में उनका न चित्रण किया गया हो। रामायण के नैतिक आदर्शों का गुण-गान करनेवाले गंभीर भाषण, लेख आदि भी आये दिन सुनने-देखने में आते रहते हैं। किंतु आज के व्यावहारिक जगत में हम किसी युग या व्यक्ति के लौकिक मूल्यांकन में अधिक रस लेने लगे हैं; उसका निरा श्रद्धाजन्य यशोगान हमारी आंतरिक अभिरुचि को नहीं जगा पाता। रामराज्य अथवा रामायण-काल प्राचीन भारतीय समाज का एक स्वर्ण-युग था सही; परंतु उसका मात्र विशेषणों में वर्णन करने से, उसके मात्र प्रशस्ति-गान से, हमारी जिज्ञासा तृप्त नहीं होती। हम तो जानना चाहते हैं—उस युग में आर्य तथा अनार्य-जाति के लोगों का खान-पान कैसा था? मांस-मदिरा उनके लिए त्याज्य थे अथवा ग्राह्य? उनकी वेश-भूषा कैसी होती थी? लोग अपना मनोरंजन कैसे करते थे ? उनके क्या रीति-रिवाज थे?–नगरों, प्रासादों और आश्रमों का वे कैसे और किन उपकरणों से निर्माण करते थे? राजा तथा प्रजा द्वारा किन कला-कौशलों का अनुशीलन किया जाता था? साहित्य और विज्ञान की क्या स्थिति थी? उन दिनों संस्कृत लोक-भाषा थी अथवा मात्र साहित्यिक भाषा? शिक्षा का क्या स्वरूप और कितना विस्तार था? कौन-कौन-से धार्मिक कर्मकांड प्रचलित थे? जीवन के प्रति लोगों का क्या दृष्टिकोण था तथा धर्म और नैतिकता के क्या आदर्श थे?

यदि इन प्रश्नों के समाधान के लिए आदि-काव्य का सांस्कृतिक विश्लेषण

किया जाय तो इस चिर-पुराण कथा का एक सर्वथा नवीन और रोचक रूप उपस्थित होगा। इस अन्वेषण से जो निष्कर्ष निकलेंगे, तत्कालीन संस्कृति का जो चित्र उभरेगा, वह अब तक अज्ञात या अल्प-ज्ञात रहा है। ऐसे वस्तुगत या तथ्याश्रित अध्ययन से भारत के पुरातन सांस्कृतिक गौरव पर भी जैसा प्रकाश पड़ेगा, वह अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशस्तियों की तुलना में कहीं अधिक ज्ञानवर्धक और प्रभावोत्पादक सिद्ध होगा। आज के तर्क-प्रिय मानव को भी ऐसे सांस्कृतिक चित्रणों में वैरस्य या अविश्वास का अनुभव नहीं होगा।

संस्कृत भाषा का पठन-पाठन कम हो जाने पर देश में राम-कथा के आदि-स्रोत, वाल्मीकि-रामायण, का भी प्रचलन कम हो गया और उसका स्थान प्रादेशिक भाषाओं की रामायणों ने ले लिया। इन रामायणों का, उदाहरणार्थ रामचरितमानस का, लोक-मानस पर चाहे कितना ही प्रभाव क्यों न हो, राम-राज्य की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक गवेषणा के लिए इनका महत्व नगण्य है। उस युग के मौलिक सांस्कृतिक तथ्यों के सर्वाधिक प्रामाणिक परिज्ञान के लिए हमें वाल्मीकि का ही सहारा लेना पड़ेगा। भले ही वाल्मीकि, आधुनिकों की संमति में, राम के समकालीन न रहे हों,[1] फिर भी अन्य रामायणकारों की तुलना में वह राम-राज्य की परंपराओं और लोक-श्रुतियों के अधिक निकट थे; अतः उनके महाकाव्य का सांस्कृतिक महत्व असाधारण एवं निर्विवाद है।

भारत की सांस्कृतिक परंपराओं को समझने के लिए रामायण (और महाभारत) में वर्णित सांस्कृतिक परिस्थितियों से सुपरिचित होना आवश्यक है; क्योंकि एक तो उनकी संस्कृति आज भी हमारे समाज में न्यूनाधिक रूप में परिलक्षित होती है और दूसरे, हमारी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति, राजनीतिक और सामाजिक जीवन का जैसा सजीव वर्णन उनमें मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। वाल्मीकि ने आर्य-संस्कृति के एक अतिशय प्राचीन एवं उत्कृष्ट युग को मानो

---

१. पुराण-विशेषज्ञ पार्जिटर के अनुसार राम १६०० ई० पू० में हुए थे और, जर्मन विद्वान याकोबी के अनुसार, वाल्मीकि ने अपनी मूल रामायण प्रचलित लोक-गाथाओं के आधार पर लगभग ८००-६०० ई० पू० में रची। प्रक्षेपादि से उसकी कलेवर-वृद्धि होती रही और उसका वर्तमान रूप ईसा के प्रादुर्भाव के आसपास स्थिर हुआ।

साकार रूप में रंगमंच पर उपस्थित कर दिया है; और उनके सांस्कृतिक तथ्य 'मिस्र या बेबीलोन की तरह किसी मृत संस्कृति के निर्जीव लक्षण नहीं हैं, अपितु एक आत्मनिष्ठ और सुसंस्कृत जाति के जागृत अस्तित्व और सजीव चेतना के पुरातन प्रतीक हैं।'[1] प्राचीन आर्यों का मस्तिष्क उर्वर और प्रतिक्षण जागरूक था। उन्होंने उदात्त और विचारोत्तेजक सिद्धांतों की नव सृष्टि की, तथा उन्हें भाषा, संगीत और कला के माध्यम से हृदयग्राही रूप में अभिव्यक्त किया। सच पूछा जाय तो 'भारत के इतिहास-पुराणों में—रामायण और महाभारत में—जीवन के जो सतत स्पंदनशील कण बिखरे पड़े हैं, एक सूत्र में पिरोकर उनका पुनरुद्धार करने के लिए एक बड़े विद्वान और उससे भी बड़े एक कलाकार की आवश्यकता है।'[2]

वाल्मीकि-रामायण के सांस्कृतिक अध्ययन की केवल सैद्धांतिक या शैक्षणिक महत्ता नहीं है, उसकी व्यावहारिक उपयोगिता भी है। रामायण आर्य-संस्कृति की आधार-शिला रही है। भारतीयों ने राम-राज्य को सदा से सुराज्य का पर्याय-वाची माना है और आज भी वही हमारी शासन-व्यवस्था का आदर्श है। रामायण में उन कोमल भावनाओं का चित्रण है, जिनसे हमारा कौटुंबिक जीवन ओत-प्रोत रहता है। हिंदुओं की रीति-नीति और धर्म-कर्म को प्रभावित करती हुई वह आज भी उनके सामने सत्य, सदाचार और कर्तव्य-पालन का अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करती है। अतः ऐसे अमर ग्रंथ की संस्कृति के व्यवस्थित अध्ययन की अपनी प्रचुर व्यावहारिक उपयोगिता भी है। सामान्य भारतीय रामायण-काल को अपने समाज का स्वर्ण-युग मानता है, किंतु इस युग की सभ्यता और संस्कृति के विषय में उसकी धारणाएं अत्यंत सीमित, अल्प, अपूर्ण, भ्रांत, निराधार या स्वनिर्मित हैं। रामायण के सांस्कृतिक अध्ययन एवं विश्लेषण से उसकी इन धारणाओं का निराकरण किया जा सकता है और उसे भारत के एक चिरस्मरणीय युग का प्रामाणिक परिचय दिया जा सकता है।

---

१. सुबोधचंद्र मुखर्जी—'दि कल्चरल हिस्ट्री आफ इंडिया, एन अपॉलॉजी', ('इंडियन कल्चर', जिल्द ६, पृष्ठ २१८)।

२. नगेंद्रनाथ घोष—'दि रामायण एंड महाभारत, ए सोशियोलॉजिकल स्टडी' (सर आशुतोष मुखर्जी सिल्वर जुबिली वाल्यूम, ओरिएंटेलिया, भाग २, पृष्ठ ३६१)।

पुरातत्ववेत्ता एवं प्राचीन साहित्य और समाज-शास्त्र के विद्यार्थी के लिए तो रामायणकालीन संस्कृति से परिचित होना अत्यावश्यक है। महाभारत के समान रामायण भी प्राचीन भारतीयों के आचार-विचार, ज्ञान-विज्ञान और प्रज्ञा-प्रतिभा का विलक्षण भंडार है। उसमें आर्यों की धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक और सामाजिक सभ्यता का प्रामाणिक किंतु काव्यमय विवेचन है। विद्वानों का कथन है कि 'मानव-जीवन का ऐसा कोई पक्ष नहीं, जिसकी झांकी रामायण में न मिलती हो, अथवा ऐसा कोई सिद्धांत नहीं, जिसका आभास उसमें न दिया गया हो।'[१] यही नहीं, रामायण के मेधावी अंग्रेजी भाषांतरकार श्री मन्मथनाथ दत्त के अनुसार "महाभारत के विषय में जो यह लोकोक्ति प्रचलित है कि 'जो भारत (महाभारत) में नहीं है, वह भारत (भारतवर्ष) में नहीं है', वह रामायण पर भी घटित होती है; क्योंकि उसमें सर्ग, प्रतिसर्ग और राजवंशावलियां, लौकिक और अलौकिक प्राणी, असुर और दानव, यक्ष और गंधर्व, सिद्ध और चारण, लोकोक्तियां और आख्यान, अर्ध-पौराणिक और अर्ध-ऐतिहासिक कथाएं, ट्रॉय और मेंफिस से पहले विद्यमान नगरों का वर्णन, प्रिअम और ब्यूसिरिस से भी पूर्ववर्ती राजाओं का इतिवृत्त तथा अन्य अगणित घटनाएं और तथ्य वाल्मीकि की सशक्त और कलात्मक अभिव्यक्ति पाकर मुखरित हो उठे हैं।"[२]

भारत में वाल्मीकि का अध्ययन चिरकाल से होता आया है, पर यह अध्ययन मुख्यतः भाषा-शास्त्र, व्याकरण, धर्म, दर्शन या काव्य की दृष्टि से हुआ है। आधुनिक काल में रामायण-विषयक अध्ययन आरंभ हुए लगभग एक शताब्दी होने को आई है। इस क्षेत्र में लैसेन नामक जर्मन विद्वान अग्रणी माने जाते हैं। वेबर, म्युअर, फ्रेडरिक, मोनियर विलियम्स, याकोबी, हैन्स विर्ट्ज, बॉमगार्टनर, लुडविग, ल्यूडर्स, डाह्लमैन, लेवी, हॉप्किंस, मैक्डानेल, विंटरनित्स, कीथ, पार्जिटर, रूबेन प्रभृति विद्वानों ने एक समालोचक की दृष्टि से वाल्मीकि की व्याख्या की। किंतु पाश्चात्य विद्वानों ने अधिकतर रामायण के पाठों की समीक्षा, उसके रचना-काल के विवेचन तथा उसके ऐतिहासिक तथ्यों के मूल्यांकन में ही अपने को उलझाये रखा। रामायण के रोचक पक्ष—उसके सांस्कृतिक अध्ययन—की ओर

१. सी० एन० जुत्शी—'एस्पेक्ट्स आफ आर्यन सिविलिजेशन एज डेपिक्टेड इन दि रामायण' (चतुर्थ ओरिएंटल कान्फरेंस का विवरण)।
२. रामायण के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका।

उनका ध्यान नहीं गया। कतिपय भारतीय विद्वानों ने भी अंग्रेजी में रामायण की अंतरंग परीक्षा की है। स्वर्गीय चिंतामण विनायक वैद्य की 'दि रिडिल आफ दि रामायण' (बंबई, १९०६) में काव्य और इतिहास की दृष्टि से वाल्मीकि की समालोचना की गई है। कुमारी पी० सी० वर्मा की 'रामायण पॉलिटी' (मद्रास, १९४१) में रामायणकालीन राजनीतिक परिस्थितियों का विश्लेषण है। स्वर्गीय वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री की 'लेक्चर्स आन दि रामायण' में रामायण के पात्रों का सुंदर चरित्र-चित्रण किया गया है। के० एस० रामस्वामी शास्त्री की 'स्टडीज इन दि रामायण' (बड़ौदा, १९४४) में रामायण का ऐतिहासिक, तुलनात्मक एवं काव्यशास्त्रीय समीक्षण किया गया है तथा रामायण की कुछ पहेलियों को सुलझाया गया है। डी० सी० सेन, वी० आर० रामचंद्र दीक्षितार, नीलमाधव सेन, शिवदास बनर्जी, सी० एन० मेहता, वी० एस० सुकथनकर, सी० शिवराममूर्ति, एस० सी० सरकार, नवीनचंद्र दास, टी० परमशिव ऐयर, जे० एन० समद्दर, एम० वी० किबे, नीलकंठ शास्त्री, वे० राघवन, मन्मथनाथ राय, वी० एच० वडेर आदि भारतीय विद्वानों ने भी रामायण पर आलोचनात्मक, ऐतिहासिक, भौगोलिक, साहित्यिक, कलात्मक आदि दृष्टियों से अनुसंधानपरक ग्रंथ अथवा लेख लिखे हैं। पर इनमें से भी रामायण के सामाजिक एवं सांस्कृतिक अनुसंधान की ओर किसीका ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ। हिंदी के रामायण-संबंधी शोधपूर्ण साहित्य में सर्वाधिक उल्लेखनीय कृति यूरोपीय विद्वान डा० कामिल बुल्के की 'राम-कथा' (प्रयाग, १९५०) है, जिसमें राम-कथा की उत्पत्ति और विकास का विस्तार से अन्वेषण किया गया है। वाल्मीकि का सामाजिक-सांस्कृतिक अध्ययन तो हिंदी में भी नितांत उपेक्षित रहा है। प्राचीन भारतीय संस्कृति-विषयक जितने भी अध्ययनपरक ग्रंथ हिंदी-अंग्रेजी में देखने में आते हैं, उनमें प्रागैतिहासिक काल का विवेचन करते समय वेदों, उपनिषदों, महाभारत आदि की संस्कृति की चर्चा तो की जाती है, परंतु रामायणकालीन समाज एवं संस्कृति की प्रायः या तो पूर्ण उपेक्षा कर दी जाती है या प्रासंगिक उल्लेख-मात्र कर दिया जाता है। प्रस्तुत पुस्तक में रामायणकालीन संस्कृति का अध्ययन कर इस कमी की आंशिक पूर्ति करने का प्रयास किया गया है।

प्रश्न होता है कि रामायण की कथा का, उसकी संस्कृति का कोई ऐतिहासिक आधार भी है अथवा वह एक कुशल कवि की कल्पना-प्रसूत रचना-मात्र है।

पाश्चात्य आलोचक राम-कथा की ऐतिहासिकता को प्रायः स्वीकार नहीं करते। लैसेन और वेबर समस्त रामायण को एक रूपक-मात्र मानते हैं, जिसके द्वारा दक्षिण की ओर आर्य-सभ्यता और कृषि का प्रसार दिखाया गया है। उनके अनुसार सीता कोई ऐतिहासिक महिला न होकर 'सीता' (हल की रेखा, कूंड़) का मानवीकरण और आर्य-कृषि का प्रतीक है, जिसकी आदिवासियों (राक्षसों) से रक्षा राम पर निर्भर है। पर, जैसाकि मैक्डानेल ने बताया है, राम की दक्षिण यात्रा से वहां की सभ्यता या कृषि में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ हो, यह रामायण में कहीं भी उल्लिखित नहीं है। आर्यों के प्रसार से पहले भी कृषि दक्षिण में प्रचलित थी। अतः राम-कथा और कृषि में विशेष संबंध मानने की आवश्यकता नहीं।[1]

जे० टी० ह्वीलर राम-कथा को ब्राह्म और बौद्ध संघर्षों का प्रतीक मानते हैं। बौद्धों से उनका अभिप्राय राक्षसों से है। किंतु रामायण में राक्षसों का जो चित्रण हुआ है, उसमें उनके बौद्ध होने का कोई संकेत नहीं मिलता। राक्षस ब्राह्मणों के विरोधी अवश्य हैं, पर वे भी यज्ञ करते हैं और नर-भक्षी भी कहे जाते हैं।[2]

मैक्डानेल के अनुसार रामायण की केवल पूर्वार्ध की घटनाएं, जिनमें राम के वन-प्रस्थान और चित्रकूट पर भरत की अयोध्या लौटने की प्रार्थना स्वीकार न करने तक का विवरण है, ऐतिहासिक है, और बाद की घटनाएं—सीता-हरण, राम-रावण-युद्ध और सीता-उद्धार—किसी वैदिक आख्यान का रूपकात्मक चित्रण हैं। लेकिन, जैसाकि डा० कामिल बुल्के ने सिद्ध किया है, अयोध्याकांड और अन्य कांडों के कथानकों में कोई मौलिक अंतर मानने की आवश्यकता नहीं और समस्त रामायण की प्रधान कथा-वस्तु के लिए ऐतिहासिक आधार स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। वाल्मीकि-रामायण पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि कवि को अपने कथानक की ऐतिहासिकता के विषय में कोई संदेह नहीं। राम का छिपकर वालि-वध करना भी ऐतिहासिकता की ओर निर्देश करता है।[3]

स्वर्गीय रमेशचंद्र दत्त महाभारत के पात्रों की तरह रामायण के वीरों को भी काल्पनिक मानते थे, यद्यपि उन्होंने यह स्वीकार किया कि रामायण

---

१. कामिल बुल्के—'राम-कथा', पृष्ठ ११४-५।

२. वही, पृष्ठ ९९-१००।

३. वही, पृष्ठ ११३।

से प्राचीन भारतीय समाज पर प्रकाश अवश्य पड़ता है। महात्मा गांधी भी रामायण को नैतिक आदर्शों का प्रतिपादन करने के लिए रचित एक काल्पनिक काव्य मानते थे। किंतु रामायण के अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि वाल्मीकि ने राम-राज्य की ऐतिहासिक घटनाओं का काव्यमय वर्णन उपस्थित किया है—आर्य-आदर्श के विस्तार का मार्मिक एवं कवित्वपूर्ण इतिहास प्रस्तुत किया है। हां, इस इतिहास को काव्य से तथा तथ्य को कल्पना से पृथक करने में सूक्ष्म विश्लेषण की आवश्यकता पड़ेगी।

श्री येज्ञातोरे सुब्बाराव रामायण का दार्शनिक अर्थ लगाते हैं और, उनके अनुसार, रामायण के भौगोलिक स्थान वस्तुतः योग-शास्त्र के चक्र हैं। ई० मूर भी राम-कथा में एक दार्शनिक शास्त्र का प्रतिपादन देखते हैं। पर ये कल्पनाएं आदि-कवि की कल्पना से कोसों दूर थीं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि वाल्मीकि ऐतिहासिक घटनाओं के साथ-साथ नैतिक आदर्शों का भी प्रतिपादन करना चाहते थे, और इस कारण जहां राम धर्म के प्रतीक बन गए वहां रावण अधर्म का। परंतु सारी कथा में रूपक अथवा प्रतीक-मात्र देखने का कोई उचित कारण नहीं।[1]

राम-कथा का ऐतिहासिक आधार मानते हुए भी श्री एम० वेंकटरत्नम ने अपनी 'राम दि ग्रेटेस्ट फेरो आफ ईजिप्ट' नामक पुस्तक में यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि रामायण वास्तव में मिस्र देश के रमसेस नामक राजा का इतिहास है। रमसेस के विषय में आधुनिकतम खोज के आधार पर जो कुछ ज्ञात हुआ है, उससे स्पष्ट है कि वाल्मीकि-रामायण का इस राजा से कोई संबंध नहीं है।[2]

भारतीय परंपरा और समग्र संस्कृत साहित्य में राम के ऐतिहासिक अस्तित्व को स्वीकार किया गया है।[3] राम-तापनी-उपनिषद (पूर्वा) में राम-चरित्र का संक्षिप्त विवरण देते हुए उनके जीवन की घटनाओं को ऐतिहासिक रूप में वर्णित किया गया है। महाभारत के वन-पर्व (अध्याय २७२-२९१) में ऋषि मार्कंडेय

---

१. 'राम-कथा' पृष्ठ ११६।
२. वही।
३. देखिए वी० वी० कामेश्वर ऐयर—'वाल्मीकि रामायण एंड दि वेस्टर्न क्रिटिक्स', ('क्वार्टरली जर्नल आफ दि मिथिक सोसायटी', जिल्द १६, भाग ४, पृष्ठ २४०-५)।

युधिष्ठिर को बताते हैं कि पूर्ववर्ती महापुरुषों ने सत्य की रक्षा के लिए संसार में क्या-क्या कष्ट उठाये थे, और इसके उदाहरण-स्वरूप राम-चरित्र का वर्णन करते हैं। इस वर्णन में कोई सार न रह जाता यदि वह इसे ऐतिहासिक या वास्तविक न समझते। अध्यात्म-रामायण में राम का एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में परिचय देकर यह बताया जाता है कि किस प्रकार उनके जीवन की घटनाओं से वेदांत के सिद्धांतों का दृष्टांत दिया जा सकता है। रघुवंश (सर्ग १०-१५) में कालिदास ने राम का एक प्राचीन सूर्यवंशी राजा के रूप में इतिवृत्त देकर यह दिखाया है कि एक आदर्श महापुरुष, जिसके रूप में साक्षात विष्णु पृथ्वी पर अवतरित हुए थे, आपत्तियों के बीच किस तरह जीवन-यापन करता है। विस्तृत संस्कृत साहित्य में ऐसा कोई ग्रंथ नहीं, जिसमें रत्ती-भर इस शंका की गंध आती हो कि राम और सीता किसी वैदिक आख्यान को मूर्त रूप देने के लिए किसी कल्पना के धनी कवि द्वारा निर्मित रूपकात्मक या प्रतीकात्मक पात्र थे। रामायण के प्रारंभिक श्लोकों में स्पष्ट कहा गया है कि वाल्मीकि ने नारद से पूछा था कि इस समय पृथ्वी पर कौन गुणवान है और कौन वीर्यवान है—**कोन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान्कश्च वीर्यवान्** (१।१।२)। इसके उत्तर में नारद ने उन नर-शिरोमणि राम का वर्णन किया, जो उस समय जगतीतल पर मौजूद थे और जिनके व्यक्तित्व में वाल्मीकि का आदर्श मूर्तिमान प्रकट था।

प्रस्तुत अध्ययन के लिए रामायण की ऐतिहासिकता का प्रश्न गौण हो जाता है। हमें रामायण की कथा से उतना प्रयोजन नहीं जितना उसमें चित्रित संस्कृति से। कविगण निश्चय ही अपने युग का प्रतिबिंब करते हैं और यह मानने का कोई कारण नहीं कि वाल्मीकि इसके अपवाद थे। इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'कोई भी कवि, चाहे वह पुरातन परंपराओं या आख्यानों का आश्रय ले अथवा स्वयं अपनी सर्जनशील कल्पना का, अंततः अपने काव्य के रंगमंच पर उन्हीं प्राणियों को उपस्थित करेगा और उसकी पृष्ठभूमि उन्हीं वस्तुओं और संस्थाओं से निर्मित होगी, जो उसके निकटवर्ती संसार की उपज हैं। उसकी रचनाओं में, जाने-अनजाने, उसके अपने युग के रीति-रिवाज बहुत-कुछ सचाई और विस्तार के साथ प्रतिबिंबित हो जायंगे।"[1]

---

१. नगेंद्रनाथ घोष—'दि रामायण एंड महाभारत . . .', पृ० ३६१।

: २ :

आचार-विचार

जनसाधारण में प्रचलित आचार-व्यवहार ही किसी समाज की संस्कृति का परिचायक है। रामायणकालीन समाज को भी इस कसौटी पर परखना आवश्यक है। नैतिक नियमों और धर्मानुकूल शासन द्वारा संचालित उस युग की सामाजिक व्यवस्था में आचार-विचारों का अत्यधिक महत्व था। दैनिक जीवन में व्यवहार की सरलता और नम्रता का विशेष ध्यान रखा जाता था। रामायण-काल सभ्यता, शिष्टता, मधुर संवाद, विनम्र व्यवहार और उच्च शिष्टाचार का युग था। सुसंस्कृत व्यक्ति के ये ही मानदंड थे। रामायणकालीन शिष्टाचार सदा से भारतीय शिष्टाचार का आदर्श रहा है।

सामाजिक शिष्टाचार में अतिथि-सत्कार को सर्वोपरि स्थान दिया जाता था। 'धर्म के ज्ञाताओं को अतिथि का सत्कार अवश्य करना चाहिए, चाहे वह प्राकृत (साधारण) व्यक्ति ही क्यों न हो।'[1] वनवासी ऋषि-मुनियों के लिए भी अतिथि-सत्कार एक ऐसा कर्तव्य था, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। अगस्त्य ने राम से कहा था कि जो तपस्वी अतिथि का स्वागत नहीं करता, उसे परलोक में झूठे गवाह की भांति अपने ही शरीर का मांस खाना पड़ता है।[2] अतिथि-सत्कार को एक यज्ञ की कोटि तक चढ़ा दिया गया था; वह उन पंच-महायज्ञों में से था, जिनका प्रत्येक गृहस्थ को पालन करना चाहिए।

अतिथि-सत्कार के लिए रामायण में 'आतिथ्य' और 'अतिथिक्रिया' शब्द भी आये हैं। अतिथि के आगमन पर 'स्वागतम्' कहकर उसे संबोधित किया जाता—

---

१. अतिथिः किल पूजार्हो प्राकृतोऽपि विजानता। धर्म जिज्ञासमानेन. . ।५।१।११२

२. दुःसाक्षीव परे लोके स्वानि मांसानि भक्षयेत् ।३।१२।२९

स्वागतं ते महाबाहो (२।५०।३९)। यों तो आतिथ्य की प्रणाली में सत्कारक के पद और गौरव के अनुसार आवश्यक परिवर्तन कर लिये जाते थे, परंतु प्रायः सभी परिस्थितियों में इन वस्तुओं का प्रयोग होता ही था—पाद्य (पैर धोने के लिए जल), अर्घ्य (आचमन या मुख-शुद्धि के लिए जल), मधुपर्क (शहद, दही, घी, जल और चीनी का संमिश्रण), गौ तथा अनुरूप आसन। अतिथि की आज्ञा मिलने पर ही आतिथ्य-कर्ता अपना आसन ग्रहण करता था। इस प्रारंभिक औपचारिकता के बाद परस्पर कुशल-क्षेम पूछी जाती और अतिथि अपने आगमन का उद्देश्य प्रकट करता था।

वनवासी मुनिगण अपने वानप्रस्थ-धर्म के अनुसार आतिथ्य करते थे। राम, लक्ष्मण और सीता के आगमन पर दंडकारण्य के तपस्वियों ने आगे बढ़कर उनका स्वागत किया (**अभिजग्मुः**) और बड़ी प्रसन्नता के साथ, मंगल-सूचक आशीर्वाद देते हुए, जल, फल, मूल और फूल अर्पित करके उन्हें पर्णशाला में ले जाकर ठहराया (३।१२।११-८)। सिद्धि-प्राप्त ऋषि-मुनि किसी राजकीय अतिथि का सत्कार करने में अपने समस्त साधनों का प्रयोग करते थे, क्योंकि उनकी दृष्टि में राजा अतिथियों में श्रेष्ठ होता था, जिसका यत्नपूर्वक स्वागत करना चाहिए—**राजंस्त्वमतिथिश्रेष्ठः पूजनीयः समन्ततः** (१।५२।१४)। ऋषियों द्वारा राजाओं के वैभवपूर्ण स्वागत का उदाहरण भरद्वाज-कृत भरत के स्वागत में तथा वसिष्ठ-कृत राजा विश्वामित्र के स्वागत में मिलता है।

तपस्वियों की अनुपस्थिति में आतिथ्य करने का दायित्व उनकी पत्नियों पर आ पड़ता था। राम ने सीता को वन साथ ले चलने से पहले उन्हें इस कर्तव्य का भान करा दिया था—**प्राप्तानामतिथीनां च नित्यशः प्रतिपूजनम्** (२।२८।१४)। गौतम ऋषि की अनुपस्थिति में अहल्या ने विश्वामित्र और राम का पाद्य, अर्घ्य आदि से आतिथ्य किया था। राम-लक्ष्मण के न रहने पर सीता को रावण का स्वागत करना पड़ा था। सशंकित होने पर भी वह इस द्विजवेशधारी अतिथि की उपेक्षा नहीं कर सकीं। अतिथि का नम्र और मधुर शब्दों से स्वागत न करना असभ्यता थी।[1]

ऋषि-मुनियों या पुरोहित के आगमन पर राजा आसन से उठकर विनम्रता-

---

१. ३।४६।३३-८; ३।४७।१-२

पूर्वक आगे जाते और अंजलि जोड़कर उनका स्वागत करते थे। राम के राज्याभिषेक के बाद उनके दरबार में अनेक ऋषि उपस्थित हुए थे। उन सबको आया देख राम हाथ जोड़कर खड़े हो गए, फिर उन्होंने पाद्य-अर्घ्य द्वारा विधिवत पूजा करके उन्हें आदरपूर्वक एक-एक गौ अर्पित की। तत्पश्चात सबको प्रणाम करके शुद्ध भाव से उन्हें बैठने के लिए स्वर्णासन दिये, जिन पर कुश फैलाकर मृग-चर्म बिछाये गए थे। जब वे यथायोग्य आसनों पर विराजमान हो गए, तब राम ने उन सबकी शिष्यों और गुरुजनों-सहित कुशल पूछी (७।१।१३-६)।

तत्कालीन राजागण तपोनिष्ठ महर्षियों के प्रति कितनी विनम्रता और संमान का भाव प्रदर्शित करते थे तथा उनके आगमन पर किस आंतरिक हर्ष का अनुभव करते थे, इसका आभास माहिष्मती-नरेश कार्तवीर्य अर्जुन द्वारा महर्षि पुलस्त्य को संबोधित किये गए इन वचनों से मिलता है—"हे द्विजेंद्र, आपका दुर्लभ दर्शन पाकर मेरी नगरी अमरावती के तुल्य हो गई। मुने, आज मैं आपके देव-वंद्य चरणों की वंदना कर रहा हूं, अतः आज ही मैं वास्तव में सकुशल हूं, मेरा व्रत निर्विघ्न पूर्ण हो गया, जन्म सफल हुआ और आज ही मेरी तपस्या भी कृतार्थ हुई। ब्रह्मन, यह राज्य, ये स्त्री-पुत्र और हम सब लोग आपके ही हैं। आज्ञा दीजिए, हम आपकी क्या सेवा करें?" (७।३३।१०-१२)।

अतिथि का स्वागत करने के बाद उससे कुशल-प्रश्न करने की परिपाटी थी। ये प्रश्न राजाओं और ऋषियों द्वारा भिन्न-भिन्न तरह से पूछे जाते थे। ऋषिगण राजाओं से राजकीय विषयों के बारे में पूछताछ करते थे। महाराज दशरथ का आतिथ्य स्वीकार करने के बाद महर्षि विश्वामित्र ने उनसे उनके नगर, खजाने, राज्य, बंधु-बांधव तथा सुहृदों की कुशल पूछी, फिर स्वयं राजा के संबंध में इस प्रकार प्रश्न किया—"राजन, आप सकुशल तो हैं? आपके राज्य की सीमा के निकट रहनेवाले सभी शत्रु आपसे परास्त होकर आपकी शरण में आ गए हैं? आपके यज्ञ-यागादि देव-कर्म और अतिथि-सत्कारादि मनुष्य-कर्म तो अच्छी तरह संपन्न होते हैं?" (२।१८।४५-७)। इसी प्रकार महर्षि भरद्वाज ने भी भरत से उनके कुटुंब, मित्र-वर्ग, कोष, राजधानी, सेना तथा मन्त्रिमंडल का समाचार पूछा था। राम ने गुह द्वारा आतिथ्य किये जाने पर बंधु-बांधवों-सहित उसके स्वास्थ्य की तथा उसके राज्य, मित्रगण तथा वनों की कुशल-क्षेम पूछी थी।

दूसरी ओर राजागण ऋषियों के अतिथि वनने पर आश्रम-संवंधी कुशल-प्रश्न किया करते थे। भरत ने भरद्वाज मुनि से उनके आरोग्य, अग्निहोत्र, शिष्य, पेड़-पत्ते, मृग-पक्षी आदि का कुशल-समाचार पूछा था (२।९०।८)। शवरी द्वारा स्वागत किये जाने पर राम ने उस तपोवना से पूछा—

> **कच्चित्ते निर्जिता विघ्नाः कच्चित्ते वर्धते तपः।**
> **कच्चित्ते नियतः कोपः आहारश्च तपोघने॥**
> **कच्चित्ते नियमाः प्राप्ताः कच्चित्ते मनसः सुखम्।**
> **कच्चित्ते गुरुशुश्रूषा सफला चारुभाषिणी॥३।७४।८-९**

अर्थात हे तपस्विनी, क्या तुमने सारे विघ्नों पर विजय पा ली? क्या तुम्हारी तपस्या में वृद्धि हो रही है? तुमने जिन नियमों को स्वीकार किया है, वे निभ तो जाते हैं? तुम्हारे मन में सुख और शांति है? मधुरभापिणी, तुमने गुरुजनों की जो सेवा की है, वह पूर्ण रूप से सफल हो गई है?

आतिथ्य करते समय इस वात का ध्यान रखा जाता था कि अतिथियों को उनके पद और गौरव के अनुसार ही संमान प्राप्त हो। भरद्वाज-आश्रम में भरत के ससैन्य आगमन पर मुनि ने क्रमानुसार उनसे यथायोग्य कुशल-क्षेम पूछी थी—**आनुपूर्व्याच्च पप्रच्छ कुशलम्** (२।९०।६)। अयोध्या में दशरथ, वसिष्ठ तथा अन्य ऋपियों द्वारा स्वागत किये जाने पर विश्वामित्र ने उन्हें 'यथान्याय' संवोधित किया था। यज्ञ-समारोहों या सार्वजनिक भोजों में विभिन्न वर्ण अपने पदों के अनुसार सत्कार के भागी वनते थे; यज्ञ-कर्म में कुशल शिल्पी 'यथाक्रम' संमानित किये जाते थे।[1] दशरथ के अश्वमेध-यज्ञ में निमंत्रित राजाओं के सत्कार का योग्यतानुसार **(यथार्हम्)** प्रवंध किया गया था। इस प्रकार के और भी अनेकानेक उदाहरण दिये जा सकते ह, जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि दैनिक जीवन में छोटे-वड़े के साथ अनुरूप व्यवहार करने, उनका यथायोग्य आदर करने का सूक्ष्म विचार रखा जाता था।

हर संभव अवसर पर अभिवादन करना रामायणकालीन शिष्टाचार का

---

१. **सर्वे वर्णा यथापूजां प्राप्नुवन्ति सुसत्कृताः। यज्ञकर्मसु ये व्यग्राः पुरुषाः शिल्पिनस्तथा। तेषामपि विशेषेण पूजा कार्या यथाक्रमम्॥१।१३।१४-६**

एक अभिन्न अंग था। प्रांजलि (हाथ जोड़ना), प्रणाम (हाथ जोड़कर झुकना), अंजलि-पुट (हाथ जोड़कर सिर तक ले जाना) और प्रणिपात (संमानित व्यक्ति के चरणों में सिर रखकर, उन्हें हाथ से पकड़कर, दंडवत भूमि-स्पर्श करना), ये संमान प्रकट करने की प्रचलित शैलियां थीं। जाने से पहले संमानित व्यक्ति की प्रदक्षिणा की जाती थी।

मित्रों और संबंधियों से भेंट होने पर लोग बड़ों को प्रणाम करते, समवयस्कों को गले लगाते तथा छोटों से अभिवादन स्वीकार करते थे। ऋषियों, गुरुजनों तथा वृद्धों को सामान्यतः नामोच्चारण के साथ प्रणाम किया जाता था। भरद्वाज-आश्रम में राम ने पहले सीता और लक्ष्मण के साथ मुनिवर को प्रणाम किया और फिर अपना परिचय दिया।

माता-पिता के समक्ष पुत्र शिष्टाचार का सावधानी से पालन करते थे। अयोध्या की राज्य-सभा में उपस्थित होने पर राम ने पिता के निकट जा उनके चरणों में प्रणाम किया और अपना नाम कहा। लक्ष्मण ने राम को संबोधित करने से पहले उनके चरणों को जोर से पकड़ लिया था **(गाढं निपीड्य)**।

उस युग में आलिंगन करने की प्रथा उतनी ही व्यापक और सर्वप्रचलित थी जितनी आज हाथ जोड़ने की प्रथा है। मित्रों और समान आयु या पदवाले संबंधियों का आलिंगन करके स्वागत किया जाता था। पुत्रेष्टि-यज्ञ के अवसर पर राजा दशरथ और राजा रोमपाद स्नेहपूर्वक एक-दूसरे से गले मिले थे **(स्नेहात्संश्लिष्य चोरसा)**। जब राम निषादराज गुह के यहां पहुंचे, तब उसने गद्‌गद हो उन्हें हृदय से लगाकर **(सम्परिष्वज्य)** संबोधित किया था। इसी प्रकार सुग्रीव से मित्रता स्थापित करने के बाद राम ने वानरराज का प्रगाढ़ आलिंगन किया था **(गाढमाश्लिष्य)**।

आतिथ्य-विधि में आते-जाते दोनों समय आलिंगन करना आवश्यक माना जाता था। ऐसा करने से पहले गुरुजन स्नेह-पात्र का सिर सूंघ लिया करते थे। मस्तक सूंघना स्नेह की पराकाष्ठा मानी जाती थी—**उपाघ्रास्यामि ते मूर्ध्नि स्नेहस्यैषा परा गतिः** (७।७१।१२)। भरत के प्रणाम करने पर राम ने उन्हें हाथ पकड़कर उठाया, उनका सिर सूंघा और आलिंगन करके उन्हें गोद में बैठा लिया। जब सभा-भवन में राम ने अपने पिता को साष्टांग प्रणाम किया, तब दशरथ ने राम की अंजलि पकड़कर उन्हें उठाया, अपने समीप खींचकर उनका

आलिंगन किया तथा मणि-विभूषित सोने के आसन पर उन्हें वैठाया। छोटों के प्रणाम करने पर बड़े उन पर आशीर्वाद की वृष्टि किया करते थे।

जब हनुमान सीता का पता लगाकर लंका से लौटे, तब राम ने उनको हृदय से लगाया और यह कहकर अपना आभार प्रकट किया कि 'मैं तो इस समय स्वयं दीन हूं, इस शुभ संवाद के वदले तुम्हें क्या दूं? लो, तुम्हारा आलिंगन कर मैं तुम्हें अपना सर्वस्व दे रहा हूं।' वस्तुतः उन दिनों हार्दिक प्रसन्नता प्रकट करने का सबसे सुंदर प्रकार आलिंगन करना ही था। जब जटायु ने स्वर्गीय दशरथ से अपनी मित्रता का हाल राम को सुनाया, तब राम ने हर्ष के मारे जटायु का आलिंगन कर लिया (**मुदा परिष्वज्य**)। हनुमान के मुख से राम के शीघ्र ही अयोध्या लौट आने का सुसंवाद सुनकर भरत ने प्रसन्न हो उनको छाती से चिपटा लिया (**आलिंग्य सम्भ्रमात्**)। सीता-हरण के षड्यंत्र में मारीच से सहयोग का वचन मिलने पर राक्षसराज रावण ने अत्यंत प्रसन्न होकर उसका आलिंगन कर लिया। राम को चित्रकूट से लौटा लाने के हर्ष में अयोध्या के नागरिक एक-दूसरे का आलिंगन करके भरत के साथ चल पड़े। पंचवटी में लक्ष्मण द्वारा वनाई गई सुरम्य कुटी को देखकर राम ने हर्षित होकर उन्हें अपनी वांहों में भर लिया और कहा कि मैं तुम्हारे इस कार्य से वड़ा प्रसन्न हूं, इसीलिए मैंने तुम्हारा आलिंगन किया है—**प्रीतोऽस्मि यन्निमित्तं ते परिष्वङ्गः मया कृतः** (३।१५।२८)। स्त्रियां अपनी सखियों का आलिंगन करके स्वागत करती थीं। सीता ने विभीषण की पत्नी सरमा का आलिंगन कर उसे वैठने के लिए आसन प्रदान किया था (**परिष्वज्य च सुस्निग्धं ददौ च स्वयमासनम्**, ६।३४।१७)। आलिंगन करके स्वागत-सत्कार करने की यह प्रथा कालिदास के समय भी स्त्रियों में प्रचलित थी, जैसाकि 'विक्रमोर्वशीय' के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य से पता लगता है। कश्मीर में ब्राह्मण स्त्रियों में पारस्परिक अभिवादन करने की आज भी यही परिपाटी है।

पत्नी द्वारा पति के आलिंगन की भी कई घटनाओं का वाल्मीकि ने उल्लेख किया हैं। खर-दूषण और उनकी विशाल राक्षसी सेना को पराजित कर जव राम सीता के पास आये, तव सीता ने उनको सकुशल देखकर प्रसन्नतावश उनका वार-वार आलिंगन किया (**वभूव हृष्टा वैदेही भर्तारं परिषस्वजे**, ३।३०।४०)। इस घटना की आलोचना करते हुए स्वर्गीय श्री श्रीनिवास शास्त्री ने अपने एक भाषण में कहा था—"दांपत्य जीवन की मर्यादाओं के अनुसार शिष्ट भारतीय

परिवारों में नियम तो यह होता है कि पति ही पत्नी का प्रथम आलिंगन करता है। ऐसा बहुत ही कम होता होगा कि कोई सुसंस्कृत और लज्जाशील पत्नी पति का आलिंगन करने में स्वयं पहल करे। पर उक्त अवसर पर सीता इस नियम को भूल-सी गई प्रतीत होती हैं और ज्योंही उन्हें अपने विजयी और स्वस्थ पति के दर्शन हुए, उन्होंने हर्ष और उल्लास के अतिरेक के कारण स्वेच्छा से उनका आलिंगन कर लिया—पति के लिए इससे बढ़कर और क्या आनंद का विषय हो सकता है!"

दुःख के आवेग में स्त्रियां हाथों से अपना पेट पीट लिया करती थीं। जब वन में सीता ने एक ओर मारीच-मृग को मारने गए हुए अपने पति का-सा आर्त स्वर सुना और दूसरी ओर लक्ष्मण राम की सहायता करने जाने को तत्पर नहीं प्रतीत हुए, तब सीता ने दुःख के मारे रोते हुए अपने पेट को हाथों से पीट लिया था—**पाणिभ्यां रुदती दुःखादुदरं प्रजघान ह** (३।४५।३८)। इसी प्रकार नाक-कान से रहित शूर्पणखा खर के सामने हाथों से पेट पीटकर दुःखावेश में रोने लगी थी—**कराभ्यामुदरं हत्वा रुरोद भृशदुःखिता** (३।२१।२२)।

पुरुषों में परस्पर सौहार्द प्रकट करने का एक और ढंग था हस्त-संपीडन या हाथ मिलाना। दशरथ और रोमपाद एक-दूसरे का हाथ पकड़कर विदा हुए थे (**अन्योन्याञ्जलिं कृत्वा**)। दो व्यक्तियों में मित्रता स्थापित होते समय हाथ से हाथ मिलाया जाता था। सुग्रीव ने राम से मित्रता का प्रस्ताव करते हुए कहा—"यदि आपको मेरे साथ मैत्री करना पसंद हो तो लीजिए, मैं अपना यह हाथ पसारता हूं, आप इसे अपने हाथ से पकड़कर मित्रता की मर्यादा स्थापित कीजिए।" यह सुनकर राम ने प्रसन्न मन से सुग्रीव का हाथ अपने हाथ से पकड़कर दबाया—**सम्प्रहृष्टमनाः हस्तं पीडयामास पाणिना** (४।५।१२)। सीता की खोज में भटकते हुए हनुमान के वानर-दल ने ऋक्षबिल गुफा में परस्पर हाथ पकड़कर प्रवेश किया (**गृह्य हस्तैः परस्परम्**)। अपने साथी का हाथ अपने हाथ में लेना प्रगाढ़ मित्रता एवं स्नेह का सूचक था। पंचवटी में लक्ष्मण के वचन से प्रसन्न होकर राम ने उनका हाथ स्नेहपूर्वक अपने हाथ में ले लिया (**हस्ते गृहीत्वा हस्तेन**) और किसी रमणीय स्थल में कुटी बनाने का आदेश दिया। इसी प्रकार सीता की खोज करके लंका से लौटने पर हनुमान अंगद का हाथ अपने हाथ से पकड़कर सुखपूर्वक बैठ गए और अपने संस्मरण सुनाने

लगे।[1] दायें हाथ से किसीका स्पर्श करना स्नेह का सूचक था। राम ने सुमंत्र को दायें हाथ से छूकर वन से विदा किया था (**स्पृशन्करेणोत्तमदक्षिणेन,** २।५२।१३)।

विदाई के समय आयु में छोटे लोग बड़ों की आज्ञा लेकर जाया करते थे। उस समय उन्हें मंत्रोच्चारणपूर्वक आशीर्वाद दिये जाते, उनका मस्तक सूंघा जाता तथा पिता, माता और पुरोहित द्वारा उनके लिए मांगलिक क्रियाएं संपन्न की जातीं। सुदूर यात्रा पर किसीके प्रस्थान करते समय मित्र और संबंधी कुछ दूर तक उसका साथ देते थे, किंतु यदि उसका शीघ्र लौट आना इष्ट था तो उसे बहुत दूर तक छोड़ने जाना उचित नहीं माना जाता था। दशरथ को उनके मंत्रियों ने परामर्श दिया कि यदि आप राम, सीता और लक्ष्मण के शीघ्र लौट आने की कामना करते हैं, तो आपको इनके पीछे दूर तक नहीं जाना चाहिए—**यमिच्छेत् पुनरायातं नैव दूरमनुव्रजेत्** (२।४०।५०)।

भारतीय सभ्यता में स्नेही जनों के प्रति आत्मीयता का जो चरमोत्कर्ष देखा जाता है, उसके अनुसार विदाई के समय अतिथियों के लिए 'फेअरवेल' या 'जाइए'-जैसे भाववाले शब्दों का प्रयोग अनुचित और अशिष्ट माना जाता है। तभी ऐसे अवसरों पर 'फिर मिलने के लिए हम विदा होते हैं', 'फिर दर्शन दीजिएगा', 'लौट आने के लिए जाइए' इस प्रकार के कथन हमारी सांस्कृतिक भाषा में प्राचीन काल से प्रचलित रहे हैं। कौसल्या ने राम को विदा करते समय कहा था कि बेटा, तुम अपने श्रेय के लिए, समृद्धि के लिए और पुनरागमन के लिए वन को प्रस्थान करो—**श्रेयसे वृद्धये तात पुनरागमनाय च गच्छस्व** (२।२४।३१)।

मुख्यतः राजकुलों से संबद्ध होने के कारण रामायण में राजकीय शिष्टाचार का स्थल-स्थल पर विस्तार से उल्लेख हुआ है। राजा प्रजाजनों के हार्दिक संमान और श्रद्धा का पात्र होता था। सभासद, नागरिक और ब्राह्मण **वर्धस्व** (आपकी जय हो) कहकर उसका अभिनंदन करते थे। नागरिक लोग राजा की प्रदक्षिणा कर, उसके रथ के सामने साष्टांग प्रणाम कर अपनी भक्ति प्रदर्शित करते थे। सीता ने, जिन्हें राम के यौवराज्याभिषेक के टल जाने का पता नहीं था, उनसे पूछा था

---

१. **निषसाद च हस्तेन गृहीत्वा वालिनः सुतम्।५।५७।३७**

कि समस्त श्रेणीमुख्यों (व्यापारिक संगठनों के मुखियाओं)-सहित नगर-निवासी और ग्रामीणजन आपके पीछे-पीछे चलने को उत्सुक क्यों नहीं जान पड़ते—

न त्वां प्रकृतयः सर्वाः श्रेणीमुख्याश्च भूषिताः।
अनुव्रजितुमिच्छन्ति पौरजानपदास्तदा ॥२।२६।१४

राजागण भी अपने मंत्रियों, सभासदों और प्रजाजनों के प्रति संमान प्रकट करते थे। महाराज दशरथ ने अपने सभासदों के नमस्कार का उत्तर हाथ जोड़कर दिया था। अपने सभासदों द्वारा चरण-स्पर्श किये जाने पर रावण ने भी उनका समुचित समादर किया था (**राज्ञा ते प्रतिपूजिताः**)। उसने अपने शूरवीर सेनापतियों को हाथ जोड़कर संबोधित किया था (**अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यम्**)। नृपतिगण ब्राह्मणों और ऋषि-मुनियों का चरण-स्पर्श कर अपनी प्रतिष्ठा में किसी प्रकार की हानि का अनुभव नहीं करते थे। वसिष्ठ-पुत्र सुयज्ञ के आने पर राम ने सीता-सहित हाथ जोड़कर उनका स्वागत किया और प्रदक्षिणा करके उन्हें साक्षात अग्निदेव-जैसा संमान अर्पित किया।[1]

राजकीय अनुचर भी आदरणीय माने जाते थे। राम के अयोध्या लौटने का सुसंवाद लानेवाले हनुमान का भरत ने हाथ जोड़कर अभिवादन किया था। अनुचर राजा के समक्ष **विजयस्व आर्यपुत्र** (महाराज की जय हो) कहकर उपस्थित होते थे। उषःकाल में सूत और वंदीजन राजा की स्तुति करके उसे जगाया करते थे।

राजमहल में प्रत्येक आगत-अभ्यागत को पहले द्वारपाल या प्रतीहारी (चित्र १) के द्वारा भीतर राजा को सूचना भेजनी पड़ती थी और उसकी अनुमति मिलने पर ही उसे प्रवेश मिलता था। राम को भी पिता के अंतःपुर में प्रवेश करने से पहले सूचना भिजवानी पड़ी थी (२।३३।३१)। साधारणतः राजप्रासाद में सुमंत्र-जैसे विश्वासपात्र वयोवृद्ध अनुचर के कहीं भी आने-जाने पर रोक-टोक नहीं थी।[2] (आश्रमों में भी कुलपति के दर्शन पाने से पहले उन्हें सूचित कर देना आवश्यक होता था।)

---

१. तमागतं वेदविदं प्राञ्जलिः सीतया सह। सुयज्ञमभिचक्राम राघवोऽग्निमिवार्चितम् ॥२।३२।४

२. तुलना कीजिए—तं तु पूर्वोदितं वृद्धं द्वारस्था राजसंमताः। न शेकुरभिसंरोद्धुं राज्ञः प्रियचिकीर्षवः ॥२।१४।४४

अंतःपुरीय शिष्टाचार में राजा की पटरानी को श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया जाता था। राम के स्वागतार्थ दशरथ की रानियां कौसल्या को आगे करके श्रेष्ठ रथों में अयोध्या से नंदिग्राम गई थीं (**कौसल्यां प्रमुखे कृत्वा निर्ययुः, ६।१२७।१५**)। दशरथ की शव-यात्रा में उनकी विधवाएं अपने-अपने पद के अनुसार शिविका आदि यानों में सवार होकर संमिलित हुई थीं।[1] इसी प्रकार पुष्पक-विमान में राम-सीता के साथ यात्रा करनेवाली वानर-स्त्रियों का नेतृत्व तारा कर रही थी।

चित्र १—प्रतीहारी (अमरावती, सातवाहन, दूसरी शताब्दी ई०)

तत्कालीन संबोधन-प्रणाली शिष्ट और गौरवपूर्ण होने के साथ-साथ स्नेह और आत्मीयता की भी सूचक थी। वयोवृद्ध एवं पूजनीय ऋषियों, तपस्वियों और ब्राह्मणों को 'भवान्' या 'भगवन्' के नाम से संबोधित किया जाता था। सामान्यतः बोलचाल में 'त्वम्' (तुम) का ही प्रयोग प्रचलित था, पर उसके साथ आदर या स्नेह का ऐसा सुखद भाव मिश्रित रहता था कि 'तुम' कहने में किसी तरह की ओछी भावना लेश-मात्र भी नहीं टपकती थी। यहां तक कि राजा को भी 'त्वम्' कहकर संबोधित किया जा सकता था, किंतु इस संबोधन का व्यवहार अधिकतर ब्राह्मण, मुनि और सारथी (जो प्राचीन भारतीय समाज में संमानित व्यक्ति होता था) ही करते थे। आदेशों की शुष्कता या रूक्षता कम करने के लिए उन्हें

---

१. **शिविकाभिश्च यानैश्च यथार्हं तस्य योषितः। नगरान्निर्ययुस्तत्र...॥ २।७६।१९**

कर्मवाच्य बना दिया जाता था, यथा, **रामः कृतात्मा भवता शीघ्रमानीयतामिति** (२।३।२३), अर्थात आत्मजयी राम आपके द्वारा शीघ्र ही लाये जायं।

समवयस्क मित्र एक-दूसरे को 'तात' कहते या व्यक्तिगत नाम से पुकारते थे। माता को 'भवती', 'अंब', 'देवि' या 'आर्ये' नामों से संबोधित किया जाता था। पिता को 'तात', बड़े भाई को 'आर्य', भौजाई को 'देवि' और छोटे भाई को 'सौम्य' कहते थे। पत्नी के मुख से पति के लिए 'आर्यपुत्र' संबोधन ही पर्याप्त संमानजनक था। उसे 'महाभाग', 'महाबाहु' और 'प्रियदर्शन' भी कहा जाता था। आजकल भारतीय स्त्रियों में पति का नाम लेना जो अनुचित समझा जाता है, उसका कोई संकेत रामायण में नहीं मिलता। सीता ने अपने पति को अनेक स्थलों पर राम कहकर संबोधित किया था (**किमिदं भाषसे राम वाक्यं लघुतया ध्रुवम्**, २।२७।२)।

पति द्वारा पत्नी के प्रति अनेक प्रकार के संबोधन प्रयुक्त होते थे। 'देवि', 'मनस्विनि', 'भद्रे' या 'कल्याणि'-जैसे उदात्त संबोधनों का प्रयोग प्रेमी के अलौकिक अनुराग का द्योतक है। 'बाले', 'भीरु' और 'प्रिये'-जैसे संबोधन पत्नी के प्रति पुरुष के सुकुमार भावों के व्यंजक हैं। कामुकों की शब्दावली में 'चारुस्मिते', 'विलासिनि', 'मदिरेक्षणे' तथा 'ललने'-जैसे संबोधनों का बाहुल्य रहता था। पत्नी को उसके पिता, कुल या जन्म-स्थान से संबद्ध संबोधनों से भी बुलाया जाता था, जैसे जनकनंदिनि, मैथिलि, वैदेहि, जनकात्मजे और जानकि।

उपकारों के लिए आभार-प्रदर्शन किया जाता था। अतिथिगण प्रस्थान करते समय सुस्वादु भोजन तथा सुंदर आवास के लिए सत्कारक को धन्यवाद देते थे। धन्यवाद के लिए यों तो कोई रूढ़ शब्द प्रचलित नहीं था, तथापि अनुरूप शब्दों में कृतज्ञता अवश्य ज्ञापित कर दी जाती थी। भरद्वाज ऋषि के अनुपम आतिथ्य से परितृप्त हो भरत ने, प्रस्थान करते समय, उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट किया था। राम के हाथों जनस्थान के राक्षसों की पराजय होने पर वहां के तपस्वी लोग, अगस्त्य को मुखिया बनाकर, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने आये थे। सुग्रीव ने राम को धन्यवाद देते हुए कहा था—"महाबाहु, मुझे आप ही के प्रसाद से अपनी नष्टप्राय श्री और कीर्ति तथा यह वानर-राज्य पुनः प्राप्त हुए हैं।"[1]

---

१. **प्रनष्टा श्रीश्च कीर्तिश्च कपिराज्यं च शाश्वतम्। त्वत्प्रसादान्महाबाहो पुनः प्राप्तमिदं मया**॥४।३८।२५

अयोध्या की सभा द्वारा राम के युवराज चुन लिये जाने पर महाराज दशरथ ने सभासदों से कहा—"अहो, आज मैं कितना प्रसन्न हूं! मेरा प्रभाव कितना अतुल है कि आप लोग मेरे ज्येष्ठ पुत्र राम को युवराज बनाना चाहते हैं।"[1] लंका-युद्ध की समाप्ति पर राम ने सुग्रीव, विभीषण तथा समस्त वानरों के 'मित्र-कार्य' की भरपूर सराहना की थी। विशेष कर हनुमान के प्रति राम का रोम-रोम कृतज्ञ था। अपना राज्याभिषेक हो जाने पर राम ने उन्हें धन्यवाद देते हुए कहा—

> एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे।
> शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥
> मदंगे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे।
> नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥७।४०।२३-४

"कपिवर, तुमने मुझ पर जो-जो उपकार किये हैं, उनमें से एक-एक के लिए भी मैं अपने प्राण न्योछावर कर सकता हूं। तुम्हारे उपकारों के लिए तो मैं आजन्म ऋणी ही रहूंगा। मैं तो यही चाहता हूं कि तुम्हारे सारे उपकार मेरे शरीर में ही पच जायं, उनका बदला चुकाने का मुझे अवसर ही न मिले, क्योंकि प्रत्युपकार पाने की योग्यता तो पुरुष में आपत्ति के समय ही आती है।"

दैनिक जीवन में सत्य और निष्कपट आचरण को सर्वाधिक महत्व दिया जाता था। लोग बड़ी शिष्टता और विनम्रता से पेश आते थे और अपने अपराधों के लिए क्षमा-याचना करने को सदा तत्पर रहते थे। राम के बाण से घायल वाली ने पहले तो इस निर्दयतापूर्ण कृत्य के लिए उन्हें बहुत बुरा-भला कहा, उन्हें **तृणैः कूपमिवावृतम्**, तिनकों से ढके कुएं के समान ढोंगी तक कह डाला, परंतु जब राम ने शांत, संयत और शिष्ट शब्दों में वाली की दंडनीय दुराचारिता का पर्दाफाश किया और साथ-ही-साथ उसके पुत्र पर अपनी कृपा-दृष्टि बनाये रखने का भी आश्वासन दिया, तब वाली को धर्म के तत्व का निश्चय हो गया, राम के प्रति उसकी दोष-बुद्धि जाती रही और वह हाथ जोड़कर क्षमा मांगने लगा—"प्रभो, बाण के आघात से मूर्च्छित होकर मैंने बिना जाने आपसे जो अनुचित

---

१. अहोऽस्मि परमप्रीतः प्रभावश्चातुलो मम। यन्मे ज्येष्ठं प्रियं पुत्रं यौवराज्यस्थमिच्छतः॥२।३।२

बातें कह दी हैं, उन्हें आप प्रसन्नतापूर्वक क्षमा कर दें" (४।१८।६६)। सुग्रीव के प्रति भी वाली ने अपना वैर-भाव शांत कर लिया; भातृ-स्नेह से प्रेरित हो उसने कहा—"भाई, मोह ने मेरी बुद्धि पर अधिकार जमा लिया था, इसी कारण मैं तुम्हारे प्रति अपराध कर बैठा। इसमें तुम्हें मेरा दोष नहीं देखना चाहिए" (४।२२।३)। सुग्रीव भी भाई के निश्छल वचनों से अभिभूत हो गए और उसकी मृत्यु का निमित्त बनने के कारण विलाप करने लगे। प्रतिज्ञा-पालन में त्रुटि दिखाने पर सुग्रीव को लक्ष्मण ने जो कठोर शब्द कह दिये थे, उनके लिए लक्ष्मण ने भी क्षमा मांगी थी—**मया त्वं परुषाण्युक्तस्तत्क्षमस्व सखे मम** (४।३६।२०)। (उत्तरकांड में) सीता का परित्याग कर देने के लिए राम ने वाल्मीकि से क्षमा-प्रार्थना की थी—**परित्यक्ता मया सीता तद् भवान् क्षन्तुमर्हसि** (७।९७।४)।

दीर्घ प्रवास पर जाने से पहले सुसंस्कृत व्यक्ति गुरुजनों से अपने अपराधों के लिए क्षमा-याचना कर लेते थे। वन जाते समय राम ने अपनी विमाताओं से निवेदन किया था कि साथ-साथ रहने के कारण, अतिपरिचयवश, मुझसे आप लोगों के प्रति कोई जाने-अनजाने अपराध हो गया हो तो उसे आप क्षमा कर दें।[1] तारा ने माथा टेककर मृत्यु-शय्या पर पड़े वाली से अपने अज्ञानजन्य दोषों को क्षमा कर देने की प्रार्थना की थी (४।२०।२५)। रावण का साथ छोड़ने से पहले विभीषण ने, उसे अप्रिय किंतु हितकारी बातें कह देने के लिए, खेद प्रकट किया था (**तन्मर्षयतु यच्चोक्तं गुरुत्वाद्धितमिच्छता**, ६।१६।२४)।

सामाजिक प्रथाएं

सामाजिक रीति-रिवाज 'लौकिक समय', 'लोकवृत्त' या 'लोकाचार' कहलाते थे। राम लौकिक प्रथाओं और परंपराओं के सम्यक ज्ञाता थे (**लौकिके समयाचारे विशारदः**)। इन प्रथाओं को देश के अधिकृत कानूनों की महत्ता प्राप्त थी। लोकवृत्त का उल्लंघन करनेवाला दंड का भागी होता था।[2] वाली के आक्षेपों

---

१. **संवासात्परुषं किंचिदज्ञानादपि यत्कृतम्। तन्मे समुपजानीत सर्वाश्चामन्त्रयामि वः॥**२।३९।३८

२. **न हि लोकविरुद्धस्य लोकवृत्तादुपेयुषः। दण्डादन्यत्र पश्यामि निग्रहं हरियूथप॥**४।१८।२१

का उत्तर देते हुए राम ने उसे उलाहना दिया था कि लौकिक सदाचार का तुम्हें ज्ञान नहीं है, फिर अज्ञानवश तुम मेरी निंदा क्यों कर रहे हो?[१]

समाज द्वारा निंदा अथवा लोक-दृष्टि में च्युत हो जाने का भय ही लौकिक प्रथाओं का पालन कराने में प्रधान रूप से कारणभूत होता था। लोकापवाद की आशंका से राजागण मर्यादा का उल्लंघन करने का दुःसाहस नहीं कर पाते थे। राम को वन भेजने में दशरथ को सबसे बड़ा डर यही था कि 'इससे संसार में मेरी महान अपकीर्ति होगी, लोग मेरी पापाचारी के समान अवज्ञा करेंगे तथा स्त्री की प्रीत्यर्थ पुत्र का अहित करने के कारण अन्य राजा भी मेरी भर्त्सना करेंगे।'[२] सुमंत्र ने कैकेयी को यह चेतावनी दी थी कि यदि तुम राम को वन में भेजने का दुराग्रह करोगी तो देश में तुम्हारी बड़ी बुराई होगी—**परिवादो हि ते देवि महाँल्लोके चरिष्यति** (२।३५।३३)।

रामायण में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं जब लोक-निंदा के भय से अन्यायपूर्ण प्रतीत होनेवाले कार्य भी कर दिये गए हैं। राम सीता को पूर्णतया सच्चरित्र मानते थे, किंतु लोक-दृष्टि से उनकी शुद्धि-परीक्षा आवश्यक थी (६।११८। १३-४)। उत्तरकांड में राम ने लोकापवाद के कारण ही सीता का परित्याग किया था (**लोकापवादो बलावान्येन त्यक्ता हि मैथिली**, ७।९७।४)। लोक-निंदा के भय से वह अपने भाइयों और प्राणों को भी त्यागने के लिए प्रस्तुत थे—

अप्यहं जीवितं जह्यां युष्मान्वा पुरुषर्षभाः।
अपवादभयाद्भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम्॥७।४५।१४-५

पूर्वकाल से चली आ रही परंपराओं और रूढ़ियों का पालन वांछनीय माना जाता था। राजा का यह कर्तव्य था कि वह देश की चिरकालीन परंपराओं और रूढ़ियों का पालन करे तथा निजी भावनाओं और हठों का अनुसरण न करे।[३]

---

१. समयं चापि लौकिकम्। अविज्ञाय कथं बाल्यान्मामिहाद्य विगर्हसे॥४।१८।४

२. अकीर्तिश्चातुला लोके ध्रुवः परिभवश्च मे। सर्वभूतेषु चावज्ञा यथा पापकृतस्तथा॥२।१२।९४; २।१३।१४; २।१२।६४-६; २।१२।७८; २।१२। ८२; २।३५।३३ भी देखिए।

३. नयश्च विनयश्चोभौ निग्रहानुग्रहावपि। राजवृत्तिरसंकीर्णा न नृपाः कामवृत्तयः॥४।१७।३२

किसी कार्य-विशेप के संचालन में पुरायुगीन महापुरुषों द्वारा स्थापित रीति-नीति ही प्रमाणभूत होती थी। वालि-वध का औचित्य सिद्ध करने के लिए राम ने अपने पूर्वज मांधाता का उदाहरण दिया, जिन्होंने वाली के ही समान व्यभिचारी एक तपस्वी का वध किया था।[1] लोक-हितार्थ ताटका-वध के लिए राम को प्रेरित करने में विश्वामित्र ने ऐसी ही दो प्राचीन घटनाओं का उदाहरण-स्वरूप उल्लेख किया था। दशरथ को सत्यप्रतिज्ञ बनाये रखने के लिए कैकेयी ने सगर, शिवि और अलर्क के उदाहरण दिये थे।

आजकल की भांति उन दिनों भी उपयुक्त अवसरों पर अभिनंदन करने की प्रथा प्रचलित थी। जनस्थान में जब अकेले राम ने खर-दूपण को सेना-सहित मृत्यु के घाट उतार दिया, तव देवों, ऋपियों और चारणों ने मिलकर राम को उनके अनुपम साहस एवं शौर्य पर बधाई दी थी (३।३७।३२-३)। राम के राज्याभिपेक के वाद उनके दरवार में अनेक मुनि राक्षसों के वध के उपलक्ष्य में उनका 'प्रतिनंदन' करने आये थे। सफलतापूर्वक सीतान्वेपण करके जब हनुमान लंका से लौटे, तव अंगद ने उनके इस महान आश्चर्यकारी कृत्य पर, उनकी स्वामि-भक्ति, उनके अद्भुत पराक्रम एवं धैर्य पर उन्हें साधुवाद दिया था। रावण का वध होने पर अंगद आदि वानरों ने राम का अभिनंदन किया था—

समेत्य हृष्टा विजयेन राघवं
रणेऽभिरामं विधिनाभ्यपूजयन् ।६।१०८।३३

अद्भुत एवं विस्मयोत्पादक कार्यों के संपादन पर दर्शकगण 'साधु-साधु' कहकर कर्ता में हर्प और उल्लास का संचार करते थे। शरणागत विभीपण के प्रति महात्मा राम की उदारता से विस्मित हो वानरों ने 'साधु-साधु' के नारे लगाये थे—**प्रचुक्रुशुर्महात्मानं साधु साध्विति चाब्रुवन्** (६।१९।२७)। जब सुग्रीव ने अपने मृत भाई के पुत्र अंगद को अपना युवराज बनाया, तव उनके इस अप्रत्याशित सौजन्य से वानर बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने वानरराज का जय-घोप किया। लंका-युद्ध के वर्णन में राक्षसों को मारने पर विजेता वानरों को साधुवाद मिलने के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

---

१. **आर्येण मम मान्धात्रा व्यसनं घोरमीप्सितम्। श्रमणेन कृते पापे यथा पापं त्वया कृतम्॥४।१८।३३**

शुभ संवाद लानेवालों को स्वेच्छा से पारितोषिक दिया जाता था। जब राम के मित्रों ने उनके निकटवर्ती यौवराज्याभिषेक की शुभ सूचना कौसल्या को दी, तब राम-माता ने हर्ष-विभोर हो उन्हें सुवर्ण, गौएं तथा विविध प्रकार के रत्न प्रदान किये थे।[1] मंथरा से उक्त संवाद सुनकर कैकेयी ने भी प्रसन्न होकर उस कुबड़ी को एक सुंदर आभूषण प्रदान किया था। राजागण सेवकों के प्रति अपना हर्ष कुछ-न-कुछ पुरस्कार देकर ही प्रकट करते थे। जब विद्युज्जिह्व ने माया-सीता की रचना करके रावण को दिखाई, तब राक्षसराज ने संतुष्ट होकर उसे पुरस्कार-स्वरूप एक गहना दिया था। सेवकों को दान, मान और मधुर वचनों से प्रसन्न रखा जाता था।[2]

राजाओं को संवाद प्रेषित करते समय उपहार भेजने की प्रथा प्रचलित थी। भरत को बुलाने के लिए जो दूत केकय देश भेजे गए थे, वे राजकुमार भरत और उनके मामा युधाजित के लिए विविध उपहार ले गए थे। विभीषण ने रावण से प्रार्थना की थी कि आप सीता को धन, रत्न, सुंदर आभूषण, दिव्य वस्त्र तथा चित्र-विचित्र मणियों के साथ राम को लौटा दीजिए (६।१३।३४-५)। इस उपहार-प्रथा में सदैव आदान-प्रदान का नियम वरता जाता था।

मित्रता की मर्यादा अग्नि की साक्षिता में स्थापित की जाती थी। राम और सुग्रीव अग्नि को साक्षी बनाकर मित्र बने थे।[3] उत्तरकांड में निवातकवचों के साथ रावण ने अपनी मित्रता अग्नि के समक्ष स्थापित की थी। इसी प्रकार उसने बाली और कार्तवीर्य अर्जुन से भी मित्रता की थी। जिस प्रकार अग्नि के समक्ष संपन्न किया गया वैवाहिक बंधन अविच्छेद्य होता था, वैसे ही अग्नि की साक्षिता में की गई मित्रता अटूट मानी जाती थी।

राजाओं या उनके अतिथियों के स्वागत में विशाल जुलूसों का आयोजन

---

१. सा हिरण्यं च गाश्चैव रत्नानि विविधानि च। व्यादिदेश प्रियाख्येभ्यः कौसल्या प्रमदोत्तमा ॥२।३।४८

२. तुलना कीजिए—सोऽहं दानैश्च मानैश्च सततं पूजितस्त्वया । सान्त्वैश्च विविधैः काले किं न कुर्यां हितं तव ॥६।५७।१५

३. ततोऽग्निं दीप्यमानं तौ चक्रतुश्च प्रदक्षिणम्। सुग्रीवो राघवश्चैव वयस्यत्वमुपागतौ ॥४।५।१६-७

किया जाता था। ऐसे अवसरों पर नागरिक लोग अपने नगर की सुरुचिपूर्ण सजावट करते थे। अंतःपुर और नगर के सभी दरवाजे चंदन और फूलों से सजाये जाते। देव-मंदिरों, चौराहों, गलियों, वृक्षों, सभा-स्थलों, अट्टालिकाओं, दूकानों और महलों पर ध्वजाएं रोपी और पताकाएं फहराई जातीं। राजमार्ग पुष्प-हारों से सुशोभित, धूप-गंध से सुवासित, चंदन-मिश्रित जल और दही से सिंचित तथा दीप-वृक्षों से प्रकाशित किये जाते। देवालयों के दरवाजे चूने आदि से लीप-पोत कर सुंदर बनाये जाते। बाजों की ध्वनि, शूरवीरों के सिंहनाद और वेदों की ध्वनि से नगर गूंजने लगता। सैकड़ों वर्दीधारी लोग, जो संभवतः आजकल के पुलिसवालों-जैसे थे, सड़कों पर आवागमन को निर्बाध बनाये रखते।[1] पुरवासी लोग हाथों में मांगलिक वस्तुएं लेकर राजा के प्रवेश-मार्ग पर खड़े रहते। नगर-निवासी ब्राह्मण दूर तक जाकर राजा की अगवानी करते। राजा के दृष्टि-पथ में आते ही नागरिक अंजलि बांधकर जय-ध्वनि एवं स्वागत-घोष से उसका सत्कार करते। राजा भी हाथ जोड़कर लोगों के नमस्कारों का प्रत्युत्तर देता।[2] गौएं और कुमारी कन्याएं तथा हाथों में सुवर्ण, मोदक और अक्षत लिये लोग जुलूस के आगे-आगे रहते।[3] सूत-मागध, वंदीजन, संगीतज्ञ, रानियां, राजकीय अधिकारी, गणिकाएं, सैनिक और उनकी स्त्रियां तथा सभी नागरिक जुलूस में शामिल होते। जब जुलूस प्रमुख मार्गों से गुजरता, तब राजा पर लाजें बरसाई जातीं, झरोखों में बैठी स्त्रियां पुष्प-वृष्टि करतीं तथा ब्राह्मण कुमारिकाएं राजा की प्रदक्षिणा करके उसे फल-पुष्प समर्पित करतीं। स्तुतिकर्ता शंख और मृदंगों की ध्वनि से राजा के आगमन की घोषणा करते। संबंधी और मन्त्रिगण हाथों में मालाएं और मोदक लेकर साथ-साथ चलते थे।[4]

अपने कथन की सत्यता प्रमाणित करने के लिए शपथ या सौगंध खाने का रिवाज

---

१. राजमार्गमसम्बाधं किरन्तु शतशो नराः।६।१२७।१०

२. ते वर्धयित्वा काकुत्स्थं रामेण प्रतिनन्दिताः।६।१२८।३५

३. अक्षतं जातरूपं च गावः कन्याः सहद्विजाः। नरा मोदकहस्ताश्च रामस्य पुरतो ययुः॥६।१२८।२८

४. देखिए १।११।२४-५; २।५।१७-८; २।६।१०-१८; २।४३।१०; ६।१२७।२, ७-९ इत्यादि।

सर्वत्र प्रचलित था। रामायण में शायद ही कोई पात्र ऐसा हो, जिसने शपथ न खाई हो। लोग प्रायः ऐसी वस्तु की सौगंध लिया करते थे, जो उन्हें अत्यधिक प्रिय थी। दशरथ ने कैकेयी से कहा था कि जिसको दो घड़ी के लिए भी न देखने पर मैं जीवित नहीं रह सकता, उस राम की शपथ खाकर मैं कहता हूं कि तुम जो मांगोगी वह दूंगा।[1] इस शपथ-ग्रहण का साक्षी बनने के लिए कैकेयी ने सब देवताओं का आह्वान किया था। जब कैकेयी ने देखा कि महाराज वर देने में आनाकानी कर रहे हैं, तब उसने उनको भरत और स्वयं अपनी शपथ दिलाई थी—**भरतेनात्मना चाहं शपे ते मनुजाधिप** (२।१२।४९)। राम के प्रति अपना सच्चा अनुराग व्यक्त करते समय लक्ष्मण ने सत्य की, अपने धनुष की, अपने दान और इष्ट कर्म की शपथ खाई थी—**सत्येन धनुषा चैव दत्तेनेष्टेन ते शपे** (२।२१।१६)। इंद्रजित पर प्राणघातक बाण छोड़ने से पहले लक्ष्मण ने राम के नाम, यश और शौर्य का आवाहन किया था। राम ने पिता का वचन पूरा करने के लिए कैकेयी के सामने अपने सत्य और सत्कर्मों की शपथ ली थी (**सत्येन सुकृतेन च ते शपे**, २।३४।४८)। माता-पिता प्रायः अपने पुत्रों की, पतिव्रता नारियां अपने सदाचार की, राजा अपने दान और सुशासन की, ऋषि-मुनि अपनी तपस्या की, तपस्वी अपने अग्निहोत्र की तथा सैनिक अपने शस्त्रों की शपथ खाया करते थे। हनुमान ने पर्वतों की और अपने चखे हुए फल-फूलों की शपथ खाई थी। अग्नि के सामने ली गई शपथ का महत्व दुगुना हो जाता था। अग्नि में प्रवेश करने से पहले सीता ने अपने पातिव्रत्य की शपथ ली थी।

पैरों की शपथ खाने का विचित्र रिवाज भी रामायण-काल में मिलता है। उत्तरकांड में राम अपने भाइयों से कहते हैं कि मैंने सीता का परित्याग कर देने का निश्चय कर लिया है; तुम्हें मेरे पैरों की शपथ है जो इसका किसी प्रकार विरोध किया—**शापिता हि मया यूयं पादाभ्यां जीवितेन च** (७।४५।२०)।

ऐसी शपथों के केवल दो-तीन उदाहरण रामायण में मिलते हैं। जब कोई ज्येष्ठ व्यक्ति अपने से छोटे व्यक्ति को कोई आदेश देता और उसे यह संदेह होता कि आदेश का भली भांति पालन नहीं किया जायगा, तब वह अपने पैरों की शपथ

---

१. **यं मुहूर्तमपश्यंस्तु न जीवेयमहं ध्रुवम्। तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम्॥** २।११।७

दिलाता था। खर-दूषण के आक्रमण की वेला में राम ने लक्ष्मण को आज्ञा दी कि तुम सीता को लेकर तुरंत गुफा में चले जाओ और धनुष-बाण से सज्जित होकर इनकी सावधानी से रक्षा करो, मैं इसमें तुम्हारी कोई आपत्ति नहीं सुनना चाहता, तुम्हें मेरे पैरों की शपथ है—

प्रतिकूलितुमिच्छामि न हि वाक्यमिदं त्वया।
शापितो मम पादाभ्यां गम्यतां वत्स मा चिरम् ॥३।२४।१३

इसी प्रकार वाली सुग्रीव को अपने पैरों की शपथ दिलाकर गुफा में मायावी से लड़ने गया था—**शापयित्वा च मां पद्भ्यां प्रविवेश बिलं ततः** (४।९।१४)। इस तरह पैरों की शपथ दिलाने का यह अर्थ है कि बड़ों के पैर छोटों के लिए आदरणीय होते हैं, अतः उनकी शपथ दिलाये जाने पर छोटों के लिए बड़ों का आदेश न मानना नैतिक दृष्टि से असंभव हो जाता है। ऐसी शपथ केवल छोटों को दिलाई जा सकती थी।

निःशस्त्र प्रजा के लिए विरोध प्रकट करने के तीन सर्वोत्तम अहिंसक शस्त्र असहयोग, हड़ताल और सत्याग्रह हैं। आधुनिक युग में इनका सक्रिय और सफल प्रयोग करने-कराने का श्रेय महात्मा गांधी को है। अयोध्याकांड से पता चलता है कि रामायणकालीन आर्य भी विरोध-प्रदर्शन के इन तीनों प्रकारों से सुपरिचित थे और इनका यथासमय प्रयोग करना नहीं चूकते थे।

यदि किसी राजा के राज्य में प्रजा को कष्ट होता तो वह उसके राज्य को छोड़कर अन्यत्र चले जाने की धमकी दे देती थी। इस धमकी का तुरंत प्रभाव पड़ता था और राजा को प्रजा का कष्ट दूर करने के लिए अविलंब कार्रवाई करनी पड़ती थी। राजा सगर का पुत्र असमंज बड़ा दुष्ट था। वह मार्ग पर खेलते हुए बालकों को पकड़कर सरयू की धारा में फेंक देता था। यही उसका मनोरंजन था। उसकी यह करतूत देख सभी नगर-निवासी क्रोध में भर गए और राजा के पास जाकर बोले—"महाराज, या तो आप अकेले असमंज को लेकर रहिए या असमंज को त्यागकर हमारी रक्षा कीजिए। यह हमारे खेलते हुए छोटे-छोटे बच्चों को पकड़ लेता है और जब वे बहुत घबड़ा जाते हैं, तब उन्हें सरयू में फेंक देता है।" प्रजा की बात सुनकर राजा सगर ने उनका प्रिय करने की इच्छा से अपने दुष्ट पुत्र को पत्नी-सहित रथ पर बैठाया और अपने सेवकों को आज्ञा दी कि इसे जीवन-भर के लिए राज्य से बाहर निकाल दो (२।३६।१९-२४)।

राम के वन जाते समय भी अयोध्या की जनता ने राज्य छोड़कर चले जाने का निश्चय किया था। उस समय सड़कों पर लोग एकत्र होकर इस प्रकार की बातें कर रहे थे—"जैसे गर्मी में जलाशय का पानी सूख जाने पर उसके भीतर रहनेवाले जीव तड़पने लगते हैं, उसी प्रकार राम के राज्याभिषेक में विघ्न पड़ने से प्रजा को क्लेश पहुंच रहा है। आओ, हम लोग भी लक्ष्मण की भांति स्त्री और बंधु-बांधवों-सहित उन्हींके पीछे-पीछे चल दें। जिस मार्ग से राम गए हैं, उसी मार्ग का हम भी आश्रय लें; बाग-बगीचे, घर-द्वार और खेती-बाड़ी छोड़कर धर्मात्मा श्री राम का अनुसरण करें, उनके सुख-दु:ख के साथी बनें। जहां राम जा रहे हैं, वह वन ही नगर हो जाय और हमारे छोड़ देने से यह नगर भी जंगल बन जाय" (२।३३।१३-२२)।

सुमंत्र ने कैकेयी की राज्य-लिप्सा और पति-द्रोह पर उसे फटकारते हुए कहा—"तुम्हारे पुत्र भरत भले ही राजा हो जायं, किंतु हम लोग तो वहीं चले जायंगे, जहां श्री राम जा रहे हैं। सारे बंधु-बांधव और सदाचारी ब्राह्मण भी तुम्हारा त्याग कर देंगे। फिर इस राज्य को पाकर तुम्हें क्या आनंद मिलेगा?" (२। ३५।१०-१३)।

कैकेयी के दुराग्रह से जब राम वन चले गए, तब अयोध्या में विरोध-स्वरूप भीषण हड़ताल हुई। उस दिन सूर्य डूब गया, किंतु गृहस्थों के घर अग्निहोत्र नहीं हुआ। सड़कों पर कोई व्यक्ति प्रसन्न नहीं दिखाई देता था। सबका मुख आंसुओं से भीगा था। सारी अयोध्यापुरी महात्मा राम के विरह में भय और शोक से प्रज्वलित होकर क्षुब्ध हो उठी। नगर के प्रत्येक घर का बाहरी चबूतरा और भीतरी भाग सूना दिखाई पड़ रहा था, क्योंकि उन घरों के सब लोग राम के पीछे चले गए थे। बाजार-हाट बंद हो गए। जो लोग नगर में थे, वे भी अत्यंत क्लांत, दुर्बल और दुखी थे। बड़ी-बड़ी सड़कों पर भी अधिक आदमी आते-जाते नहीं दिखाई देते थे। जो नगरी पूर्णिमा के उमड़ते हुए समुद्र की भांति हर्षोल्लास से परिपूर्ण रहती थी, वह चंद्रहीन आकाश और जलहीन समुद्र की भांति आनंदशून्य दिखाई दे रही थी। उस समय किसीके घर में आग नहीं जली, स्वाध्याय और कथा-वार्ता भी नहीं हुए। सारी नगरी अंधकार से पुती हुई-सी जान पड़ती थी। वाल्मीकि तो यहां तक कहते हैं कि हाथियों ने चारा खाना छोड़ दिया, गौओं ने बछड़ों को दूध नहीं पिलाया, नक्षत्रों की कांति फीकी पड़ गई और ग्रह निस्तेज हो गए। पुरवासिनी

स्त्रियां श्री राम के लिए आतुर होकर रो रही थीं। अयोध्या में गाना-बजाना और नाचना बंद हो गया। सबका उत्साह जाता रहा। व्यापारियों ने अपनी दूकानों में सजावट नहीं की, हानि-लाभ की चिंता भी छोड़ दी (२।४८)।

यह तो विरोध-स्वरूप हुई हड़ताल का वर्णन है। शोक-स्वरूप हड़ताल अयोध्या में दशरथ की मृत्यु पर हुई थी। नक्षत्रहीना रात्रि और पतिविहीना नारी की भांति अयोध्यापुरी भी महामना महाराज दशरथ के बिना श्री-हीन हो गई। जब भरत ननिहाल से अयोध्या लौटे, तब राजधानी की दशा देखकर उनका हृदय व्याकुल हो उठा। पवित्र उद्यानों से सुशोभित वह यशस्विनी नगरी उन्हें जंगल-सी जान पड़ने लगी—"अब यहां पहले की भांति घोड़ों, हाथियों तथा अन्य सवारियों से आते-जाते मनुष्य नहीं दिखाई पड़ते। मतवाले मृगों और पक्षियों का मनोहर शब्द सुनाई नहीं पड़ता। भेरी, मृदंग और वीणा की ध्वनि, जो पहले यहां निरंतर हुआ करती थी, आज बंद है। गृहस्थों के घरों में झाड़ू नहीं लगी है, वे रूखे और श्री-हीन दिखाई दे रहे हैं। देव-मंदिरों की पूर्ववत शोभा नहीं रही, वे मनुष्यों से शून्य हो रहे हैं। देव-प्रतिमाओं की पूजा नहीं होती, यज्ञशालाओं में यज्ञ होने बंद हो गए हैं, फूल और मालाओं के बाजार में आज बिकने की कोई वस्तु नहीं दिखाई देती। यहां पहले के समान बनिये दृष्टिगोचर नहीं होते, चिंता से उनका हृदय उद्विग्न जान पड़ता है और अपना व्यापार नष्ट हो जाने के कारण वे संकुचित हो रहे हैं। नगर के सभी स्त्री-पुरुषों का मुख मलिन है, उनकी आंखों में आंसू भरे हैं और सब-के-सब दीन, चिंतित, दुर्बल एवं उत्कंठित जान पड़ते हैं" (२।७१।१९-४६)।

प्रतीत होता है कि अयोध्या के नागरिकों ने राम के वनवास और दशरथ की मृत्यु के शोक में बड़ी लंबी हड़ताल मनाई थी। राम के वन चले जाने के छठे दिन की आधी रात दशरथ की मृत्यु हो गई थी, इस कारण सातवें दिन अयोध्या में और भी भारी हड़ताल मनाई गई। इसी दिन भरत को बुलाने के लिए शीघ्र-गामी दूत केकय देश भेजे गए। उन्हें वहां पहुंचने में कुछ दिन तो लगे ही होंगे। वहां से भरत आठ दिन में अयोध्या पहुंचे। तब अयोध्या में जो हड़ताल दिखाई दी, उसका उन्होंने उपर्युक्त वर्णन किया। इस प्रकार इस हड़ताल को चलते लग-भग पच्चीस दिन हो गए थे। अयोध्या आने के बाद भरत ने राम को लौटा लाने के लिए दल-बल-सहित चित्रकूट को प्रस्थान किया। चित्रकूट से लौटने पर भी

उन्होंने अयोध्या में हड़ताल की स्थिति पूर्ववत ही पाई। उस समय वहां विलाव और उल्लू विचर रहे थे, घरों के किवाड़ वंद थे, सारे नगर में अंधकार छा रहा था। प्रकाश का कोई प्रवंध न होने के कारण वह पुरी काली रात-सी जान पड़ती थी। समूचा नगर राम के विरह-शोक से पीड़ित था, इसलिए कहीं कोई उत्सव नहीं हो रहा था (२।११४।१९-२४)। इससे ज्ञात होता है कि राम के वन जाने के वाद अयोध्या में महीनों तक हड़ताल रही थी।

भारत में सत्याग्रह-आंदोलन के दिनों में विदेशी कपड़े या शराव की दूकानों पर जो 'धरना' दिया जाता था, उसकी झांकी रामायण-काल में भी मिलती है। इसे उन दिनों 'प्रत्युपवेश' कहते थे, जिसके अनुसार वादी अपनी न्याय्य और धर्मसंगत मांगों को स्वीकार कराने के लिए प्रतिवादी के निवास-स्थान पर कुश के आसन पर वैठ जाता तथा अन्न-जल और सभी प्रकार की सुविधाओं का त्याग कर देता था। उत्तरकांड में, असमय में मरे हुए अपने वालक को लेकर राम के दरवार में उपस्थित होनेवाले ब्राह्मण ने कहा था कि यदि आप मौत के पंजे में पड़े हुए इस वालक को जीवित नहीं करेंगे तो मैं अनाथ की तरह अपनी स्त्री के साथ राज-द्वार पर ही प्राण दे दूंगा—**राजद्वारि मरिष्यामि पत्न्या सार्धमनाथवत्** (७।७३।१२)।

जव भरत के वारंवार अनुनय-विनय करने पर भी राम चित्रकूट से अयोध्या लौट चलने को तैयार नहीं हुए, तव भरत कुश की चटाई विछाकर जमीन पर वैठ गए और वोले—"जव तक आर्य मुझ पर प्रसन्न नहीं होंगे, तव तक मैं यहीं इनके सामने धरना दूंगा, विना खाये-पिये कुटी के आगे पड़ा रहूंगा।" इस पर राम ने कहा—"तात भरत, मैंने तुम्हारी क्या वुराई की है जो मेरे आगे धरना दे रहे हो? व्राह्मण एक करवट से सोकर, धरना देकर मनुष्यों को अन्याय से रोक सकता है, परंतु **न हि मूर्धाभिषिक्तानां विधिः प्रत्युपवेशने**, राजतिलक ग्रहण करनेवाले क्षत्रियों के लिए इस प्रकार धरना देने का विधान नहीं है। अतः इस कठोर व्रत का परित्याग करके उठो और शीघ्र ही अयोध्यापुरी जाओ" (२।१११।१३-७)। इससे ज्ञात होता है कि सत्याग्रह करने का अधिकार व्राह्मणों-जैसे निःशस्त्र वर्गों के लिए था; शस्त्रधारी क्षत्रियों के लिए वह वर्जित था।

रामायण-काल में अनशन (उपवास) या अन्य किसी प्रकार से प्राण-त्याग कर देने का रिवाज वहुत प्रचलित था। इसे 'प्रायोपवेशन' कहा जाता था। अपने ध्येय की पूर्ति न होने पर दुःखातिशय के कारण ऐसा प्रायः किया जाता था। अंगद

और उसके वानर-दल ने सीतान्वेषण में हताश होकर मरणांत उपवास करने का निश्चय किया था; वे सब मृत्यु की इच्छा से आचमन करके समुद्र के किनारे दक्षिणाग्र कुश विछाकर पूर्वाभिमुख हो बैठ गए थे (४।५५।२०-२१)। अनशन करके प्राण त्याग देने का वड़ा माहात्म्य था। दशरथ के वाण से मरे हुए मुनिकुमार को उसके पिता ने यही वरदान दिया कि **देहन्यासकृतां या च तां गतिं गच्छ पुत्रक**, वेटा, तुम्हारी वही गति हो जो उपवास आदि के द्वारा देह-त्याग करनेवालों की होती है (२।६४।४४)। राम के वन जाते समय कौसल्या ने उनसे कहा कि यदि तुम मुझे छोड़कर वन चले जाओगे तो मैं उपवास करके प्राण त्याग दूंगी।[1] वाली की मृत्यु पर तारा ने भी उसके शव के पास वैठकर मरण-पर्यंत उपवास करने का आग्रह किया था।[2] महर्षि शरभंग और शवरी ने अग्नि में प्रवेश कर अपने प्राणों की आहुति दे दी थी।[3] अंधमुनि और उनकी पत्नी ने पुत्र-शोक के मारे चिता में जलकर आत्महत्या कर ली थी।

जव वन में राम मारीच-मृग के पीछे गए हुए थे और सीता के कहने पर लक्ष्मण उनकी सहायतार्थ नहीं गए, तव दुःख के मारे सीता ने कहा—"तुम निश्चय समझो, मैं राम के विना तुम्हारे सामने ही प्राण त्याग दूंगी—मैं या तो गोदावरी में कूद पड़ूंगी, फांसी लगा लूंगी, विष खा लूंगी, आग में जल मरूंगी या पर्वत पर से कूद पड़ूंगी" (२।४५।३६-७)। आत्मघात के ये प्रचलित साधन रहे होंगे। जव राम ने लक्ष्मण का परित्याग कर दिया, तव लक्ष्मण घर न जाकर सरयू के किनारे गए; वहां उन्होंने आचमन किया, हाथ जोड़ संपूर्ण इंद्रियों को कावू में किया और सांस रोककर प्राण त्याग दिये।[4] अपने प्रियजनों के वियोग से दुःखी राम ने भी सरयू में जाकर अपने प्राणों का विसर्जन कर दिया और अयोध्या के अनेक नागरिकों ने उन्हींका अनुसरण किया (७।१०९)।

वाहन पर चढ़ने से पूर्व उसकी पूजा करने की प्रथा प्रचलित थी। सीता के

---

१. अहं प्रायमिहासिष्ये न च शक्ष्यामि जीवितुम् ।२।२१।२७

२. तारा...व्यवस्यत प्रायमनिन्द्यवर्णा उपोपवेष्टुं भुवि यत्र वाली ।४।२१।२६

३. यज्ञाग्नि में अपनी आहुति दे देने की इस क्रिया का विस्तृत विवेचन वारहवें अध्याय में देखिए।

४. निगृह्य सर्वस्रोतांसि निःश्वासं न मुमोच ह ।७।१०६।१५

साथ अयोध्या चलने को उत्सुक वानर-स्त्रियों ने पुष्पक-विमान पर सवार होने से पहले उसकी प्रदक्षिणा की थी।[1] लंका-युद्ध में राम के उपयोग के लिए इंद्र ने जो रथ भेजा था, उसकी राम ने परिक्रमा एवं वंदना की थी।[2] उत्तरकांड में वह पुष्पक-विमान की लाजों, सुगंधित पुष्पों और धूप से पूजा करते हुए चित्रित किये गए हैं (७।४१।१३)।

तीन की संख्या का विशेष महत्व माना जाता था। विशिष्ट धार्मिक क्रियाओं को फलीभूत करने के लिए उनकी तीन बार पुनरावृत्ति की जाती थी। अगस्त्य ने राम से, रावण पर विजय पाने के लिए, 'आदित्यहृदय-स्तोत्र' का तीन बार जप करने के लिए कहा था—**एतत्त्रिगुणितं जप्त्वा युद्धेषु विजयिष्यसि** (६।१०५।२६)। पाणिग्रहण के समय वर-वधू अग्नि की तीन बार परिक्रमा करके अविच्छेद्य वैवाहिक संबंध स्थापित करते थे (**त्रिरग्निं परिक्रम्य**)। जनक ने राम को सीता समर्पित कर देने का अपना निश्चय तीन बार दोहराया था (**त्रिर्वदामि**)। कैकेयी ने दशरथ से कहा था कि **प्रव्राजय सुतं रामं त्रिः खलु त्वां ब्रवीम्यहम्**, आप अपने पुत्र राम को वन में भेज दीजिए, यह मैं आपसे तीन बार कहती हूं (२।१४।९)।

किसी उल्लेखनीय अवसर पर पुष्प-वृष्टि करना हर्षाभिव्यक्ति का एक प्रचलित साधन था। रावण का वध हो जाने पर राम पर पुष्पों की इतनी वर्षा की गई कि उनका सारा रथ ही ढक गया (६।१०८।२८)। अहल्या-उद्धार के समय भी प्रचुर पुष्प-वर्षा की गई थी (**पुष्पवृष्टिर्महत्यासीत्**)।

अरणियों को रगड़कर आग पैदा की जाती थी। अंधेरे में जाते समय उल्काओं या मशालों का प्रयोग किया जाता था। समारोहों पर घर का अलंकरण किया जाता था, जो 'कौतुकमंगल' कहलाता था। समय की सूचना प्रति याम (तीन घंटे) पर दुंदुभि बजाकर दी जाती थी।[3]

युद्ध-भूमि में क्षात्र-धर्म के अनुसार वीर-गति पानेवालों के लिए शोक करना अनुचित था। हनुमान ने तारा से कहा था कि तुम वाली के लिए प्रचुर

---

१. कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्। अध्यारोहन् विमानं तत्...।६।१२३।३६-७
२. इत्युक्तः सम्परिक्रम्य रथं तमभिवाद्य च। आरुरोह तदा रामः...।६।१०२।१७
३. सुवर्णकोणाभिहतः प्राणदद्यामदुन्दुभिः।२।८१।२

आंसू वहाकर लोक-लाज की रक्षा कर चुकीं, किंतु अव इतना शोक और परिताप तुम्हारे पति के लिए परलोक में श्रेयस्कर नहीं होगा (४।२५।२-३)।

वाल्मीकि ने 'तृणांतराभिभापण' नामक एक और सामाजिक प्रथा की सूचना दी है, जिसके अनुसार वक्ता एक तिनका वीच में रखकर श्रोता को संवोधित करता है। लंका में सीता ने तिनके की ओट लेकर रावण से वातचीत की थी। एक पतिव्रता नारी के नाते सीता का रावण-जैसे कामातुर पुरुप से वोलना उचित नहीं था। किंतु जव रावण का दुराग्रह तीव्रतर होने लगा, तव उसे फटकारने के लिए उन्हें वोलने को विवश होना पड़ा और ऐसा करते समय उन्होंने तृण की ओट ले ली थी—**तृणमन्तरतः कृत्वा प्रत्युवाच शुचिस्मिता** (५।२१।३)। इस औपचारिकता का भाव यह है कि वक्ता श्रोता को प्रत्यक्ष संवोधित न करके तिनके को माध्यम वनाकर वोलता है और श्रोता केवल परोक्ष रूप से इस संवाद को सुनता है। इस प्रकार तिनका एक व्यक्ति-सा वन जाता है, जवकि वास्तविक श्रोता तीसरा व्यक्ति हो जाता है। इस औपचारिकता के व्यवहार से सीता का रावण के लिए हीन भाव प्रकट होता है।

लोक-मान्यताएं

दैनिक जीवन में ज्योतिप अथवा मुहूर्त-शास्त्र को वड़ा महत्व प्राप्त था। प्रत्येक नवीन कार्य को शुभ मुहूर्त में आरंभ करने का विशेप ध्यान रखा जाता था। राज्याभिपेक, युद्ध के लिए प्रस्थान, गृह-प्रवेश, यज्ञ-समारंभ, विवाह-संस्कार, यात्रारंभ आदि कार्य सदा मांगलिक, ज्योतिप-शास्त्र-संमत घड़ियों में संपन्न किये जाते। यदि इन कार्यों के निर्वाह में कोई वाधा या दुर्घटना होती तो उसका कारण कोई अशुभ मुहूर्त ही माना जाता। जैसाकि जटायु ने राम को वताया था, रावण अनजाने में सीता का विंद नामक मुहूर्त में अपहरण कर वैठा था, जो खोनेवाले के लिए शुभ और पानेवाले के लिए अशुभ था ; अतएव इस मुहूर्त में सीता को हरकर रावण उन्हें अवश्य खोनेवाला था—उसका सर्वनाश भी निश्चित था।[1]

---

१. **येन याति मुहूर्तेन सीतामादाय रावणः। विप्रनष्टं धनं क्षिप्रं तत्स्वामी प्रतिपद्यते॥ विन्दो नाम मुहूर्तोऽसौ न च काकुत्स्थ सोऽबुधत्। झपवद्बडिशं गृह्य क्षिप्रमेव विनश्यति॥३।६८।१२-३**

चित्र २—पूर्ण कुंभ लिये एक प्रस्तर-प्रहरी (लंका)

प्रस्थान करते समय अपने वाहन को दक्षिणाभिमुख रखना अशुभ होता था। इसीलिए सुमंत्र ने तमसा के दक्षिण तट से वन जाते समय राम का रथ उत्तरा-

भिमुख खड़ा किया था ।[1] शत्रु-भूमि में प्रविष्ट होते समय दाहिना पैर पहले नहीं रखा जाता था। हनुमान ने लंका-दुर्ग में घुसते समय प्रवेश-द्वार छोड़ दिया और चहारदीवारी को लांघकर अपना वायां चरण पहले रखा ।[2] स्वस्त्ययन-क्रिया के अनुष्ठान द्वारा मुहूर्त को मंगलमूलक वनाया जाता था। जल से भरे घड़े (पूर्णकुंभ, चित्र २) और सांड़ के सींग (वृषभ-शृंग) समृद्धि और मंगल के सूचक थे।

भाग्य, दैव या कृतांत के सर्वातिशायी प्रभाव में तत्कालीन समाज की अटल आस्था थी। राम के अनुसार 'प्राणियों में कोई भी ऐसा नहीं, जो दैव के विधान को मेट सके। जिस दैव का ज्ञान कर्मों से अन्यत्र कहीं नहीं होता (अर्थात कर्मों का सुख-दुःखादि-रूप फल प्राप्त होने पर ही हमें अपने भाग्य का ज्ञान होता है), उस दैव के साथ कौन व्यक्ति लड़ाई मोल ले सकता है? सुख-दुःख, भय-क्रोध, लाभ-हानि, उत्पत्ति-विनाश तथा अन्य ऐसे विधान, जिनका कोई कारण समझ में नहीं आता, सव दैव के ही कार्य हैं। वह उग्रतपा ऋषि-मुनियों को भी पथ-भ्रष्ट करके काम-क्रोध के वशीभूत कर देता है। जो वात विना सोचे-विचारे अकस्मात सिर पर आ पड़ती है और प्रयत्नों द्वारा आरंभ किये हुए कार्य को रोककर एक नया ही कांड उपस्थित कर देती है, उसे दैव का ही विधान समझना चाहिए। इस तात्विक वुद्धि से जो मनुष्य अपने चित्त को स्थिर कर लेता है, उसे प्रारव्ध कार्यों में विघ्न आने पर भी कोई दुःख नहीं होता' (२।२२।२१-५)।

दैव या भाग्य समय पाकर फलीभूत होता है, अतः दैव ही काल है। राम की दृष्टि में, उनके राज्याभिषेक को वनवास में परिणत कर देने में कारणभूत, कैकेयी का कुचक्र या पिता की दुर्वलता न होकर भाग्य की ही विषम लीला थी।[3] राम को वन जाने से रोकने में असफल होने पर कौसल्या ने यही सोचकर संतोष किया कि संसार में काल की प्रेरणा के विपरीत चलना असंभव है; कृतांत ही राम को मेरी

---

१. उदङमुखं तं तु रथं चकार प्रयाणमांगल्यनिमित्तदर्शनात् ।२।४६।३४
२. प्रविश्य नगरीं लंकां कपिराजहितङ्करः। चक्रेऽथ पादं सव्यं च शत्रूणां स तु मूर्धनि ।।५।४।३
३. न लक्ष्मणास्मिन्मम राज्यविघ्ने माता यवीयस्यभिशंकितव्या। दैवाभिपन्ना न पिता कथंचिज्जानासि दैवं हि तथाप्रभावम् ।।२।२२।३०

आज्ञा के विपरीत वन भिजवा रहा है (२।२४।५, ३६)। दैव को 'नियति' (चराचर जगत के नियामक) या 'विधाता' की भी संज्ञा दी गई है। वाली के वियोग में दुःखी तारा को राम ने यह कहकर आश्वस्त किया कि संपूर्ण जगत को विधाता ने रचा है और उसीने सबको सुख-दुःख से संयुक्त किया है; तीनों लोकों में कोई भी प्राणी विधाता के विधान का उल्लंघन नहीं कर सकता, क्योंकि सभी उसके अधीन हैं (४।२४।४२-३)। राम का वन में अनुगमन करने को कटिबद्ध अयोध्या के नागरिक जब तमसा के तट पर उनके रथ की लीक न देख सके, तब उन्होंने दैव को ही दोष दिया, जिसने उन्हें राम से इस प्रकार बिछुड़ा दिया था—**किमिदं किं करिष्यामो दैवेनोपहता इति** (२।४७।१४)। रावण की विधवा रानियों के अनुसार 'लंका-युद्ध में वानरों, राक्षसों और स्वयं रावण का वध दैवयोग से ही हुआ था। संसार में फल देने को उन्मुख हुए दैव के विधान को कोई भी धन खर्च करके, इच्छा-मात्र से, पराक्रम के द्वारा अथवा आज्ञा से नहीं पलट सकता' (६।११०।२४-५)।

दैव के प्रति ऐसी महती निष्ठा होते हुए भी रामायण में कहीं पुरुषार्थ या पौरुष का उपहास नहीं किया गया है। भाग्य और पौरुष दोनों पर सफलता निर्भर मानी जाती थी।[1] सच पूछा जाय तो दैव किसी पूर्व पुरुषार्थ का ही परिणाम है। उस युग में लक्ष्मण-जैसे लोगों की भी कमी नहीं थी, जो दैव को दीन एवं सामर्थ्यहीन मानते थे। जो कायर है, जिसमें पुरुषार्थ का नाम नहीं है, वही दैव का भरोसा करता है। सामर्थ्यशाली वीर पुरुष दैव की उपासना नहीं करते। जो अपने पुरुषार्थ से दैव को दबाने की शक्ति रखता है, वह अपने कार्य में दैवी बाधा पड़ने पर खेद नहीं करता, शिथिल होकर नहीं बैठता। दैव में इतनी ताकत नहीं कि वह पुरुषार्थ का विरोध कर सके (२।२३।७, १६-२०)।

'निमित्त' अथवा शकुन में सार्वजनीन विश्वास था। प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य के आरंभ में दृष्टिगोचर होनेवाले शकुनों को प्रचलित मान्यताओं के अनुसार आंका जाता और कार्य की सिद्धि-असिद्धि का पूर्वाभास पाने की चेष्टा की जाती

---

१. **दैवं च मानुषं चैव कर्म ते साध्वनुष्ठितम्** ।१।१८।४७; **कच्चित्पुरुषकारं च दैवं च प्रतिपद्यते** ।५।३६।१९; **इमां प्रतिज्ञां शृणु शक्रशत्रोः सुनिश्चितां पौरुषदैवयुक्ताम्** ।६।७३।६

थी। आंखों या शरीर के अन्य अंगों के फड़कने, स्वप्न देखने, पक्षियों के दिखाई देने या उनकी ध्वनि सुनाई पड़ने से निकट-भावी सुख-दुःख की सूचना प्राप्त की जाती थी।[१] राम का यौवराज्याभिषेक तुरंत संपन्न करने में महाराज दशरथ की व्यग्रता का कारण यह था कि उन्हें ऐसे निमित्त दिखाई पड़ने लगे थे, जो उनकी मृत्यु अथवा किसी घोर अनिष्ट के सूचक थे।[२] मारीच-वध के पश्चात अपनी कुटिया की ओर लौटते हुए राम को मार्ग में कई अशुभ लक्षण दीख पड़े थे, जिनसे उनका मन सीता के विषय में चिंताकुल हो गया था। राम के विवाह के समय एक कौए ने अशुभ ध्वनि करके सीता से उनके भावी वियोग की सूचना दी थी, किंतु राम-सुग्रीव की मैत्री के समय इसी पक्षी ने हर्ष-ध्वनि करके सीता से शीघ्र संयोग हो जाने का भी संकेत दिया था।[३]

रण-भूमि के लिए प्रस्थान करते समय शकुनों का अधिक ध्यान से निरीक्षण किया जाता। युद्ध में गीदड़ों का दिखाई पड़ना सदैव घोर अशुभ-सूचक होता था।[४] खून से सने किसी कबंध को जमीन पर गिरते देख लेने पर पराजय अवश्यंभावी थी (६।५३।२२)। किसी विकराल, विक्षिप्त, केशहीन, कृष्णवर्ण पुरुष का घर-घर में झांकते हुए दिखाई पड़ना युद्ध-रत राष्ट्र के लिए विपत्तिजनक था।[५] राम से लड़ने रण-क्षेत्र में जाते हुए खर, धूम्राक्ष, अंकपन, कुंभकर्ण और रावण को रोंगटे खड़े कर देनेवाले अनेक उत्पात दिखाई दिये थे, किन्तु कृतान्तबल-

---

१. निमित्तं लक्षणं स्वप्नं शकुनिस्वरदर्शनम्। अवश्यं सुखदुःखेषु नराणां परिदृश्यते ॥३।५२।२

२. प्रायेण च निमित्तानामीदृशानां समुद्भवे। राजा हि मृत्युमाप्नोति घोरां चापदमृच्छति ॥२।४।१९

३. तां विनाथ विहंगोऽसौ पक्षी प्रणदितस्तदा। वायसः पादपगतः प्रहृष्टमभिकूजति ॥ एष वै तत्र वैदेह्या विहगः प्रतिहारकः। पक्षी मां तु विशालाक्ष्या समीपमुपनेष्यति ॥४।१।५५-६

४. नित्याशिवकरा युद्धे शिवा घोरनिदर्शनाः।३।२३।१०

५. करालो विकलो मुण्डः पुरुषः कृष्णपिंगलः। कालो गृहाणि सर्वेषां काले कालेऽन्ववेक्षते ॥६।३५।३३-४

चोदितः, काल की शक्ति से प्रेरित और अपने मिथ्या शौर्य से गर्वित होने के कारण वे इन दुःसाहसपूर्ण कृत्यों से विमुख नहीं हुए।

दूसरी ओर, जब राम-लक्ष्मण के साथ विश्वामित्र ताटका का वध करने अयोध्या से रवाना हुए, अथवा जब राम ने अपना लंकाभियान आरंभ किया, अथवा जब लंका में सीता निराश होकर अपना प्राणांत करने को उतारू हो गई, तब शुभ शकुनों ने प्रकट होकर उनका हृदय आशा और उल्लास से परिप्लावित कर दिया था। कभी-कभी एक ही घटना विभिन्न लोगों के लिए विभिन्न प्रकार के शुभाशुभ फल प्रकट करती थी। उदाहरणार्थ, राम और सुग्रीव के बीच मित्रता स्थापित होते समय सीता, वाली और रावण की बाईं आंख फड़कने लगी थी,[1] और यह सीता के लिए शुभ और शेष दोनों के लिए अशुभ था।

रामायण में शुभ शकुनों (**शुभानि निमित्तानि**) की अपेक्षा दुर्निमित्तों अथवा उत्पातों का अधिक विस्तार से उल्लेख हुआ है। ये सभी शकुन (क) प्रकृति-जीवन, (ख) पशु-जगत तथा मनुष्य के (ग) शारीरिक विकार और (घ) मनःस्थिति से संबद्ध होते थे। इन चार वर्गों में विभाजित करके तत्कालीन शकुनों का ब्योरा नीचे दिया जा रहा है।[2]

(क) **प्रकृति-जीवन**—सूर्य का प्रभाहीन या अंधकार से आच्छन्न (**नष्टप्रभः**) हो जाना; सूर्य के समीप, पुच्छल तारे की तरह, बिना सिर की मनुष्याकृति दिखाई पड़नी; सूर्य-मंडल में से जलता हुआ उल्का-पात होना; पर्व न होने पर भी राहु का सूर्य को ग्रस लेना; सूर्य के चारों ओर, अलातचक्र के समान गोलाकार, लाल किनारोंवाला, कृष्णवर्ण घेरा दिखाई देना; सूर्य में एक छोटा, रूखा, संकीर्ण, रक्त-वर्ण मंडल दीख पड़ना और उसके निर्मल बिंब पर नीला धब्बा दृष्टिगोचर होना;

रात में प्रकाश-रहित चंद्रमा का, काली और लाल कोरोंवाले मंडल के साथ, मानो लोक-क्षय के लिए उदित होकर संताप पहुंचाना; चंद्रमा का रात्रि-वेला में मैला दीख पड़ना;

---

१. सीताकपीन्द्रक्षणदाचराणां सुग्रीवरामप्रणयप्रसंगे वामानि नेत्राणि समं स्फुरन्ति।४।५।३१

२. देखिए ३।२३, ६।९५, ६।६५, ६।४१, ६।२३, ६।६, ६।५१, १।७४, ६।१०, ६।३६, ६।३५, ३।५७, ६।५५, ३।५९, ६।४, १।२२, ५।२७ इत्यादि।

नक्षत्रों का यथावत परिभ्रमण न करना; भारी धूल से उनका विनष्ट-सा हो जाना और प्रलय की सूचना देना; रात के विना ही तारों का, जुगनुओं की-सी चमक लिए, टूट पड़ना; दिशाओं का जलती हुई-सी प्रतीत होना;

अंतरिक्ष से जलती हुई उल्काओं का निर्घात-जैसा शब्द करते हुए गिरना; दिशाओं का तिमिराच्छन्न हो जाना; संध्या का लाल चंदन की नाईं भयंकर रूप से प्रकाशित होना;

वनों,पर्वतों और समुद्रोंवाली पृथ्वी का कांपने लगना; पर्वत-शिखरों का थर्राना; पहाड़ों में से ऊंचा शब्द निकलना; वड़े-वड़े वृक्षों का उखड़कर गिर पड़ना अथवा पुष्पों और फलों से रहित हो जाना;

समुद्रों का अपने तटों को लांघ जाना (**वेलां समुद्राश्चोत्क्रान्ताः**);

वायु का वहना वंद हो जाना, या रुखाई या गरज के साथ वहना, या उलटा या वेग से वहना; जोरों की आंधी चलना; विना हवा के मेघतुल्य धूल उड़ना; पृथ्वी को कंपाते हुए, महावृक्षों को गिराते हुए, सूर्य को तिमिराच्छन्न करते हुए, दिशाओं को तिरोहित करते हुए वायु का जोरों से प्रवाहित होना;

आकाश में गदहे के समान धूसर रंगवाले वादलों की भयंकर घटा का छा जाना; मेघों का पिशाचों की तरह क्रूर लगना, तुमुल ध्वनि करना और अमंगल-सूचक रक्त-मिश्रित जल की वूंदें गिराना; वादलों का हड्डियां और गरम-गरम खून वरसाना;

प्रज्वलित करते समय अग्नि का धुएं से भर जाना, उसकी चिनगारियों की चमक का कलुषित हो जाना और मंत्रों द्वारा विधिवत आहुति डालने पर भी भली भांति न वढ़ना;

कमलिनियों में कमलों का सूख जाना (**नलिन्यः शुष्कपंकजाः**)।

(ख) **पशु-जगत**—घोड़ों की चाल धीमी पड़ जाना; पुष्पों से शोभित समतल राजमार्ग पर रथ में जुते घोड़ों का चलते-चलते ठोकर खाकर गिर पड़ना; रथ खींचते हुए घोड़ों का अचानक शक्तिहीन हो जाना; घोड़ों की आंखों से आंसू की वूंदें टपकना; नई घास खिलाने पर भी घोड़ों का दीनतापूर्वक हिनहिनाना (भूखे वने रहना);

हाथियों का मद-रहित हो जाना (**विमदा वरकुञ्जराः**); ऊंटों, गधों और खच्चरों के रोंगटे खड़े हो जाना; उनका आंसू गिराना और चिकित्सा करने पर भी स्वस्थ न होना;

पशुओं में स्वभाव के विपरीत मैथुन की प्रवृत्ति जागृत होना; व्याघ्रों के साथ विलावों, कुत्तों के साथ सुअरों, तथा राक्षसों और मनुष्यों के साथ किन्नरों का मैथुन करते दिखाई पड़ना; गौओं से गधों और नेवलों से चूहों का पैदा होना;

घरों में वलि-कर्म कुत्तों द्वारा खा लिया जाना; दो पैरोंवाली विल्लियों का जोर-जोर से रोना;

गौओं का दूध सूख जाना (**गवां पयांसि स्कन्नानि**) ;

दोनों संध्याओं के समय गीदड़ों का भैरव नाद करना; पीठ पीछे गीदड़ का क्रूर ढंग से चिल्लाना; भयानक गीदड़ियों का मुंह से लपटें निकाल-निकालकर जोर से चिल्लाना; मेघ-गर्जन-सी आवाजवाले भयंकर गीदड़ों का अट्टहास करते हुए दारुण शब्द करना; सियारिनों और क्रूर पशुओं का नगर के द्वार पर झुंड वांधकर इकट्ठा होना और तूफान की गरज की-सी आवाज करना;

रसोई-घर, अग्निशाला और वैदिक घोप के स्थानों में सांपों तथा हवन की सामग्री में चींटियों का पाया जाना;

भयंकर वोली वोलनेवाले पक्षियों का चहचहाना; क्रूर, अशकुन-रूपी मृग-पक्षियों का दीन वनकर, सूर्य की ओर मुंह करके, रोना या भयावह ध्वनि करना; पक्षियों का उलटी प्रदक्षिणा करना या दर्शक की ओर मुंह करके भय-सूचक शब्द वोलना; रक्त और मांस खानेवाले पक्षियों का, मेघ-रहित आकाश में घुसकर, रथ की वाईं ओर चक्कर काटते हुए घूमना; लाल पैरोंवाले, सफेद, मानो काल के भेजे हुए कवूतरों का विनाश की सूचना देते हुए घरों में विचरण करना; घरों में पली हुई मैनाओं का आपस में लड़-भिड़ जाना और चीं-चीं करते हुए गुंथकर नीचे गिर पड़ना; मछलियों और पक्षियों का जहां-का-तहां चुपचाप पड़े रहना;

गीधों और कौओं का रोना-चिल्लाना, नीचे की ओर झुकना या गिर-गिर पड़ना; रथ के ध्वज-दंड पर गीध का दक्षिण की ओर मुंह करके वैठना और चोंच से दोनों ओर खुजलाना; घर की छतों पर गीधों का दीन-दुखी वनकर वैठना; नगर के ऊपर गीधों का इकट्ठे होकर मंडराना; कौओं का झुंडों में कर्कश शब्द करना या महलों पर आ वैठना।

(ग) **शारीरिक विकार**—वाईं आंख या वांह का फड़कना या दिल का धड़कना (पुरुषों के लिए); दाईं आंख का फड़कना (स्त्रियों के लिए); शरीर का कांपना (गात्रोत्कंप); आंखों का गीला हो जाना; आवाज का वैठ जाना;

स्वर का कठोर हो जाना या हकलाना; मुख का विवर्ण हो जाना; मस्तक में पीड़ा होना; सारथी के हाथ से लगाम गिर पड़ना।

(घ) **मनःस्थिति**—हृदय का अस्वस्थ प्रतीत होना; अशांति और अधैर्य की वृद्धि; चित्त का दीन और अप्रसन्न बन जाना; दिशाओं का भान न रहना।

इसी प्रकार शुभ शकुन भी चार भागों में बांटे जा सकते हैं—

(क) **प्रकृति-जीवन**—दिशाओं का प्रसन्न और सूर्य का निर्मल जान पड़ना; शीतल, मंद, सुखकर, सुगंधित पवन का चलना; जल का मधुर और स्वच्छ होना; वनों का फलों से और वृक्षों का ऋतु के पुष्पों से युक्त होना;

(ख) **पशु-जगत**—मृगों का दाहिनी ओर से निकलना; मृग-पक्षियों का पूर्ण, कोमल तथा मधुर स्वरों में बोलना; पक्षी का घोंसले में जाकर सुखदायिनी वाणी बोलना;

(ग) **शारीरिक विकार**—आंख की ऊपरी पलक का फड़फड़ाना; बाईं आंख, बांह या जांघ का फड़कना (स्त्रियों के लिए);

(घ) **मनःस्थिति**—मन का हर्ष से भर जाना।

उपर्युक्त सूची से पहला निष्कर्ष यही निकलता है कि रामायणकालीन आर्य बड़े अंधविश्वासी थे। पर यह ध्यान देने की बात है कि उल्लिखित अधिकांश शकुन प्रकृति-जगत से संबंधित हैं और आर्य उन्हें सहज व्यवहार-बुद्धि से देखते थे—प्रकृति के रमणीय दृश्य उन्हें मांगलिक और सुखकर प्रतीत होते तथा भयंकर दृश्य अशुभ और अरुचिकर।

स्वप्नों के फल में भी लोगों का प्रगाढ़ विश्वास था। उनसे वे भावी घटनाओं की पूर्व सूचना पाते थे। त्रिजटा ने सीता को त्रस्त करनेवाली राक्षसियों से कहा था कि मैंने राक्षसों के नाश और राम के उत्कर्ष की सूचना देनेवाला एक भयंकर और रोमांचकारी स्वप्न देखा है (५।२७)। सीता के अनुसार सपने में बंदर का दिखाई पड़ना अशुभ था।[1] राजगृह में भरत को भोर के समय एक दुःस्वप्न दीख पड़ा था, जिससे उन्हें अपनी या दशरथ, राम या लक्ष्मण की मृत्यु

---

१. स्वप्नो मयायं विकृतोऽद्य दृष्टः शाखामृगः शास्त्रगणैर्निषिद्धः ।५।३२।९

की आशंका हो गई थी।[1] ऋष्यमूक पर्वत में स्वप्नों को फलीभूत करने की अद्‌भुत सामर्थ्य मानी जाती थी। ऐसी मान्यता थी कि जो व्यक्ति उस पर्वत-शिखर पर धन पा जाने का सपना देखता, वह जगने पर उसे अवश्य पाता था।[2]

स्वप्नों में निम्नलिखित दृश्यों का दिखाई पड़ना अशुभ-सूचक था (२।६९। ८-१६)—

पहाड़ की चोटी पर से किसीका बिखरे बालों से गोवर के कुंड में गिर पड़ना;

गोवर-भरे तालाव में तैरना;

हँस-हँसकर तेल पीना और सारे शरीर में तेल लगाकर मस्तक नीचा किये वारंवार तेल ही में डुवकी लगाना;

तिल-भात का भोजन करना, लोहे के पीढ़े पर वैठना, काले वस्त्र पहनना और काले-पीले रंग की औरतों से पीटा जाना;

लाल रंग की माला पहनकर, लाल रंग का चंदन लगाकर और गधे-जुते रथ पर वैठकर वड़ी तेजी से दक्षिण की ओर जाना; लाल वस्त्रधारी स्त्रियों द्वारा उपहास किया जाना और किसी भयंकर-दर्शन राक्षसी द्वारा घसीटा जाना;

घरों के सामने काली, सफेद दांतोंवाली औरतों का हँसना तथा अस्पष्ट और अमांगलिक भाषा में फुसफुसाना;

समुद्र का सूख जाना; चंद्रमा का पृथ्वी पर गिर पड़ना; संसार का अंधकार से आच्छन्न हो जाना; पृथ्वी का फट जाना; पर्वतों का गिर पड़ना और उनमें से धुआं निकलना; राजा के हाथी के दांत का टुकड़े-टुकड़े होकर गिर पड़ना; प्रज्वलित अग्नि का एकाएक वुझ जाना; वृक्षों का सूख जाना, आदि।

उस युग में मानव-जीवन की अवधि अधिक-से-अधिक सौ वर्ष-मात्र मानी जाती थी। उदाहरणार्थ, जव मंथरा ने यह कहकर कैकेयी के कान भरने चाहे कि राम का राज्याभिषेक तुम्हारे और तुम्हारे पुत्र के लिए अहितकर होगा, तव कैकेयी ने (जो तव तक राम से पुत्रवत स्नेह करती थी) कहा कि तुम

---

१. व्युष्टामिव तु तां रात्रिं दृष्ट्वा तं स्वप्नमप्रियम् ।...अहं रामोऽथवा राजा लक्ष्मणो वा मरिष्यति ॥२।६९।१७

२. शयानः पुरुषो राम तस्य शैलस्य मूर्धनि । यः स्वप्ने लभते वित्तं तत्प्रवुद्धोऽधिगच्छति ॥३।७३।३३

व्यर्थ ही क्यों व्यग्र होती हो, राम के सौ वर्ष पूरे हो जाने पर (**वर्षशतात्परम्**) भरत निश्चय ही अपना पैतृक राज्य पा जायंगे (२।८।१६)। कैकेयी ने इस प्रकार राम के जीवन की सीमा केवल सौ वर्ष मानी थी। पंचवटी पहुंचने पर राम ने लक्ष्मण से कहा कि रहने के लिए कोई उपयुक्त स्थान चुन लो। इस पर लक्ष्मण ने हाथ जोड़कर निवेदन किया कि **परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशते स्थिते**, हे काकुत्स्थ, जब तक आप अपने सौ वर्ष पूरे कर रहे हैं, मेरी अपनी कोई इच्छा हो ही कैसे सकती है, मैं तो आपके सर्वथा अधीन हूं (३।१५।७)। यह कहकर लक्ष्मण ने मनुष्य-जीवन की सीमा वैदिक शतायुष ही मान ली थी। जब हनुमान ने लंका पहुंचकर आत्महत्या करने के लिए उद्यत सीता को राम-लक्ष्मण का कुशल-समाचार सुनाया, तब सीता प्रसन्न होकर बोलीं—"यह लौकिक कहावत कि यदि मनुष्य जीवित रहे तो उसे सौ वर्ष बाद भी आनंद प्राप्त होता है, आज मुझे बिलकुल सत्य जान पड़ती है"—

कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मे।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि।।५।३४।६

बाद में, जब हनुमान ने नंदिग्राम जाकर भरत को यह शुभ संवाद सुनाया कि रावण राम के हाथों मारा गया और राम शीघ्र अयोध्या लौट रहे हैं, तब भरत ने भी उपर्युक्त लौकिक गाथा दोहराई थी। प्रस्रवण-पर्वत पर विरही राम ने वर्षा के चार मासों को सौ वर्षों के समान बताया था (**चत्वारो वार्षिका मासा गता वर्षशतोपमाः**, ४।३०।६४)। स्पष्ट है कि **वर्षशतम्** से उनका अभिप्राय मानव-जीवन की अवधि से था।

इन उल्लेखों के आधार पर, रामायण का यह कथन कि राम ने दस हजार वर्ष राज्य किया,[1] अथवा दशरथ की आयु साठ हजार वर्ष की थी,[2] विचित्र-सा जान पड़ता है। क्या इन्हें काव्यात्मक अतिशयोक्तियां-भर मान लिया जाय? अनुसंधानकर्ता इन स्थलों को प्रक्षिप्त मानते हैं, जो राम की अलौकिकता सिद्ध करने के लिए बाद में जोड़ दिये गए। श्री टी० परमशिव ऐयर ने अपनी 'रामायण और लंका' नामक पुस्तक (पृष्ठ १२५) में साठ हजार और दस हजार वर्षों को

---

१. दशवर्षसहस्राणि रामो राज्यमकारयत्।६।१२८।१०४
२. षष्टिर्वर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक।१।२०।१०

क्रमशः साठ और दस का वाचक माना है। महाभाष्यकार पतंजलि ने एक और समाधान प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि ऐसी संख्याओं में वर्ष शब्द दिन के लिए आया है।[1] इस हिसाब से राम ने दस हजार दिन अर्थात लगभग अट्ठाईस वर्ष राज्य किया।

यह मान्यता प्रचलित थी कि प्रजाजनों पर राजा के कुशासन के कारण ही विपत्ति या दुर्भाग्य आ पड़ता है। जहां अराजकता होती है, वहां वर्षा नहीं होती।[2] अंग-राज्य में पड़े अकाल का कारण उसके राजा रोमपाद का ही कोई स्खलन माना गया था।[3]

लोगों का यह विश्वास था कि राजा से दंड पाने पर अपराधों और पापों का अंशतः प्रक्षालन हो जाता है। राम के मंत्रियों ने उनसे कहा था कि लोक में राजा द्वारा दंडित होने पर अपराधी परलोक में क्षमा पा जाते हैं।[4]

लोग इस बात से बहुत डरते थे कि अपराधी के प्रति अन्यायपूर्ण व्यवहार करने से कहीं उसके कुकर्मों का दोष उन्हें ही न लग जाय। रावण के गुप्तचर शुक को जब वानरों ने पकड़ लिया और उसके प्राण लिये जाने लगे, तब उसने चिल्लाकर राम से कहा—"महाराज, यदि मैं मर गया तो जन्म से लेकर अब तक मैंने जितने पाप-कर्म किये हैं, उन सबका भागी आपको बनना पड़ेगा।"[5] यह सुनकर राम ने वानरों को उसे मारने से रोक दिया और उसे मुक्त करवा दिया।

किसी स्त्री या पुरुष को भूत लग जाने की बात में भी लोग बहुत विश्वास करते थे। भूतों के फंदे में पड़े व्यक्ति का व्यवहार असाधारण हो जाता था; गहरे

---

१. वर्षशब्दोऽत्र दिनपरः। 'सहस्रसंवत्सरं सत्रमुपासीत' (महाभाष्य २।७६) इतिवत्।

२. नाराजके जनपदे विद्युन्माली महास्वनः। अभिवर्षति पर्जन्यो महीं दिव्यन वारिणा ॥२।६७।९

३. तस्य व्यतिक्रमाद्राज्ञो भविष्यति सुदारुणा। अनावृष्टिः सुघोरा वै सर्वलोक-भयावहा ॥१।९।८-९

४. शास्ता नृणां नृपो येषां ते न गच्छन्ति दुर्गतिम् ।७।५९(३)।३९

५. यां च रात्रिं मरिष्यामि जाये रात्रिं च यामहम्। एतस्मिन्नन्तरे काले यन्मया ह्यशुभं कृतम्। सर्वं तदुपपद्येथा जह्यां चेद्यदि जीवितम् ॥६।२०।३३

श्वास-प्रश्वास, स्मृति-भ्रंश, शरीर-कंप, शक्ति-क्षय आदि लक्षण उसमें प्रकट होने लगते थे। सुमंत्र ने दशरथ से कहा था कि जब मैं राम को वन में छोड़कर आने लगा, तब जानकी, भूत-बाधा से व्याकुल प्राणी की तरह, विस्मित हो टक-टकी बांधे ठगी-सी खड़ी रह गई थीं।[1] पुत्र के वियोग में कौसल्या भी भूत-ग्रस्त व्यक्ति की भांति जमीन पर पड़ी थीं—उन्हें बार-बार कंपन होता था और उनकी शक्ति क्षीणप्राय हो गई थी।[2] कोप-भवन में पड़ी कैकेयी को देखकर दशरथ को लगा कि कहीं इसे भूत-बाधा तो व्याप्त नहीं हो गई है।[3] ऐसी बाधाओं का मंत्र-तंत्रों से शमन किया जाता था।

लोक-मान्यता के अनुसार पुण्यवान व्यक्ति मरने के बाद आकाश का एक तारा बन जाता था। राम की कथित मृत्यु पर विलाप करते हुए सीता ने कहा था कि अपने महान कर्म (पितृ-आज्ञा-पालन) के पुण्य-रूप आप निश्चय ही आकाश में नक्षत्र बन गए हैं—दिवि नक्षत्रभूतं च महत्कर्म कृतं तथा (६।३२।१९)।

अन्य उल्लेखनीय लोक-विश्वास ये थे—राहु और केतु द्वारा ग्रस्त होने पर सूर्य और चंद्रमा का ग्रहण होता है। अश्वतरी गर्भ प्रसव करने के बाद तुरंत मर जाती है।[4] पृथ्वी एक महान दिग्गज के मस्तक पर टिकी हुई है और जब वह थक जाने पर अपना सिर हिलाता है, तब भूकंप आता है।[5]

---

१. जानकी तु महाराज निःश्वसन्ती तपस्विनी। भूतोपहतचित्तेव विष्ठिता विस्मृता स्थिता॥२।५८॥३४

२. ततो भूतोपसृष्टेव वेपमाना पुनः पुनः। धरण्यां गतसत्त्वेव कौसल्या....॥ २।६०।१

३. भूमौ शेषे किमर्थं त्वं मयि कल्याणचेतसि। भूतोपहतचित्तेव मम चित्त-प्रमाथिनी॥२।१०।२९-३०

४. उदरस्थो द्विजान् हन्ति स्वगर्भोऽश्वतरीमिव।३।४३।४१

५. यदा पर्वणि काकुत्स्थ विश्रमार्थं महागजः। खेदाच्चालयते शीर्षं भूमिकम्पस्तदा भवेत्॥१।४०।१५

वेश-भूषा

ली बुशशर्टों के इस युग में यह जानना रुचिकर होगा कि इस अद्यतन अमराकी पोशाक की आदि-मानव की पोशाक से कुछ समानता है। जहां सभ्यता के अरुणोदय में घास-पत्ते (कुश-चीर) बुनकर उन्हें शरीर ढकने के काम में लिया जाता था, वहां आज घास-पत्तों की अनुकृतियां कपड़े पर छाप दी जाती हैं और फिर उसका पहनावा बनाया जाता है। घास-पत्तों से मानव ने प्रगति करके अजिन (मृग-चर्म), वल्कल (पेड़ों की छाल) और फिर वस्त्र का प्रयोग करना सीखा। वाल्मीकि के समय में ये तीनों प्रकार के वेश प्रचलित थे।

वस्त्रोद्योग की उन्नतावस्था के कारण वस्त्रों की विविधता और बहुलता दोनों प्रचुर परिमाण में दीख पड़ती हैं। संख्यातीत वस्त्रों का अनेक बार उल्लेख हुआ है। अपनी पुत्रियों के विवाहोत्सव पर महाराज जनक ने बहुसंख्यक वस्त्रों का उपहार दिया था (**कोटयम्बराणि ददौ,** १।७४।४)। दान-दक्षिणा में कपड़े बहुतायत से दिये जाते थे। भरत के मामा के पास अपरिमित वस्त्र उपहार-स्वरूप भेजे गए थे। वन-गमन से पूर्व राम और सीता ने परिजनों को सुंदर-सुंदर वस्त्र प्रदान किये थे। भरत की सेना के स्वागत-समारोह में भरद्वाज ने कपड़ों के ढेर-के-ढेर लगा दिये थे (**वाससां चापि संचयान्,** २।९१।७६)। वानरों द्वारा लंका-दहन के समय विविध प्रकार के रेशमी-ऊनी वस्त्र अग्नि की भेंट हो गए थे।[1]

चमकीले रंग-बिरंगे कपड़ों के प्रति भारतीयों का सदा से आकर्षण रहा है। राजकीय पोशाक में चमक-दमक और ठाठ-बाट का समावेश अनिवार्य था। राम

---

१. **क्षौमं च दह्यते तत्र कौशेयं चापि शोभनम्। आविकं विविधं चोर्णम्॥६।७५।९**
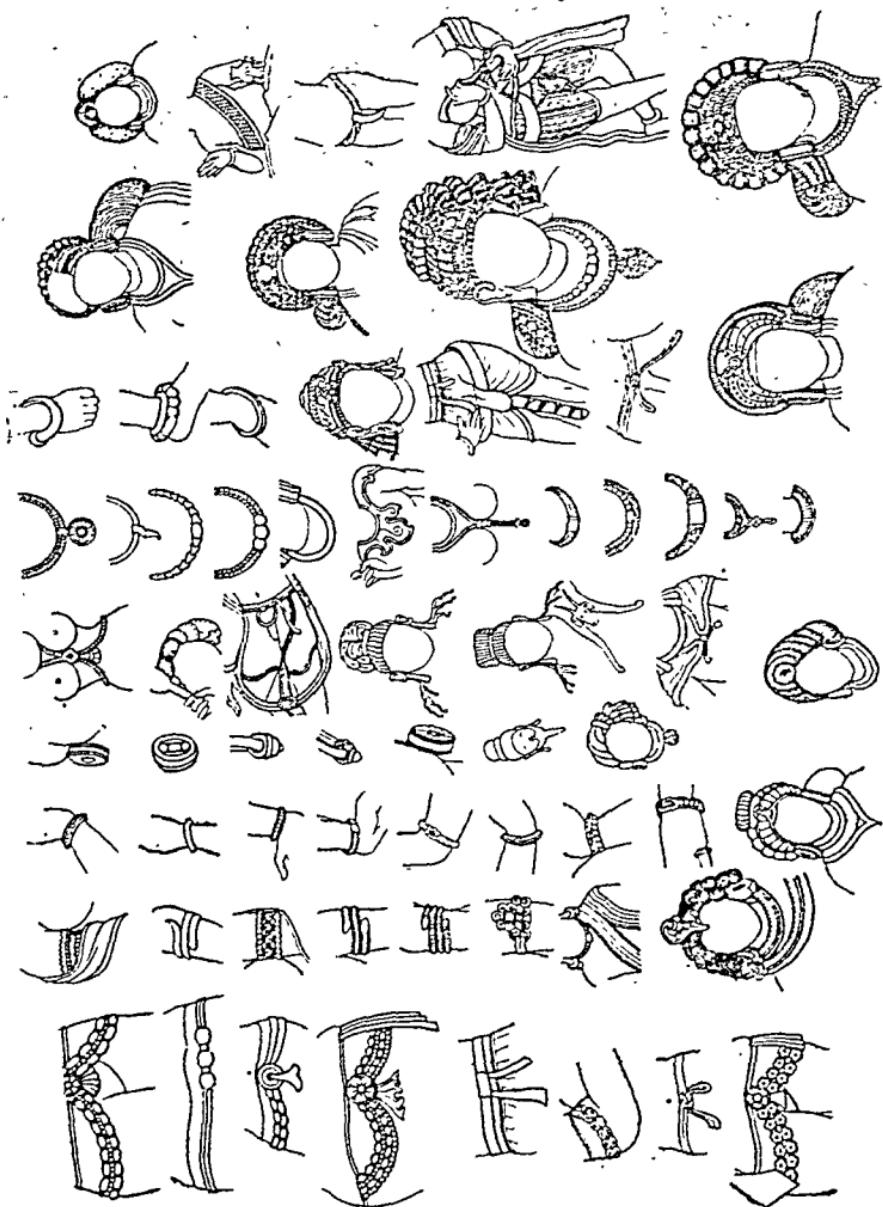
चित्र ३—वेश-भूषा और केश-विन्यास की कुछ शैलियां (देवगढ़, पांचवीं शताब्दी ई०)

सदा बहुमूल्य वस्त्र पहनते थे (**महार्हवस्त्रसम्बद्धः**, २।१२।९८)। दंडकारण्य के ऋषि-मुनियों ने उनके शरीर की सुगठन, कांति, सुकुमारता और सुंदर भूषा को बड़े विस्मयपूर्वक देखा था।[1] उस युग के सैनिक चित्र-विचित्र वेश धारण करने में प्रसन्नता का अनुभव करते थे। सोने और चांदी के कामवाले कपड़े पहनने का काफी रिवाज था। ऐसे स्वर्णतंतु-निर्मित वस्त्र 'महारजतवासस्' कहलाते थे (५।१०।७)। सुनहरे धागोंवाले पीले वस्त्र[2] का तथा रत्नों से जड़े 'रत्नांबर' का भी उल्लेख मिलता है। लंका के सभा-भवन में सुनहरे कालीन बिछे थे (**रुक्मपट्टोत्तरच्छदाम्**), जिन पर सुंदर वस्त्राभूषणों से सजे राक्षस बैठा करते थे (६।११।१४)। रावण का वस्त्र उत्तम, मथे हुए अमृत के झाग के समान श्वेत, धुला हुआ, पुष्पों से युक्त और मणियों से जटित था—

मथितामृतफेनाभमरजोवस्त्रमुत्तमम् ।
सपुष्पमवकर्षन्तं विमुक्तं सक्तमङ्गदे॥५।१८।२४

वाल्मीकि ने सजी-धजी स्त्रियों का बारंबार वर्णन किया है। दशरथ का राजप्रासाद सुंदर वेश-भूषा में सज्जित प्रमदाओं से भरा-पूरा था (**अग्र्यवेशप्रमदाजनाकुलम्**, २।५।२६)। रावण का अंतःपुर नाना प्रकार के वेशों में सुशोभित तथा रंग-बिरंगे वस्त्रों और मालाओं से सजी सहस्रों सुंदरियों से सुशोभित था।[3] रामायण में अप्सराओं को विचित्र वेश में तथा प्रेम-परवश नारियों को लुभानेवाले वस्त्रों में चित्रित किया गया है। अभिसारिका के रूप में रंभा ने मेघों के समान नीला वस्त्र धारण कर रखा था—**नीलं सतोयमेघाभं वस्त्रं समवगुण्ठिता** (७।२६।१८)।

मनुष्य के जीवन में ही नहीं, उसके विचारों और उसकी उक्तियों में भी वस्त्रों का प्रभाव परिलक्षित होता है। लक्ष्मण के समझाने पर राम सीता का विरहजन्य शोक छोड़ देने को वैसे ही तैयार हो गए, जैसे मनुष्य मैले वस्त्र का तुरंत परित्याग कर देता है—**सहसा विप्रमोक्ष्यामि वासः शुक्लेतरं यथा** (६।५।

---

१. रूपसंहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम् । ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः ॥३।१।१३

२. पीतं कनकपट्टाभं स्रस्तं तद्वसनं शुभम् ।५।१५।४५

३. नानावर्णाम्बरस्रजम् । सहस्रं वरनारीणां नानावेशविभूषितम् ॥५।९।३३

२१)। धीमी हवाओं से चलायमान नवकाश-पुष्पों से सुशोभित नदी-तट को देखकर राम को धुले हुए स्वच्छ क्षौम-वस्त्रों का सहज ही स्मरण हो आता है—

नवैर्नदीनां कुसुमप्रहासैर्व्याधूयमानैर्मृदुमारुतेन।
धौतामलक्षौमपटप्रकाशैः कूलानि काशैरुपशोभितानि॥४।३०।५१

एक अन्य स्थल पर वाल्मीकि चांदनी रात की तुलना धवल वस्त्र में लिपटी नारी से करते हैं—

ज्योत्स्नांशुकप्रावरणा विभाति
नारीव शुक्लांशुकसंवृताङ्गी।४।३०।४६

कौशेय (रेशमी) वस्त्रों का बहुत प्रचलन था। राजकुमारियों को वे विशेष प्रिय थे। सीता को अनेक बार 'कौशेयवासिनी' कहकर संबोधित किया गया है। रावण की अशोकवाटिका में चेटियों से घिरी हुई सीता 'मलिना' और 'निरानंदा' होने पर भी 'कौशेयवस्त्रा' थीं। ब्राह्मण लोग प्रायः कौशेय पहनते थे। वन-गमन के समय राम ने कौसल्या के वैदिक आचार्य को कौशेय वस्त्रों का दान किया था (२।३२।१५-६)।

क्षौम वस्त्र अधिक कीमती, मुलायम और बारीक होते थे तथा विशेष कर पूजन-अर्चन में प्रयुक्त होते थे। क्षौम कदाचित क्षुमा या अलसी के पौधे के रेशों से तैयार होता था।[१] राम के यौवराज्याभिषेक के दिन कौसल्या 'क्षौमवासिनी' होकर देवालय में पूजा कर रही थीं (२।४।३०)। उसी दिन राम ने भी पूजा के हेतु स्वच्छ क्षौम वस्त्र धारण किया था (विमलक्षौमसंवीतः)। उत्सवों में क्षौम पहना जाता था। नववधू सीता का स्वागत करने के लिए दशरथ की रानियां क्षौम वस्त्रों से सजी थीं।[२] रावण के शव को क्षौम पहनाकर अंत्येष्टि-क्रिया के लिए ले जाया गया था।

अजिन (मृग-चर्म), वल्कल (पेड़ों की छाल) और कुश-चीर (घास से बुने हुए कपड़े) 'मुनि-वस्त्र' कहलाते थे। नरम मृग-चर्म को 'तूलाजिन' (रुई-जैसी मृगछाला) कहते थे (२।३०।१२)।

---

१. वासुदेवशरण अग्रवाल—'हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन', पृष्ठ ७६।
२. ततः सीतां जगृहुर्नृपयोषितः क्षौमवाससः।१।७४।११-२

कढ़े हुए या किनारीदार वस्त्र तैयार करने की कला बड़ी उन्नत थी। रावण सुनहरे सूत के कपड़े पहना करता था।[1] कढ़ा हुआ बहुमूल्य क्षौम भी वह धारण करता था (**महार्हक्षौमसंवीतः,** ५।४९।४)। सीता का उत्तरीय सुनहरे धागों से पिरोया गया एक पीला कपड़ा था (**पीतं कनकपट्टाभम्**)। जब रावण उन्हें लेकर आकाश-मार्ग से जा रहा था, तब उनका सुनहरा रेशमी उत्तरीय हवा में फहराता हुआ दिखलाई पड़ता था—**तस्याः कौशेयमद्धूतमाकाशे कनकप्रभम्** (४।५३।१७)।

आविक और कंबल ऊनी कपड़े थे। कपास (कार्पासिक) और सन (शण) के रेशों से भी कपड़े तैयार किये जाते थे, पर इनका अपेक्षाकृत कम उल्लेख हुआ है। सन से रस्सियां बनती थीं। लंका में हनुमान को सन की रस्सियों से बांधा गया था (**बबन्धुः शणवल्कैश्च,** ५।४८।४६)। उनकी पूंछ में कपास के पुराने चीथड़े लपेटे गए थे—**वेष्टन्ते तस्य लांगूलं जीर्णैः कार्पासिकैः पटैः** (५।५३।६)।

महीन कपड़े 'सूक्ष्म वस्त्र', कीमती कपड़े 'महार्ह वस्त्र' या 'वरार्ह वस्त्र' तथा नये कपड़े 'आहत वस्त्र' कहलाते थे। 'संवीत वस्त्र' की संज्ञा कढ़े और किनारीदार कपड़ों को दी जाती थी। पोशाक के कपड़ों के लिए वाल्मीकि ने 'वसन', 'वासस्', 'अंशुक' और 'अंबर' शब्दों का प्रयोग किया है। अंशुक को कुछ विद्वान रेशमी मलमल समझते हैं। दरिद्रों का तन ढकनेवाले मोटे कपड़े के लिए रामायण में 'शाटी' शब्द आया है। 'प्रावरणा' एक प्रकार का ऊपरी वस्त्र था। 'पट्टवस्त्र' बुना या रंगा कपड़ा था। पट्ट को कीटज वस्त्र भी माना जाता है। 'परिस्तोम' या 'उत्तरच्छद' बिछाने के कपड़े को कहते थे और 'शयनप्रस्तर' पलंग पर बिछाने की चादर को। 'कंचुक' बांहदार घुटनों तक लटकता हुआ कोट-जैसा पहनावा था। 'उष्णीष' पगड़ी का बोधक था (चित्र ४)।[2]

चित्र ४—उष्णीष और कर्णवेष्ट (अमरावती, दूसरी शताब्दी ई०)

---

१. **महारजतवाससम्—स्वर्णतन्तुनिर्मितवासोधारिणम्** ।५।१०।७

२. इस पैराग्राफ में आये विविध वस्त्रों के उल्लेखों के लिए क्रमशः देखिए ३।३७।७; ३।३२।१७; २।३९।१५; २।९१।६४; ५।४९।४; ५।१५।४७;

ब्रह्मचारी या विद्यार्थी केवल एक वस्त्र पहनते थे, जो कमर में लपेटा या बांधा जाता होगा। शरीर के ऊपरी हिस्से में वे कुछ नहीं पहनते थे। मारीच से पहली मुठभेड़ के समय कुमार राम एकवस्त्रधरः थे (३।३८।१४)। गृहस्थ दो कपड़े पहनते थे—उत्तरीय (चित्र ५) और अधोवस्त्र। उत्तरीय पहनने का ढंग बहुत-कुछ आज के दुपट्टे-जैसा था। युद्ध या श्रम-साध्य काम के समय उत्तरीय को उतारकर कमर में बांध लेते थे।[1] अधोवस्त्र आजकल की धोती की तरह पहना जाता था, पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उसके एक भाग को आज की तरह टांगों के बीच से पीछे की ओर ले जाकर खोंस लिया जाता था।

चित्र ५—पुरुषों का उत्तरीय (अमरावती)

प्रतीत होता है कि रामायण-काल में विभिन्न वर्णों की, विशेष कर ब्राह्मणों की, वेश-भूषा में कुछ अंतर रहा करता था, जिसके आधार पर व्यक्ति-विशेष की जाति का अनुमान लगाया जा सकता था। उदाहरणार्थ, इल्वल राक्षस ब्राह्मणों का-सा 'रूप' (वेश) धारण करके और ब्राह्मणों की-सी सुसंस्कृत भाषा बोलकर सहज ही ब्राह्मण बन जाया करता था—धारयन् ब्राह्मणं रूपमिल्वलः संस्कृतं वदन् (३।११।५६)।

स्त्रियां प्रायः कौशेय और क्षौम पहनती थीं। पुरुषों की तरह वे भी दो ही वस्त्र पहनती थीं, पर उनके पहनने की शैली में अंतर था। जब रावण सीता को लिये जा रहा था, तब सीता ने अपना सुनहरा उत्तरीय ऋष्यमूक पर्वत पर बैठे हुए वानरों के बीच फेंक दिया था। क्योंकि सीता ने अपना उत्तरीय शरीर पर से बड़ी शीघ्रता से उतार लिया और उसमें अपने आभूषण बांधकर नीचे पहाड़ पर

२।३९।१५; ४।३०।४६; ३।४९।९; २।३२।३२; ४।३०।४६; ६।११।१५; ४।२३।१४; २।१६।८; ४।१।८९; ६।११४।२१; ६।११४।२१

१. तुलना कीजिए—स शाटीं परितः कट्यां सम्भ्रान्तः परिवेष्ट्य ताम्। आविद्धय दण्डं चिक्षेप सर्वप्राणेन वेगतः॥२।३२।३७

फेंक दिये (३।५४।२-३)—और इस सारी क्रिया का रावण को पता भी नहीं चला—इससे प्रतीत होता है कि स्त्रियों का उत्तरीय एक प्रकार की चादर होता था और आवश्यकतानुसार शीघ्रता से उतारा जा सकता था। वह शरीर के ऊपरी भाग—कंधों और वक्षःस्थल—को ढीलेढाले तौर पर ढके रहता था।

स्त्रियों का अधोवस्त्र कटि-प्रदेश में गांठ लगाकर बांधा जाता था। ऊपर से उसे 'रशना' या करधनी से कस दिया जाता था। रावण की कैद में सीता ने केवल एक पीला वस्त्र पहन रखा था—**पीतेनैकेन संवीतां क्लिष्टेनोत्तमवाससा** (५।१५।२१)। इससे जान पड़ता है कि स्त्रियों का अधोवस्त्र इतना लंबा होता था कि आवश्यकता पड़ने पर उससे उत्तरीय का भी काम लिया जा सकता था। इस रूप में उपयोग किये जाने पर अधोवस्त्र आधुनिक साड़ी के समान बरता जा सकता था—एक छोर कमर में बांधकर उसे कंधों या सिर तक ले जाया जाता, जबकि दूसरा छोर खाली रहता और फहराता रहता था। रावण के अंतःपुर में हनुमान ने देखा कि उसकी स्त्रियों की साड़ियों के पल्ले उनकी सांसों की हवा में वैसे ही लहरा रहे थे जैसे पवन के झोंकों से झंडे फहराते हों।[1]

जब रंभा नीला वस्त्र पहने अभिसार के लिए जा रही थी, तब उसके शरीर पर लिपा दिव्य चंदन दिखाई पड़ रहा था (**दिव्यचन्दनलिप्ताङ्गी**)। इससे उसके वस्त्र का अत्यधिक महीन होना सूचित होता है। सांसों से भी साड़ी के पल्ले का लहरा जाना यह प्रकट करता है कि संपन्न स्त्रियां कितना बारीक और मुलायम कपड़ा व्यवहार में लाती थीं।

आज की तरह उन दिनों भी स्त्रियां रुपया-पैसा या गहना अपनी साड़ी के पल्ले में बांध लेती थीं। सीता ने अपनी चूड़ामणि साड़ी के आंचल में बांध रखी थी। हनुमान के आने पर उन्होंने गांठ खोलकर मणि निकाली और प्रेम-चिह्न के रूप में उसे राम के पास भेजा था (**मुक्त्वा वस्त्राद्ददौ मह्यं मणिमेतं महाबल**, ५।६७।३१)। सीता ने साड़ी के छोर से अपना आंसू-भरा मुख भी पोंछा था (**वस्त्रान्तेन पिधायेन्दुनिभं सीता**, ३।५५।३३)। इससे पता चलता है कि स्त्रियों का अधोवस्त्र लहंगे के समान सिला नहीं होता था; वह एक ऐसा वस्त्र था, जो

---

१. **अंशुकान्ताश्च कासांचिन्मुखमारुतकम्पिताः। उपर्युपरि वक्त्राणां व्याधूयन्ते पुनः पुनः॥ ताः पताका इवोद्धूताः।५।९।५३-४**

कमर में लपेट-भर लिया जाता था और जिसका छोर खुला रहता था। इस छोर का उपयोग रूमाल या अतिरिक्त वस्त्र के रूप में किया जा सकता था।

साड़ी पहनने की कच्छ-शैली का प्रयोग उन दिनों संभवतः नहीं होता था। इस शैली में साड़ी को पल्ले की ओर से समेटकर आगे खोंस देते हैं और लटकते हिस्से को टांगों के बीच से पीछे ले जाकर लांग लगा लेते हैं। इससे साड़ी चुस्त और मजबूत बंधी रहती है। रामायण में ऐसी घटनाओं का उल्लेख हुआ है, जिनमें स्त्रियों की साड़ी हवा में उड़ गई है और परिणामस्वरूप उनके अंग-प्रत्यंग का सौंदर्य उद्घाटित हो गया है। उदाहरणार्थ, जब एक बार हनुमान की माता अंजना पर्वत पर भ्रमण कर रही थी, तब पवन ने उसकी साड़ी उड़ा दी। इससे सुंदरी अंजना का लावण्य निरावरण हो गया और उसे देखकर पवन मोहित हो उठा (४।६६)। यदि अंजना की साड़ी आजकल की महाराष्ट्रीय या कर्नाटकी स्त्रियों की भांति कच्छ-शैली में बंधी होती तो ऐसा न हुआ होता।

स्त्रियों के वक्षःस्थल को बांधने के लिए कंचुकी, चोली या अन्य किसी वस्त्र का उल्लेख नहीं पाया जाता। प्राचीन भारतीय शिल्प-कला के उपलब्ध नमूनों में स्त्रियों के स्तन प्रायः निर्वस्त्र या निरावरण ही दिखाई पड़ते हैं। रामायण में प्रेमियों के मुख से अपनी प्रेमिकाओं के सुघड़ उरोजों की अनेक बार प्रशंसा कराई गई है,[1] जिससे प्रतीत होता है कि स्त्रियों के कुच दर्शक की दृष्टि से सर्वथा ओझल नहीं रहते थे। साधारणतया स्तन उत्तरीय से ढके रहते होंगे। इसीलिए स्त्रियों के उत्तरीय को 'स्तनोत्तरीय' या 'स्तनांशुक' कहा जाता था (चित्र ६)। किंतु उत्तरीय भी बंधा न रहने के कारण जब कभी हवा के झोंके से

चित्र ६—स्तनोत्तरीय (पाल, ग्यारहवीं शताब्दी ई०)

---

१. ३।४६।१९-२०; ७।२६।२३
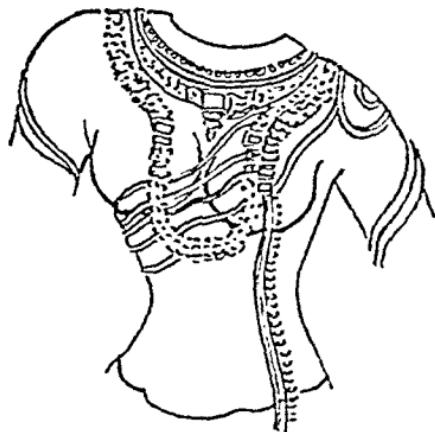
उड़ जाता, तब कुचों का सौंदर्य सहज ही दृष्टिगोचर हो जाता था। जब सीता ने अशोकवाटिका में रावण को आते हुए देखा, तब उन्होंने जांघों से पेट और बांहों से स्तन ढक लिये थे—**ऊरुभ्यामुदरं छाद्य बाहुभ्यां च पयोधरौ** (५।१९।३)। इससे भी यह स्पष्ट है कि स्तन किसी अन्य वस्त्र से नहीं बांधे जाते थे तथा उत्तरीय या अधोवस्त्र से ढके रहने पर भी उन्हें पराये पुरुष की दृष्टि से सर्वथा बचाये रखना संभव नहीं था।

रंगे हुए वस्त्रों का काफी व्यवहार था। जब रावण सीता का अपहरण करने आया, तब सीता एक पीली रेशमी साड़ी पहने हुई थीं (**पीतकौशेयवासिनी**)। लंका में सीता का वस्त्र निरंतर प्रयोग के कारण जीर्ण-शीर्ण हो गया था, फिर भी उसका वर्ण और उसकी शोभा यथावत थी।[1] भरत को अपने मामा के यहां से चित्र-विचित्र कंबल उपहार में मिले थे (२।७०।१९)। तारा ने लाल रंग के पलंगपोशों का उल्लेख किया है (**कृमिरागपरिस्तोम**, ४।२३।१४)। राक्षस लोग लाल कपड़ों के शौकीन थे। उन्हें बार-बार **रक्तवाससः** और **रक्ताम्बरधराः** कहा गया है। केसरी की पत्नी की साड़ी पीले रंग की थी, जिसमें लाल किनारी लगी थी (**पीतं रक्तदशम्**)। संन्यासी लोग गेरुए (काषाय) वस्त्र धारण करते थे। पंचवटी में सीता के संमुख भिक्षु-वेश में आते समय रावण ने एक स्वच्छ काषाय ओढ़ रखा था (**श्लक्ष्णकाषायसंवीतः**)। राम के अंतःपुर की रखवाली करनेवाले वृद्ध द्वारपाल भी गेरुए रंग की वरदियां पहने हुए थे (२।१६।३)। सामान्यतः श्वेत वर्ण पूजा-तपस्या में, रक्त वर्ण उत्सवों में तथा कृष्ण वर्ण शोक के अवसरों पर व्यवहृत होता था।

सिले वस्त्रों का कम प्रचलन होने पर भी सीने की कला अज्ञात नहीं थी। रामायण में सूई के लिए 'सूची' (३।४७।४०) और दरजी के लिए 'तुन्नवाय' (२।८३।१५) शब्द का प्रयोग हुआ है। भृत्यों द्वारा पहने जानेवाले कंचुक (चित्र ७) स्पष्टतः सिले हुए वस्त्र थे। सुनहरे धागे से पिरोई गई मणियों की माला[2] तथा अनेक शलाकावाले छत्रों का उल्लेख सिलाई के प्रचार का सूचक है।

---

१. **इदं चिरं गृहीतत्वाद्वसनं क्लिष्टवत्तरम्। तथाप्यनूनं तद्वर्णं तथा श्रीमद्यथेतरम्॥** ५।१५।४७

२. **सहेमसूत्रमणिभिः—स्वर्णसूत्रस्यूतैर्मुक्तादिरत्नमालाभिः** ।२।३२।५

राम के वनवास की बात जानने से पहले सीता ने उनसे पूछा था—"आपके सुंदर मुखमंडल पर इस समय उस छत्र से छाया क्यों नहीं की जा रही है, जिसमें सौ शलाकाएं हैं तथा जो जल के फेन के समान शुभ्र है ?"—

चित्र ७—कंचुक पहने हुए सेवक (अमरावती)

न ते शतशलाकेन जलफेननिभेन च।
आवृतं वदनं वल्गु छत्रेणाभिविराजते ॥२।२६।१०

सिर पर मुकुट धारण किया जाता था। अयोध्या में कोई व्यक्ति मुकुटहीन नहीं था (नामुकुटी विद्यते, १।६।१०)। राजागण मणियों से अलंकृत स्वर्ण-मुकुट पहनते थे। राज्याभिषेक के समय राम ने रत्नजटित किरीट (चित्र ८) धारण किया था। पगड़ी (उष्णीष) पहनने का रिवाज भृत्य-वर्ग तक सीमित था (चित्र ४, पृष्ठ ५०)। रावण के चामरधारी, खर के सैनिक तथा विभीषण के अनुचर पगड़ियों में सजे थे।[1] इंद्रजित के यज्ञ में उपस्थित राक्षसी परिचारिकाएं लाल पगड़ियां पहने हुई थीं (रक्तोष्णीषधराः स्त्रियः, ६।८०।६)।

चित्र ८—किरीट

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सभी स्त्रियां उत्तरीय से सिर

---

१. ३।६४।५०; ३।२५।४३; ६।११४।२१

ढका करती थीं। कम-से-कम राक्षस स्त्रियां, जिनमें परदे की प्रथा प्रचलित थी, अपने उत्तरीय का व्यवहार सिर ढकने और घूंघट निकालने में करती होंगी। पंचवटी में सीता का सिर खुला ही रहा होगा; तभी तो हम रावण को सीता के मनोहर केशपाशों (सुकेश) की प्रशंसा करते हुए पाते हैं। अभिसारिका रंभा ने भी संकेत-स्थल को जाते समय अपना सिर खुला रखा होगा, क्योंकि उसके वालों को पुष्पों से अलंकृत वताया गया है (**मन्दारकृतमूर्धजा**)।

पैरों में लकड़ी की पादुका अथवा चमड़े के उपानह धारण किये जाते थे। राजकुमार स्वर्ण-भूषित पादुकाएं पहनते थे (**पादुके हेमभूषिते**)। राम की पादुकाओं को ही उनका प्रतिनिधि मानकर भरत ने अयोध्या का राजकाज चलाया था। इससे ध्वनित होता है कि पादत्राण को मानव-जीवन में कितना महत्व प्राप्त हो चुका था।

शरीर-सज्जा में सुंदर और श्रेष्ठ वस्त्रों के साथ-साथ आभूषणों को भी प्रधानता दी जाती थी। उस युग के नर और नारी दोनों आभूषण-प्रिय थे। अयोध्या में आभूषणों का व्यवहार सर्व-व्यापक था। वाल्मीकि ने राम के संमुख प्रकट होनेवाले सागर का वर्णन कर तत्कालीन अलंकृत पुरुष का स्पष्ट चित्र उपस्थित कर दिया है (६।२२।१८-२१)। कुमार-काल में राम एक सोने की माला पहना करते थे (**कनकमालया शोभयन्**, ३।३८।१४)। राम-लक्ष्मण से वन में पहली वार भेंट होने पर हनुमान ने विस्मयपूर्वक उनसे पूछा था कि आप लोग तो सभी प्रकार के आभूषणों से भूषित होने योग्य हैं, फिर आप निराभरण कैसे हैं?[1] वानरों और राक्षसों में भी आभूषणों से वड़ा मोह था। वाली के पास इंद्र की दी हुई, रत्नों से जड़ी, सोने की एक उत्तम माला थी।[2] रावण श्रेष्ठ वस्त्रों के साथ वहुमूल्य चमकते गहने पहना करता था। युद्ध-भूमि में प्रयाण करते समय सैनिक अपने को आभूषणों से सजाना नहीं भूलते थे। वानरी सेना का मुकावला करते समय कुंभकर्ण सभी प्रकार के वहुमूल्य आभूषणों से मंडित था। सैनिकों के शस्त्रास्त्रों का भी अलंकरण प्रचलित था। रावण का धनुष

---

१. सर्वभूषणभूषार्हाः किमर्थं न विभूषिताः ।४।३।१५

२. शक्रदत्ता वरा माला काञ्चनी रत्नभूषिता ।४।१७।५

यदि 'मुक्तामणिविभूषित' था तो राम की तलवार 'हेम-परिष्कृत' (सोने से मढ़ी) थी।

लोग अपने पशुओं को भी गहनों से सजाया करते थे। राजकीय वैभव के प्रतीक हाथियों को ढकने के लिए सुनहरी चादर या जीन (कांचनी कक्ष्या) काम में लाई जाती थी, और सुनहरी जंजीर (कांचनी कांची) से उन्हें कमर में बांधा जाता था (३।५२।२३, ३०)। हेमवर्णा मैथिली को लेकर जाता हुआ काला-कलूटा रावण वैसे ही सुशोभित हो रहा था जैसे किसी काले हाथी को सोने का कमरबंद पहना दिया गया हो।[1] प्रशस्त दांतोंवाले और घंटे लटकाये हुए साठ वर्ष के हाथियों का नगरों में घूमते हुए पाया जाना एक सामान्य दृश्य था।[2] हाथियों के दांत सोने से मढ़े जाते थे (हस्तीव जाम्बूनदबद्धशृङ्गः, ५।५।५) और गले में 'ग्रैवेयक' पहनाया जाता था। उनके मस्तक पर झरोखों-जैसी चित्रकारी की जाती थी (**गवाक्षिता इवाभान्ति गजाः परमभक्तिभिः**, २।१५।१५)। घोड़ों को सोने के आभूषण पहनाये जाते और उन पर सुनहरी जालियां पड़ी रहती थीं। सामरिक अश्वों की छाती 'उरश्छद' से सुरक्षित रखी जाती थी। धूम्राक्ष राक्षस के रथ में सुवर्ण-विभूषित गधे जुते थे। दान में दी जानेवाली गौओं के सींग सोने से मढ़े रहते थे (सुवर्णशृङ्ग्यः)।

रथों के अलंकरण की कला बड़ी समुन्नत थी। उनमें सोने, चांदी और हाथी-दांत का काम किया रहता था। 'हेमविभूपित' रथों का कई बार उल्लेख हुआ है। पताकाओं, ध्वजाओं और सोने की जालियों से वे युक्त होते थे। खर के रथ में छोटी-छोटी घंटियां लगी थीं (किंकिणीवरभूषितम्)। रावण के रथ में झनकार करनेवाले रत्न, आभूषण और घंटियां लगी थीं।[3]

वाल्मीकि की दृष्टि में आभूपणों से सज्जित नारी कल्पना या उत्प्रेक्षा का परम स्वाभाविक विपय है। वह मनोहर प्राकृतिक दृश्यों की उपमा प्रायः अलंकृत

---

१. सा हेमवर्णा नीलांगं मैथिली राक्षसाधिपम्। शुशुभे काञ्चनी काञ्ची नीलं गजमिवाश्रिता ॥३।५२।५३

२. बद्धघण्टा विषाणिनः। अटन्ति राजमार्गेषु कुञ्जराः षष्टिहायनाः ॥२।६७।२०

३. नानालङ्कारभूषितम्। किंकिणीजालसंयुतं नानारत्नपरिक्षिप्तं रथम्॥ ६।९०।३०-१

रमणियों से देते हैं, यथा 'वृक्ष नदी की शोभा वैसे ही बढ़ाते हैं जैसे वस्त्राभूषण नारी की', 'पुष्पों से ढकी हुई भूमि शृंगार की हुई स्त्री की तरह शोभायमान होती है'।[1] वन-प्रयाण करते समय सीता को अपने श्वसुर से इतने वस्त्राभूषण मिले थे कि वे चौदह वर्ष के लिए पर्याप्त थे (२।३९।१५-६)। इसीलिए सीता वन में भी 'सर्वाभरणभूषिता' होकर विचरण करती थीं (चित्र ९)। रावण के अंतःपुर में हनुमान को उसकी स्त्रियों की करधनियों और नूपुरों की झनकार सुनाई पड़ी थी। उनके विभूषणों की पंक्ति ऐसी लगती थी मानो विजली की चमक हो—**विभूषणानां च ददर्श मालाः शतह्रदानामिव चारुमालाः** (५।५।२२)। जब तारा क्रुद्ध लक्ष्मण को शांत करने के लिए अंतःपुर से बाहर आई, तब उसकी करधनी की लड़ें अस्तव्यस्त होकर जघनों पर लटक रही थीं (**प्रलम्बकाञ्चीगुणहेमसूत्रा,** ४।३३।३८)।

चित्र ९—वडक्कुपणयूर, तंजोर, से प्राप्त सीता (कांस्य) की रेखानुकृति, जिसमें आभूषणों की प्रचुरता तथा सुंदर पुष्पालंकृत वेणी दर्शनीय हैं (चोल, दसवीं शताब्दी ई०)

सिर के गहनों में से केवल एक 'चूड़ावलय' (चित्र १०) का रामायण में उल्लेख हुआ है (५।५४।३१)। यह जूड़े में अलंकार-स्वरूप लगाई जानेवाली चूड़ी-सी होती थी। 'तिलक' माथे पर पहनने का गहना था (२।९।४९), जिसे आजकल 'टीका' कहते हैं। जान पड़ता है, उस समय की स्त्रियां नाक में कोई गहना नहीं पहनती थीं, क्योंकि ऐसे किसी आभूषण का वाल्मीकि ने संकेत नहीं दिया है।

कान का सामान्य भूषण 'कुंडल' था (५।२२।२९), जो एक भारी-सा

---

१. देखिए २।५०।२३; ४।२७।१९; ३।७५।२४-५; ३।४०।३०-४९; ७।३१।२२-४; ५।१४।१३ इत्यादि।

घुमावदार लटकनेवाला गहना था और लेश-मात्र शरीर-संचालन से हिलने-डुलने लगता था (चित्र ११)। 'कुंडल' शब्द संस्कृत के 'कुंडलिन्' (कुंडली मारनेवाले सांप) से संबद्ध है, क्योंकि दोनों घुमावदार होते हैं। रावण के कुंडलों की चमक-दमक तरुण सूर्य के वर्ण-जैसी थी।[1] कुंडल तपाये गए सोने के बने होते थे (**तप्तकांचनकुंडल**) और रत्न या मणि-जटित होने पर रत्न या मणि-कुंडल कहलाते थे (चित्र ११)। वे 'सुकृत', अच्छी बनावट के होते थे (५।२२।२८)। 'कर्णवेष्ट' और 'श्वदंष्ट्र' कुंडलों के दो प्रकार थे (५।१५।४२)। श्री शिवराममूर्ति[2] के अनुसार कर्णवेष्ट एक चौकोर कुंडल था, जिस पर कमल अंकित रहता था और जिसकी डंडी कान के छेद को दो बार लपेटे रहती

चित्र १०—चूड़ावलय

चित्र ११—कुंडल और रत्न-कुंडल

थी। इसीसे उसको कर्णवेष्ट (कान को लपेटनेवाला) कहते थे। अमरावती की प्राचीन प्रस्तर-मूर्तियों में ऐसे कई कर्णवेष्ट अंकित हैं (चित्र ४, पृष्ठ ५०)। श्वदंष्ट्र पुष्प अथवा कुत्ते के दांतों की आकृतिवाला कर्ण-भूषण था, जिसका दूसरा

---

१. तरुणादित्यवर्णाभ्यां कुण्डलाभ्यां विभूषितः।५।२२।२८

२. 'अमरावती स्कल्पचर्स', पृष्ठ १०८।

नाम 'त्रिकर्णक' था। उसे 'सुसंस्थित', कान पर अच्छी तरह वैठा हुआ वताया गया है (५।१५।४२)।

चित्र १२—निष्क (अमरावती, दूसरी शताब्दी ई०)

गले में 'ग्रैवेयक' (हंसुली), 'निष्क' (कंठी), 'माला हिरण्मयी' और सामान्य 'हार' पहने जाते थे।[1] निष्क सोने का सिक्का होता था। सिक्कों की कंठी पहनने की प्रथा भारत में प्राचीन काल से चली आई है (चित्र १२)। सीता और रावण दोनों निष्क पहनते थे। हार प्रायः रत्नों या मणियों से गूंथे जाते थे। हारों को चंद्र-रश्मियों की-सी कांतिवाला वताया गया है (चन्द्रांशुकिरणाभा हाराः, ५।९।४८)।

वांहों में भुजवंद (अंगद या केयूर) पहनने का रिवाज स्त्री-पुरुष दोनों में प्रचलित था (चित्र १३)। राम की परिचारिकाएं सोने के मणि-जटित केयूर
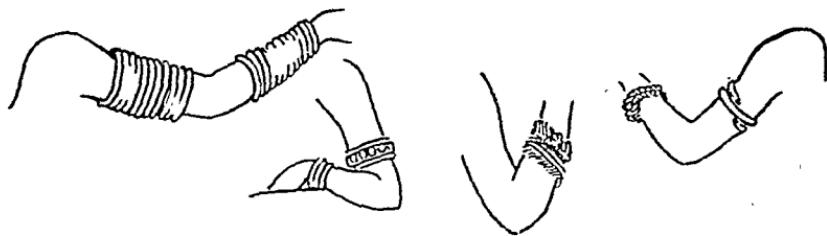
चित्र १३—वांह में अंगद, रत्नजटित अंगद, कलाई में रत्नवलय तथा अंगद का एक और प्रकार (अमरावती)

पहनती थीं (मणिकांचनकेयूर, ६।२१।३)। अंगद ऊपर की ओर से नुकीले होते थे और उत्तरीय पहनते समय इसे उनमें फंसने से वचाने का ध्यान रखना पड़ता था (५।१८।२४)। 'पारिहार्य' (चूड़ी) और 'वलय' (कड़ा) 'हस्ता-

---

१. देखिए क्रमशः ३।६०।३१; ५।५।२५; २।९।४७; ५।९।४८

भरण' (कलाई के गहने) थे (चित्र १३)।[1] 'अंगुलीयक' (अंगूठी) पर पहननेवाले का नाम अंकित रहता था (५।३६।२)। स्त्रियों द्वारा अंगुलीयक पहनने का उल्लेख नहीं मिलता।

स्त्रियों की करधनी के लिए रामायण में चार नाम आये हैं—'कांची', 'दाम', 'रशना' और 'मेखला' (चित्र १४)।[2] आभूषण के रूप में तो इनका आकर्षण

चित्र १४—जंजीरनुमा रशना और मेखलाबंध, मेखला तथा मणियों की दानेदार मेखला (अमरावती)

था ही, अधोवस्त्र को यथास्थान रखने में भी ये सहायक होती थीं। कांची घुंघरूदार सोने के कमरबंद को कहते थे, जिससे सुनहरी लड़ें (हेमसूत्र, २।३२।७) लटकती रहती थीं। सोने की धागेदार या लड़ीदार करधनी हेम-दाम (५।४७।६) तथा मणियों की दानेदार करधनी मेखला कहलाती थी। रशना मेखला की ही तरह होती थी, पर रशना का रूप जंजीर के समान होता था। रशना और दाम का संयुक्त रूप रशना-दाम था (५।९।४६)। इसे रावण की स्त्रियां पहना करती थीं। रावण का 'श्रोणीसूत्र' बहुत बड़ा और नील-वर्ण था—**श्रोणीसूत्रेण महता मेचकेन सुसंवृतः** (५।२२।२६)।

पैरों के लिए रामायण में एक-मात्र 'नूपुर' का उल्लेख हुआ है। नूपुर सादे या मणि-जटित और मधुर झंकार करनेवाले घुंघरुओं से युक्त होते थे। नूपुर जल्दी से पहना या उतारा जा सकता था।[3] सीता के (पैर के) आभूषणों को बड़े और झंकार करनेवाले कहा गया है (**स्वनवन्ति महान्ति च**, ५।१५।४६)।

---

१. ५।१।२६; २।३२।५; ५।१५।४२

२. ३।५२।२३; २।७८।७; २।३२।७

३. चरणान्नूपुरं भ्रष्टं वद्ध्या रत्नभूषितम्।३।५२।२९

प्राचीन भारत में मणि-रत्नों का काफी व्यवहार होता था। अयोध्या और लंका में उनकी प्रचुरता थी। राम और उनके भाइयों के जन्मोत्सव पर अयोध्या की सड़कों पर रत्न बिखेरे गए थे।[1] लंका का समुद्र रत्नों की खान माना जाता था (**रत्नौघजलसंनादम्,** ६।४।११९)। रावण की सभा में उपस्थित राक्षस मणियों से विभूषित थे।[2] छद्मवेशी रावण के आगमन के समय सीता का वक्षःस्थल उत्तम मणियों के आभरण से अलंकृत था।[3] नील (नीलम), इंद्रनील, महानील, विद्रुम (मूंगा), मसार (पन्ना), मुक्ता (मोती), वज्र (हीरा), वैदूर्य (रत्न) आदि मणियों के प्रकारों का वाल्मीकि ने स्थल-स्थल पर उल्लेख किया है।[4] 'मणिकृतांतरस्रज्' उस हार को कहते थे, जिसके बीच में मणि जड़ी हो (६।६५।२५)। हाथों के लिए मणि-मूंगे के गहने 'मणिविद्रुमहस्ताभरण' तथा मणियों के उत्कृष्ट आभूषण 'मुक्ताप्रवरभूषण' कहलाते थे (६।२१।३)। 'हेमसूत्रमणि' सोने के धागे में पिरोया गया मणियों का हार था (२।३२।५)। 'चूड़ामणि' (शीशफूल) वेणी में गूंथी या बांधी जाती थी (५।४०।८)। वह प्रायः प्रफुल्लित कमल के आकार की होती थी और उसकी पंखुड़ियां बहुमूल्य हीरे-मोती की (चित्र १५)। अमरावती की प्रस्तर-कला में ऐसी चूड़ामणि के सुंदर नमूने मिलते हैं।

चित्र १५—चूड़ामणि

---

१. (रथ्याः) विरेजुर्विपुलास्तत्र सर्वरत्नसमन्विताः।१।१९।१९

२. सुवर्णनानामणिभूषणानां सुवाससां संसदि राक्षसानाम्।६।११।२९

३. मणिप्रवेकाभरणौ रुचिरौ ते पयोधरौ।३।४६।२०

४. क्रमशः देखिए २।९१।२९; ५।९।१६; ५।९।१६; २।१५।३२; ३।४३।२९; ५।९।१७; ४।४।६; २।९१।२९

हीरे-जवाहरों के अतिरिक्त पुष्पों से भी शरीर की सजावट की जाती थी। वाल्मीकियुगीन नारियों की साज-सज्जा अंकुरों, पुष्पों, मालाओं, कोंपलों या पल्लवों के विना अधूरी ही रहती थी; नारी के कला-पूर्ण शृंगार में उनका अनिवार्य स्थान था। (चित्र १६)। सीता को अर्जुन, तिलक और कर्णिकार वृक्षों के कुसुम वड़े प्रिय थे। वाल्मीकि ने उन्हें 'प्रियपंकजा' नाम से संबोधित किया है (४।१।६७)। पुष्प-चयन उनका प्रिय मनोरंजन था। जब रावण उन्हें वलपूर्वक हरकर ले जा रहा था, तव उनके सिर में गुंथे पुष्प तथा सुगंधित लाल कमल-पत्र गिरकर विखर गए थे।[1] अभिसार-गमन के समय रंभा ने मंदार-कुसुमों से अपने केशों का तथा दिव्य कुसुमों से अपने शरीर का शृंगार किया था (७।२६।१५)। रावण की रानियों ने वालों में पुष्प-मालाएं गूंथ रखी थीं (समाल्याकुलमूर्धजाः, ५। १८।१७)।

चित्र १६—अजंता की एक रमणी, जिसने कान पर कोमल टहनी आभूषण-रूप में लगा रखी है (गुप्त-वाकाटक, पांचवीं शताब्दी ई०)

पुरुष भी पुष्पों और मालाओं के कम शौकीन नहीं थे। चित्र-विचित्र मालाएं पहनकर यात्रा करने निकलना अयोध्या के नागरिकों में एक सामान्य वात थी, जो राम के वियोग में श्री-हीन हुई उस नगरी में भरत को नहीं दिखाई दी थी—वहिर्यात्रां न गच्छन्ति चित्रमाल्यधरा नराः (२।११४।२३)। ग्रीष्म-काल में अयोध्या के जो तरुण शीतल वन्य मालाएं धारण करने में विशेष रुचि प्रदर्शित करते थे, राम के वन-प्रयाण के वाद

---

१. तस्याः परमकल्याण्यास्ताम्राणि सुरभीणि च। पद्मपत्राणि वैदेह्या अभ्यकीर्यन्त रावणम्॥३।५२।१६; उत्तमाङ्गच्युता तस्याः पुष्पवृष्टिः समन्ततः। सीतायाः ह्रियमाणायाः पपात धरणीतले॥३।५२।२६

वे इस ओर से उदासीन हो गए थे।[1] अशोकवाटिका में सीता के समक्ष आते समय रावण ने लाल मालाएं पहन रखी थीं (**रक्तमाल्याम्बरधरः**)। रात को मालाएं पहनकर सोने का रिवाज था।[2] पुरुष भी पुष्पों से केश-शृंगार करते थे। सागर ने अपने मस्तक पर एक दिव्य पुष्पित माला धारण कर रखी थी।[3] उस युग में दक्षिण भारत के लोग सुगंधित पुष्प-मालाओं का सिरपेच पहनने के लिए प्रसिद्ध थे—

कुर्वन्ति कुसुमापीडान् शिरःसु सुरभीनमी ।
मेघप्रकाशैः फलकैर्दाक्षिणात्या नरा यथा ॥२।९३।१३

'प्रतिकर्म' अर्थात शृंगार द्वारा अपने रूप को आकर्षक और सुरुचिपूर्ण बनाने का नर-नारी विशेष ध्यान रखते थे। केशों की मनोहर रचना और सिर के शृंगार को शारीरिक सौंदर्य में बड़ा महत्व दिया जाता था (चित्र १७)। सुंदर और घुंघराले बालों (वक्रकेशांत) का बड़ा आकर्षण था। नितंबों तक काले नाग के समान झूलती हुई लंबी वेणी स्त्रियों के केश-सौंदर्य का आदर्श थी।[4] वेणी सिर में 'सीमंत' (मांग) डालकर 'कंकत' (कंघे) से संवारी जाती और 'वेणीग्रथन' से गूंथी जाती थी।[5] अप्सराएं मुकुट की शैली में पुष्पों से केश सजाती थीं (**उच्चावचताम्रचूडा**, ४।२४।३४)। केश-शृंगार की उपेक्षा चिंता, क्रोध या उत्तेजना की सूचक थी।[6] बिना संवारे हुए रूखे बाल 'एकवेणी' (चित्र १८) कहलाते थे

---

१. महार्हाश्च वनस्रजः। गते रामे हि तरुणाः संतप्ता नोपभुंजते॥ २।११४। २२-३
२. शयनादुत्थितः काल्यं त्यक्तभुक्तामिव स्रजम्।४।१५।७; ५।२५।१७ भी देखिए।
३. सर्वपुष्पमयीं दिव्यां शिरसा धारयन् स्रजम्।६।२२।१९
४. नीलनागाभयावेण्या जघनं गतयैकया ।५।१५।२४; ५।१९।१९ भी देखिए।
५. ६।२२।७६; २।९१।७७; ५।२८।१७
६. एकवेणीं दृढं बद्ध्वा गतसत्त्वेव किन्नरी।२।१०।९; एकवेणीधरा दीना त्वयि चिन्तापरायणा।५।६५।१४

(५ । ६५ । १४) । वाल्मीकि ने विरहिणी स्त्रियों का 'एकवेणीवरा दीना' के रूप में वारंवार वर्णन किया है। 'प्रोषित-भर्तृका' (पति से वियुक्त) नारियों के लिए केश-प्रसाधन वर्जित था। सीता ने अपने अपहरण के दिन से लेकर पुनः पति-संयोग हो जाने तक केश-संस्कार नहीं किया था। वंधी हुई वेणी को संवारने के लिए न खोलना स्त्री के दृढ़

चित्र १७—राजकीय नारियों के पुष्प-मंडित केश-कलाप (अमरावती, दूसरी शताब्दी ई०)

चित्र १८—एकवेणी (अमरावती)

निश्चय का द्योतक था। तभी हनुमान ने लंका में सीता को आश्वासन देते हुए कहा था—

अचिरान्मोक्ष्यते सीते देवि ते जघनं गताम्।
धृतामेकां वहून् मासान् वेणीं रामो महावलः॥६।३३।३१

'जघनों तक लटकती हुई और महीनों से वंधी हुई तुम्हारी इस एकवेणी को, हे देवि, महावली राम शीघ्र ही आकर खोलेंगे।'

पुरुष अपने बाल कटवाते नहीं थे, वल्कि घूंघर या छल्लों के रूप में धारण करते थे। राम, लक्ष्मण और भरत ने तपस्वी का वेश धारण करने के लिए अपने बालों को कटवाया नहीं, वरन वड़ का दूध लगाकर उन्हें जटाओं के रूप में परिवर्तित कर लिया।[१] वन से लौटने पर राम ने अपने बाल छंटवाए नहीं, वल्कि अपनी जटाओं को साफ-सुथरी कराकर पूर्व-रूप मात्र दिला दिया (**विशोधितजटः**)। बालों को व्यवस्थित रूप से संवारकर रखा जाता था। भरद्वाज के आश्रम में भरत का एक भी सैनिक ऐसा नहीं था, जो मलिन हो अथवा जिसके बालों में धूल जमी हो।[२]

रावण भी अपने बालों को नहीं कटवाता होगा। विभीषण ने उसके सभासदों से प्रार्थना की थी कि शत्रुओं द्वारा रावण को केशों से पकड़कर घसीटा जाय, इसके पहले ही आप लोग उसकी सुरक्षा का प्रवंध कर लें।[३] इस कथन से ध्वनित होता है कि रावण के केश इतने वढ़े हुए और लंबे थे कि उन्हें पकड़कर अच्छी तरह खींचा जा सकता था। रणक्षेत्र से भागते हुए राक्षसों के बाल खुल जाते या विखर जाते थे (**विप्रकीर्णशिरोरुहाः, मुक्तकेशाः**), जिससे प्रतीत होता है कि राक्षस लोग अपने लंबे बालों को गांठ लगाकर वांधते थे।

रामायण-काल में पुरुष-वर्ग दाढ़ी-मूंछ रखता था। नाइयों को 'श्मश्रुवर्धन' (मूंछे वढ़ानेवाले, कतरनेवाले) की संज्ञा दी जाती थी। जिन नाइयों ने राम के अयोध्या लौटने पर उनकी हजामत वनाई थी, वे 'निपुण' और 'सुखहस्त' थे, उनके हाथ हलके और तेज चलते थे।[४]

उन दिनों राजकुमार किशोरावस्था में काकपक्ष की तरह केश रखाया करते थे (चित्र १९)। इस शैली में बालों के पट्टे दोनों ओर कानों और कनपटियों के

---

१. जटाः कृत्वा गमिष्यामि न्यग्रोधक्षीरमानय।२।५२।६८; जटिलं भरतम्। २।१००।१

२. न मलिनोऽपि वा। रजसा ध्वस्तकेशो वा नरः कश्चिददृश्यत ॥२।९१।६६

३. यावद्धि केशे ग्रहणात्सुहृद्भिः समेत्य सर्वैः परिपूर्णकामैः। निगृह्य राजा परिरक्षितव्यो भूतैर्यथा भीमवलैर्गृहीतः ॥६।१४।१९

४. ततः शत्रुघ्नवचनान्निपुणाः श्मश्रुवर्धनाः। सुखहस्ताः सुशीघ्राश्च राघवं पर्यवारयन् ॥६।१२८।१३

ऊपर लटकते रहते हैं। विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षार्थ जानेवाले राम-लक्ष्मण को 'काकपक्षधरा:' कहा गया है। आजकल सीमांत की पठान जातियों में सिर के ऊपर के बाल साफ कराकर कनपटी पर दोनों ओर लटकते हुए लंबे केश रख दिये जाते हैं, जो 'काकुल' कहलाते हैं। सभी द्विज शिखा या चोटी रखते थे। द्विज-वेश में सीता के संमुख आते समय रावण के चोटी थी। मारीच ने बालक राम के सिर पर शिखा देखी थी। इसी प्रकार लंका में यज्ञ करते हुए मेघनाद के भी शिखा थी। तपस्वी और तपस्विनियां सिर पर 'जटा-भार' (चित्र २०) रखते थे और उन्हें 'जटा-बंधन' से बांधते थे (१।४।२४)।

चित्र १९—काकपक्ष

चित्र २०—जटा-भार (अमरावती)

पुरुषों की प्रसाधन-क्रिया विशेषत: स्नान से संबंधित रहती थी। इसकी भी एक विधि होती थी और रामायण में यथाविधि स्नान का कई जगह वर्णन आया है।[1] स्नान में सुगंधित पदार्थों का उपयोग भारत में चिर काल से होता आया है। स्नान से पूर्व शरीर का तेल से मर्दन किया जाता था। इस क्रिया को 'उद्वर्तनम्' या 'उच्छादनम्' कहते थे (२।९१।५३)। शरीर से तेल की चिकनाई

१. सोऽभिषेकं ततः कृत्वा तीर्थे तस्मिन्यथाविधि।१।२।२०

को मिटाने के लिए पिसी हुई दाल या आंवले का सुगंधित उवटन लगाया जाता था, जो 'कल्क' या 'चूर्णकषाय' कहलाता था (२।९१।७४)। इसे प्राचीन काल का साबुन माना जा सकता है। स्नान का जल चंदन से सुगंधित रहता था (**हरिचन्दनसम्पृक्तम् उदकम्**, २।६५।८)। सिर पर केश-भार रहने के कारण स्नान के समय उन्हें हर बार भिगोना सुविधाजनक नहीं होता होगा, पर सर्वांगीण स्नान सचैल स्नान ही माना जाता था। अयोध्या के निवासी सिर पर से स्नान करनेवाले थे—**शिरस्नातजनैर्युताम्** (२।७।३)। स्नान के उपरांत ब्राह्मणों में पुष्प-चयन की प्रथा थी।[1]

आर्यों के लिए स्नान की क्रिया सदा से शुद्धता और पवित्रता की सूचक रही है; वह श्री और कांति की अभिवृद्धि करती है। राजकीय परिवारों में स्नान-क्रिया विस्तार और विधिपूर्वक संपन्न की जाती थी। उसमें विविध उपकरणों (उपस्कर) का प्रयोग किया जाता था। स्नान कराने का कार्य मुख्यतः परिचारिकाओं के सुपुर्द रहता था, जो वस्त्रालंकारों से सज्जित सुंदर तरुणियां होती थीं। उन्हें पुरुषों के शरीर को भली भांति नहलाने, मसलने, पोंछने आदि की नियमित शिक्षा दी जाती होगी। जो परिचारिकाएं प्रतिदिन प्रातःकाल महाराज दशरथ की सेवा में स्नान आदि की प्रसाधन-सामग्री लेकर उपस्थित होती थीं, वे 'पर्युपस्थानकोविद' और 'स्नानशिक्षाज्ञ' थीं, अर्थात वे स्नान कराने और सजाने की कला में प्रशिक्षित थीं (२।६५।७-८)।

उत्तरकांड में स्त्री-पुरुषों के संमिलित स्नान के कई उदाहरण मिलते हैं। रावण ने नर्मदा नदी में कार्तवीर्य अर्जुन को अपनी रानियों के साथ आनंदपूर्वक स्नान करते देखा था।[2] सुदर्शन सरोवर में अप्सराएं यक्षों और किन्नरों के साथ क्रीड़ा करती थीं।[3] अगस्त्य-आश्रम में राम सूर्यास्त के समय जिस सरोवर में स्नान करने गए, वह 'अप्सरोगणसेवितम्' था।

---

१. विविक्तेषु च तीर्थेषु कृतस्नाना द्विजातयः। पुण्योपहारं कुर्वन्ति कुसुमैः स्वयमर्जितैः॥३।११।५२

२. अर्जुनो नर्मदां रन्तुं गतः स्त्रीभिः सहेश्वरः।७।३१।९

३. सुदर्शनं विबुधाश्चारणा यक्षाः किन्नराश्चाप्सरोगणाः। हृष्टाः समधिगच्छन्ति नलिनीं तां रिरंसवः॥४।४०।४६-७

आश्रमों में सरोवर या नदी-तट पर स्नान के लिए मनोहर तीर्थ या घाट बने रहते थे। वाल्मीकि ने तमसा नदी के एक ऐसे तीर्थ पर स्नान किया था, जहां का जल सज्जनों के हृदय की तरह रमणीय और स्वच्छ था—**रमणीयं प्रसन्नाम्बु सन्मनुष्यमनो यथा** (१।२।५)। अगस्त्य के भाई के आश्रम में आश्रमवासियों के उपयोग के लिए एकांत में स्नान के लिए घाट बने हुए थे—**विविक्तेषु च तीर्थेषु कृतास्नाना द्विजातयः** (३।११।५२)। भरद्वाज के आश्रम में अतिथियों के स्नान और प्रसाधन के लिए नदी के तीर्थों पर पात्रों में विविध प्रकार के उबटन, चूर्ण, तैल, उष्ण जल आदि प्रस्तुत थे। दंत-धावन के लिए स्वच्छ कूचीवाले दातुनों का ढेर पड़ा हुआ था। घिसा हुआ चंदन, साफ पोंछे हुए दर्पण, कपड़ों के ढेर, कवच, छाते (छत्र), लकड़ी और चमड़े के जूतों की जोड़ियां, काजल की डिब्बियां (आंजनी), कंघे (कंकत), ब्रुश (कूर्च), पलंग, आसन इत्यादि यथावत रखे थे (२।९१।७४-९)।

अयोध्या के नागरिकों में शृंगार-प्रसाधनों का सर्वव्यापी प्रचलन था। वहां कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं था, जो अस्वच्छ हो, जिसके शरीर पर अंगराग न लगा हो अथवा जो सुगंधित पदार्थों का व्यवहार न करता हो।[1] अयोध्या की सड़कें अगुरु और चंदन की सुगंध से सुवासित रहती थीं।[2] चंदन की अनेक किस्मों का उल्लेख हुआ है, 'शुक्लचंदन' (२।९१।७५), 'हरिचंदन' (२।५५।८) और 'रक्तचंदन' (२।९१।५८)। सर्वोत्तम किस्म के चंदन को 'परार्ध्यचंदन' कहा गया है, उसका रंग वराह के रुधिर के समान लाल होता था (**वराहरुधिराभेण**, २।१६।९)। चंदन का लेप अपने शीतल प्रभाव के कारण विरह-ताप के शमन में विशेष रूप से प्रयुक्त होता था।[3] संध्या की लालिमा से रंजित आकाश की उपमा राम एक ऐसे कामातुर पुरुष से देते हैं, जिसने चंदन का अनुलेपन कर रखा हो।[4] राम के श्वास को कमल की-सी गंध से युक्त बताया गया है

---

१. नामृष्टो न नलिप्ताङ्गो नासुगन्धश्च विद्यते ।१।६।१०
२. माल्यगन्धश्च मूर्च्छितः । चन्दनागुरुगन्धश्च न प्रवाति समन्ततः॥ २।११४।२०
३. विभ्रमोत्सिक्तमनसः साङ्गरागा नरा इव।४।१।६०
४. सन्ध्याचन्दनरञ्जितं कामातुरमिवाम्बरम्।४।२८।६

(**पद्मनिःश्वासमुत्तमं वदनम्, २।६१।८**), जिससे सूचित होता है कि गंधः-शास्त्र में निर्दिष्ट 'मुख-वास' (मुख के सुवासीकरण) की-सी प्रथा उन दिनों प्रचलित थी।

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में कहीं अधिक शृंगार-भावना थी। सीता 'प्रतिकर्मनित्या' थीं, वह प्रतिदिन अपना शृंगार करती थीं। लंका-युद्ध की समाप्ति पर वह सचैल स्नान एवं शृंगार करके तथा बहुमूल्य वस्त्राभूषण धारण करके राम के समक्ष उपस्थित हुई थीं।[1] अलंकार धारण करने की क्रिया 'नेपथ्य-विधि' कहलाती थी। अयोध्या जाने के लिए पुष्पक-विमान में सवार होने से पहले वानर-स्त्रियों ने अपनी नेपथ्य-विधि संपन्न कर ली थी।[2] स्त्रियां अंगों पर अंगराग और कुचों पर रक्तचंदन का अनुलेपन करती थीं।[3] अनसूया ने सौंदर्य को सुरक्षित और सदा नवीन बनाये रखने के लिए सीता को उत्तम अनुलेपन और अंगराग प्रदान किया था, नित्य उपयोग में आने पर भी जिनमें कोई विकार नहीं आता था।[4] मुख को आकर्षक बनाने के कई प्रकार प्रचलित थे। नेत्रों में अंजन लगाया जाता और मुख पर भांति-भांति की पत्र-रेखाएं अंकित की जाती थीं।[5] चित्र-विचित्र बिंदियां भी लगाई जातीं, जो 'विशेषक' कहलाती थीं। अपहृत किये जाते समय सीता के केश बिखर गए थे और विशेषक पुंछ गया था (**आकुलकेशाम्, विप्रमृष्ट-विशेषकाम्, ३।५२।४३**)। रंभा ने लाल चंदन के विशेषकों और पुष्पा-लंकारों से अपना शृंगार किया था।[6] पैरों में 'अलक्तक-रस' (महावर) लगाया जाता था, जिससे उनमें पद्मकोशों की-सी प्रभा आ जाती थी। सीता का मुख

---

१. ततः सीतां शिरःस्नातां संयुक्तां प्रतिकर्मणा। महार्हाभरणोपेतां महार्हाम्बर-धारिणीम् ॥६।११४।१४

२. नेपथ्यविधिपूर्वं तु कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।६।१२३।३६

३. तौ लोहितस्य प्रियदर्शनस्य सदोचितावुत्तमचन्दनस्य । वृत्तौ स्तनौ...॥ ३।६३।८

४. अङ्गरागं च वैदेहि महार्हमनुलेपनम् । मया दत्तमिदं सीते तव गात्राणि शोभयेत् ॥ अनुरूपमसंक्लिष्टं नित्यमेव भविष्यति । २।११८।१८-९

५. सपत्ररेखाणि सरोचनानि नदीमुखानीव वधूमुखानि ।४।३०।५५

६. कृतविशेषकैरार्द्रैः षडर्तुकुसुमोद्भवैः ।७।२६।१७

और श्वास सुगंधपूर्ण वताया गया है,[१] जिससे मुख-प्रसावन-विधि तथा श्वास को सुवासित करनेवाले पदार्थों का व्यवहार सूचित होता है। रावण की रानियों के मुख-मंडल भी कमल की-सी गंधवाले वताये गए हैं (पद्मगन्धीनि वदनानि, ५।९।३६)।

१. सुगन्धि ।४।१।१०९; पद्मकेसरसंसृष्टो...निःश्वास इव सीतायाः ।४।१।७२

: ४ :

खान-पान

किसी राष्ट्र की सभ्यता पर खान-पान और पाक-विधि से यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। हिंस्र पशुओं की भांति सभी देशों में आदि-मानव कच्चे मांस और मछली से अपनी उदर-पूर्ति करता था। सभ्यता का विकास होने पर मानव ने भोजन पकाना और उसे सुरक्षित रखना सीखा। कृषि-कार्य, अन्न का भोजन और पाक-विद्या का विकास ये सभ्यता की उत्तरोत्तर प्रगति के सूचक हैं। भारतीय आदर्श के अनुसार शाकाहार ही आध्यात्मिक उत्थान और सांस्कृतिक उत्कर्ष का परिचायक है तथा मांसाहार अथवा रसनेंद्रिय की लोलुपता मनुष्य की ग्राम्य और असंस्कृत प्रवृत्ति परिलक्षित करती है। रामायण में सांस्कृतिक प्रगति के इन विविध स्तरों का अंकन करके एक ऐसे समाज का चित्रण किया गया है, जो शाकाहार और मांसाहार दोनों प्रकार के भोजन का अभ्यस्त था।

रामायणकालीन आर्य अपने खान-पान में बड़े सुरुचिपूर्ण थे। आमिष और निरामिष दोनों प्रकार के खाद्य-पदार्थ बनाने में वे प्रवीण थे। सच पूछा जाय तो नीति और सदाचार के विषयों में वे जितने समुन्नत थे उतने ही पाक-शास्त्र के विधि-विधानों में भी पारंगत थे।

रामायण का समय एक अन्न-बहुल युग था, जिसमें सुस्वादु पक्वान्नों का सेवन अत्यधिक प्रचलित था। अतिथियों का उच्च कोटि के भोजन से स्वागत करना सामाजिक शिष्टाचार का अंग माना जाता था। स्वादिष्ट भोजन करने-कराने में लोग विशेष समुत्सुक रहते थे। वसिष्ठ मुनि ने राजा विश्वामित्र और उनकी सेना का **भोजनेन महार्हेण,** बहुमूल्य खाद्य-पदार्थों से स्वागत किया था। मुनिकुमार ऋष्यश्रृंग को अंग देश में लाने के लिए वेश्याओं ने उन्हें नाना प्रकार के मिष्टान्नों का प्रलोभन दिया था (**मोदकान्प्रददुस्तस्मै,** १।१०।२०)। रावण

ने भी सीता को विविध प्रकार की खाद्य-वस्तुओं से लुभाने की चेष्टा की थी—**सा च कामैः प्रलोभ्यन्ती भक्ष्यैर्भोज्यैश्च मैथिली** (४।६२।७)। अन्न का दान एक पुण्योत्पादक कृत्य था। दशरथ और राम के अश्वमेध-यज्ञों में धन और वस्त्र के साथ अन्न का भी मुक्त हस्त से दान किया गया था। सीता ने वन-यात्रा में गंगा की प्रीत्यर्थ ब्राह्मणों को प्रचुर अन्न-दान करने की प्रतिज्ञा की थी।[1]

आर्यों का खान-पान वानरों और राक्षसों के खान-पान से भिन्न था। जहां आर्य लोग मुख्यतः शाकाहारी और अंशतः मांसाहारी थे, वहां वानर विशुद्ध शाकाहारी और राक्षस मुख्यतः मांसाहारी थे। भरत के सैनिकों का स्वागत करते हुए भरद्वाज मुनि ने उनसे कहा कि आप लोग अपनी-अपनी इच्छानुसार सुरा-पान, मांस-भक्षण अथवा पायस (शाकाहार) का सेवन कीजिए।[2] इससे प्रतीत होता है कि आर्यों में शाकाहार और मांसाहार दोनों ही प्रचलित थे। यों उनके भोजन में निरामिष पदार्थों का बाहुल्य रहता था। सुरा और मांस का अल्प व्यवहार होता था और प्रायः क्षत्रियों तक सीमित था। तंडुल (चावल), यव (जौ) और गोधूम (गेहूं) मुख्य खाद्य थे।[3] उत्तरकांड में मुद्‍ग (मूंग), चणक (चना), कुलित्थ (कुलथी) और माष (उड़द)-जैसी दालों का उल्लेख आया है (७।९१।१९-२०)।

खाद्य-पदार्थों की ये चार श्रेणियां थीं[4]—(१) भक्ष्य, जो अपूप या रोटी की तरह चबाकर खाया जाता हो; (२) भोज्य, जो भात की तरह बिना अधिक चबाये ही खाया या निगला जाता हो; (३) चोष्य, जो गन्ने की तरह चूसा जाता हो; और (४) लेह्य, जो शहद या चटनी की तरह चाटा जाता हो। गुह और भरद्वाज ने अपने अतिथियों का इन्हीं पदार्थों से स्वागत किया था। चावल और मांस के अतिरिक्त सभी खाद्य-पदार्थों को 'भक्ष्य' की भी संज्ञा दी जाती थी। इसमें मीठे और नमकीन दोनों तरह के पदार्थ संमिलित थे।

---

१. वस्त्राण्यन्नं च पेशलम्। ब्राह्मणेभ्यः प्रदास्यामि तव प्रियचिकीर्षया ॥२।५२।८८

२. सुरां सुरापाः पिबत पायसं च बुभुक्षिताः। मांसानि च सुमेध्यानि भक्ष्यन्तां यो यदिच्छति ॥२।९१।५२

३. देखिए—१।५।७; ३।१६।६

४. देखिए—१।५२।२३; २।९१।२०; २।५०।३९

उबाला हुआ चावल या भात लोगों का प्रमुख आहार था। कुंभकर्ण की क्षुधा-शांति के लिए राक्षसों ने चावलों की अद्‌भुत राशियां लगा रखी थीं।[1] भरद्वाज और वसिष्ठ के आश्रमों में अतिथियों को भरपूर भात उपलब्ध था। राम के साथ सीता के भी वन चले जाने पर दशरथ ने विलाप करते हुए कहा था कि जो सीता अयोध्या में विविध व्यंजनों के साथ शुभ्र चावल का सेवन करती थीं, वह वन में जंगली धान (नीवार) का आहार कैसे करेंगी?—

भुक्त्वाशनं विशालाक्षी सूपदंशान्वितं शुभम्।
वन्यं नैवारमाहारं कथं सीतोपभक्ष्यते ॥२।६१।५

रामायण में निम्नलिखित प्रकार के चावलों और चावलों से बने पक्वान्नों का उल्लेख हुआ है—

अक्षत (२।२०।१७)—पूजा में प्रयुक्त होनेवाले चावल के कच्चे दाने।

अन्न (२।९१।२०) या **ओदन** (१।५३।३) भात।

कलम (४।१४।१६)—एक प्रकार का धान।

कृसर (२।७५।३०)—विलसन महोदय के अनुसार इसका अर्थ आधुनिक खिचड़ी, अथवा चावल, तिल और दूध से बना एक मिष्टान्न है।

तंडुल (१।५।१७)—साफ किया हुआ धान या चावल।

नीवार (२।६१।५)—जंगली धान, जिसे वनवासी लोग खाते थे।

पायस (२।७५।३०)—दूध में चीनी के साथ उबला हुआ चावल, जिसे आजकल खीर कहते हैं। पुत्रेष्टि-यज्ञ की समाप्ति पर यज्ञ-वेदी से प्रकट होनेवाले पुरुष ने दशरथ को पायस का एक थाल प्रदान किया था, जो आरोग्य-वर्धक और पुत्रकारक था। कहते हैं कि भरत की सेना के स्वागत-भोज में पायस का इतना आधिक्य था कि भरद्वाज-आश्रम के निकटवर्ती वन-प्रदेश में कीचड़-ही-कीचड़ हो गया था (**पायसकर्दमाः**, २।९१।६९)। पायस उन दिनों का एक अत्यंत लोकप्रिय खाद्य-पदार्थ था।

मृष्टान्न (१।५३।३)—चावल के मालपुए।

मोदक (२।२०।१७)—चावल, दाल और चीनी के लड्डू।

---

१. चक्रुर्नैर्ऋतशार्दूला राशिमन्नस्य चाद्‌भुतम्।६।६०।३२

लाज (२।३।१६)—भुना हुआ चावल, जो पूजा, स्वागत आदि कार्यों में प्रयुक्त होता था।

व्रीही—वर्षा-ऋतु का चावल।

शालि (१।५।७)—चावल की एक उत्कृष्ट जाति जो सर्दियों में पैदा होती थी।

हविष्यान्न (२।५६(१)।१४)—घी में पकाया हुआ चावल।

गौओं की वहुलता के कारण लोगों के भोजन में दूध और दूध से वने पदार्थों का प्रचुर व्यवहार होता था। दूध का निम्नलिखित रूपों में सेवन प्रचलित था—

कपित्थ (२।९१।७२)—मट्ठा।

क्षीर (२।३।१४)—गाढ़ा दूध, खोआ या छेना।

गोरस (३।१६।७)—दूध।

दधि (१।५३।३)—दही।

दूध को दही के रूप में जमाने तथा उसे मथकर मक्खन और घी वनाने की विधि से लोग परिचित थे। दधि-मंथन की क्रिया वैसी ही थी जैसी समुद्र-मंथन करते समय काम में लाई गई थी। वाल्मीकि कहते हैं कि विश्वामित्र के स्वागत में वसिष्ठ ने दही की नदियां **(दधिकुल्याः)** ही वह दी थीं (१।५३।३)। चीनी और मसालों में मिले हुए दही को 'रसाल' या रायता कहते थे (२।९१।७३)।

रामायण में घृत (घी) का स्थल-स्थल पर उल्लेख मिलता है। तेल, जिसे 'स्नेह' अथवा 'तैल' कहते थे, भोजन में चिक्कण तत्व का संचार करता था। नमक को 'लवण' कहते थे। 'सौवर्चल' एक विशेष प्रकार का नमक था। चटनी को 'उपदंश,' वघार को 'निष्ठान' और मिर्च को 'मरीच' कहते थे। भोजन में अम्ल अंश लाने के लिए अम्ल-रस या सिरके की खटाई का प्रयोग किया जाता तथा सुगंध का संचार करने के लिए 'वासचूर्ण' डाला जाता था।[1]

---

१. इन पदार्थों के संदर्भ के लिए देखिए—३।७३।१४; २।२०।१७; ३।७२।३; ७।९१।२०; ५।५३।७; ७।९१।२०; ५।११।१६; २।६१।५; २।९१।६७; ३।३५।२३; ५।११।१८; ५।११।२३

रामायण में निम्नलिखित अन्य खाद्य-पदार्थों का उल्लेख हुआ है—

उच्चावच भक्ष्य (१।५३।२)—सूखी और गीली मिठाइयां या नमकीन, मसालेदार, स्निग्ध और गरिष्ठ।

गौड (१।५३।४)—गुड़।

खांडव (१।५३।४)—मिसरी।

मधु (२।३६।६)—शहद।

रागखांडव (५।११।१८)—शहद, चीनी और विभिन्न फलों के रस से बनाया जानेवाला एक स्वादिष्ट पेय।

शर्करा (२।९१।७३)—शक्कर।

सूप (२।९१।६७)—पकाई हुई दाल या रसेदार साग-सब्जी। भरत के सैनिकों को भरद्वाज-आश्रम में फलों के रस से बना हुआ सुवासित और स्वादिष्ट सूप परोसा गया था।[1]

लोगों के आहार में फलों का मुख्य स्थान था। रावण की पान-भूमि (मधुशाला) में हनुमान ने विविध प्रकार के फल पड़े देखे थे (**फलैश्च विविधैरपि**, ५।११।१९)। वर्षा-ऋतु में लोग मीठे और भौंरों की तरह काले जामुनों तथा रंग-बिरंगे आमों का सेवन करते थे।[2] आमों का सेवन बहुत प्रचलित रहा होगा, क्योंकि वाल्मीकि ने 'आम्रवणों' (आम के बगीचों) का कई बार उल्लेख किया है। वनवासी ऋषि-मुनि अरण्य के फल-फूलों पर (जिन्हें 'वन्य' कहते थे) निर्वाह करते थे। सीता के विरह में राम केवल भात और जंगली फल-मूलों का ही विरल भोजन करते थे (**वन्यं सुविहितं नित्यं भक्तमश्नाति पञ्चमम्**, ५।३६।४१)। वनवास-काल में लक्ष्मण फलों की खोज में रमणीय गिरि-शृंगों पर प्रायः घूमा करते थे।[3] अगस्त्य मुनि ने राम को स्वादिष्ट कंद-मूलों, ओषधियों और पवित्र शालि

---

१. फलनिर्यूहसंसिद्धैः सूपैर्गन्धरसान्वितैः।२।९१।६७

२. रसाकुलं षट्पदसंनिकाशं प्रभुज्यते जम्बुफलं प्रकामम्। अनेकवर्णं पवनावधूतं भूमौ पतत्याम्रफलं विपक्वम्॥४।२८।१९

३. तुलना कीजिए—ततश्चञ्चूर्य रम्येषु फलार्थी गिरिसानुषु। ददर्श पर्युपावृत्तो लक्ष्मीवाँल्लक्ष्मणोऽग्रजम्॥४।३०।१४

चावलों का भोजन कराया था।[1] वन में उगनेवाले फलों का स्वाद कसैला, तीता और कड़ुआ होता था।[2]

रामायण में इन-इन फलों का उल्लेख हुआ है—आम्र (आम), इक्षु (ईख), कदली (केला), खर्जूर (खजूर), जंवु (जामुन), दाडिम (अनार), नारिकेल (नारियल), पनस (कटहल) और वदरी (वेर)।[3]

फलों का रस भी निकाला जाता था। सूप और रागखांडव में उसका उपयोग होता था।

भरद्वाज-आश्रम में भरत के सैनिकों को **मांसानि विविधानि,** विभिन्न प्रकार के मांस-पदार्थ परोसे गए थे (२।९१।२)। सीता ने भगवती गंगा को 'मांसभूतौदन' (मांस, चावल, शाक और मसालों को एक-साथ उवालकर वनाया गया पुलाव) से परितुष्ट करने का संकल्प किया था (२।५२।८९)। अरण्यवासी दाश लोग वनों में सुलभ मांस, मत्स्य, फल, मूल, मघु और जंगली घान का सेवन करते थे (२।८४।७, १०, १७)। रमणीय चित्रकूट पर्वत पर राम ने सुस्वादु मांस से सीता को प्रसन्न करते हुए कहा था—"सीते, देखो, यह मांस पवित्र है, स्वादिष्ट है और आग पर भूना गया है।"[4] श्राद्धों में ब्राह्मणों को मांस खिलाने की परिपाटी थी। इल्वल असुर श्राद्ध के वहाने पड़ोस के ब्राह्मणों को आमंत्रित करता और उन्हें मेढ़े का मांस पकाकर खिलाया करता था।[5] ये मेढ़े वधिया किये हुए (अफल) होते थे।[6]

---

१. तयागस्त्यो वहुगुणं कन्दमूलं तथौषधम्। शाल्यादीनि पवित्राणि भोजनार्थमकल्पयत् ॥७।८२।३
२. तुलना कीजिए—स कथं नु कषायाणि तिक्तानि कटुकानि च। भक्षयन् वन्यमाहारं सुतो मे वर्तयिष्यति ॥२।१२।९७
३. देखिए—२।९४।९; २।९१।५६; ७।४२।४; ३।१५।१६; २।५५।१५; ७।४२।५; ५।११।२००; २।९१।३०; २।५५।८
४. निषसाद गिरिप्रस्थे सीतां मांसेन छन्दयन्। इदं मेध्यमिदं स्वादु निष्टप्तमिदमग्निना ॥२।९६।१-२
५. भ्रातरं संस्कृतं कृत्वा ततस्तं मेषरूपिणम्। तान्द्विजान्भोजयामास श्राद्धदृष्टेन कर्मणा ॥३।११।५७
६. तदाप्रभृति काकुत्स्थ पितृदेवाः समागताः। अफलान् भुञ्जते मेषान्फलैस्तेषामयोजयन् ॥१।४९।९

पांच नखोंवाले पशुओं में केवल साही, श्वाविध (कुत्ते मारकर खानेवाला एक जंतु), गोह, खरहा और कछुआ, इन पांच का ही मांस ब्राह्मण-क्षत्रियों के भक्षण-योग्य माना जाता था।[1] पंचनखों में होने पर भी बंदर का मांस सदाचारी लोगों के लिए वर्जित था।[2] गो-मांस खाये जाने का कहीं प्रमाण नहीं मिलता। रावण और कुंभकर्ण को भी महिष (भैंसे) का मांस परोसा गया था, गो-मांस नहीं।

भक्षण किये जानेवाले पशुओं को 'मेध्य' (पवित्र) या 'अमेध्य' (अपवित्र), इन दो श्रेणियों में रखा गया था। मेध्य पशुओं का मांस ही देवताओं को समर्पित करने योग्य होता था। छाग (बकरा), मृग और वराह (सुअर), ये मेध्य जंतु थे। मृग-मांस आर्यों को विशेष प्रिय था। अपने वनवास के प्रथम दिन ही क्षुधा-पीड़ित राम-लक्ष्मण ने सायंकाल (के भोजन के लिए) वराह, ऋश्य, पृषत और महारुरु नामक मृगों का शिकार किया था।[3] यमुना के निकटवर्ती वनों में उन्होंने और भी कई पवित्र मृगों को मारा था—बहून्मेध्यान्मृगान्हत्वा चेरतुर्यमुनावने (२।५२।३३)। मारीच-वध के पश्चात राम ने, शीघ्रता से अपनी कुटी को लौटते हुए, मार्ग में एक पृषत हरिण को मारकर उसका मांस साथ ले लिया था।[4] सुअर का मांस भी बहुत खाया जाता था। रावण और कुंभकर्ण-जैसे पेटुओं की तृप्ति के लिए राक्षसों ने मृगों, महिषों और वराहों के मांस की ढेरियां लगा रखी थीं।[5] पंचवटी में सीता ने छद्मवेशधारी रावण से निवेदन किया था कि आप पल-भर ठहरें, मेरे पतिदेव अनेक वन्य पदार्थ तथा रुरु, गोह और वनशूकर का

---

१. पंच पंचनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव। शल्यकः श्वाविधो गोधा शशः कूर्मश्च पंचमः ॥४।१७।१९

२. अधार्यं चर्म मे सद्भी रोमाण्यस्थि च वर्जितम्। अभक्ष्याणि च मांसानि त्वद्विधैर्धर्मचारिभिः ॥४।१७।३८

३. तौ तत्र हत्वा चतुरो महामृगान् वराहमृश्यं पृषतं महारुरुम्। आदाय मेध्यं त्वरितं बुभुक्षितौ वासाय काले ययतुर्वनस्पतिम् ॥२।५२।१०२

४. निहत्य पृषतं चान्यं मांसमादाय राघवः। त्वरमाणो जनस्थानं ससाराभिमुखं तदा ॥३।४४।२७

५. ५।११।१४; ६।६०।३२

बहुत-सा मांस लेकर आ ही रहे होंगे।[1] रावण की पान-भूमि में हनुमान ने विविध प्रकार के मांस-पदार्थ देखे थे (५।११।१६-७)। कुत्ते का मांस केवल मुष्टिक जाति के अस्पृश्य लोग काम में लाते थे।[2]

चर्बीवाले पक्षी आहार की दृष्टि से मूल्यवान गिने जाते थे। ऐसे जिन पक्षियों की ओर कबंध ने राम का ध्यान आकर्षित किया था, उनमें हंस, प्लव, क्रौंच (सारस) और कुरर मुख्य थे (३।७३।१२)। पंपा-प्रदेश में ये पक्षी घृत पिंड की तरह मोटे थे और बहुतायत से पाये जाते थे। कृकर या कृकल, वाध्रीणस, मयूर और कुक्कुट का मांस भी खाया जाता था (५।११।१७)।

मछली का भोजन के रूप में व्यवहार प्रचलित था। मछुए का पेशा दाश और कैवर्त जाति के लोग किया करते थे। कांटा फेंककर मछली पकड़ने की क्रिया की ओर वाल्मीकि ने एकाधिक बार संकेत किया है।[3] बाणों से भी मछलियों का शिकार किया जाता था।[4] पूर्व के किरात-द्वीप-वासी कच्ची मछलियां ही खाने के आदी थे।[5] गुह ने भरत को जो खाद्य-पदार्थ उपहार-स्वरूप दिये थे, उनमें मत्स्य भी थे।[6] पंपा-सरोवर की रोहित, चक्रतुंड और नलमीन नाम की मोटी-मोटी और कांटेदार मछलियां प्रसिद्ध थीं। उनकी सिफारिश करते हुए कबंध ने राम से कहा था कि लक्ष्मण उन मछलियों की त्वचा और पंख हटाकर उन्हें भूनकर आपको भक्तिपूर्वक देंगे, उन्हें आप अवश्य खायं (३।७३।१४-६)।

नर-मांस खाने की प्रवृत्ति केवल राक्षसों में प्रचलित थी। उत्तरकांड में शव-भक्षण का भी एक उल्लेख आया है, पर इस कार्य को घृणित (विगर्हित) बताया गया है (७।७७।१९)।

ताजे मांस को पकाने की, उसका 'संस्कार' करने की विधि के अतिरिक्त उसे सुखाकर सुरक्षित रखने की विधि भी ज्ञात थी। गुह ने भरत को ताजा और

---

१. आगमिष्यति मे भर्ता...रुरून्गोधान्वराहांश्च हत्वाऽऽदायामिषं बहु ॥३।४७।२३
२. श्वमांसनियताहारा मुष्टिका नाम निर्घृणाः ।१।५९।१९
३. झषवद् बडिशं गृह्य क्षिप्रमेव विनश्यति ३।६८।१३; ।३।५१।२७ भी देखिए।
४. पम्पायामिषुभिर्मत्स्यांस्तत्र राम वरान् हतान् ।३।७३।१५
५. आममीनाशनाश्चापि किराता द्वीपवासिनः ।४।४०।२८
६. गृह्य मत्स्यमांसमधूनि च । अभिचक्राम भरतं निषादाधिपतिर्गुहः ॥२।८४।१०

सुखाया हुआ दोनों प्रकार का मांस भेंट किया था (**आर्द्रं शुष्कं यथा मांसम्**, २।८४।१७)। लक्ष्मण तुरंत काम में न आनेवाले मृग-मांस को भविष्य के उपयोग के लिए सुरक्षित रख लिया करते थे। भाई की इस व्यवहार-कुशलता से राम प्रसन्न हुए थे (२।९५।३४-५)।

मांसाहार के इस व्यापक प्रचलन के बावजूद उसे एक हीन कोटि का भोजन माना जाता था। जब राम ने अपने वनवास-काल में कंद-मूल-फल से निर्वाह करने और मुनियों की तरह मांस (आमिष) का त्याग करने का संकल्प किया,[1] तब स्पष्ट ही उन्होंने संयमित शाकाहार को एक ऊंचे सांस्कृतिक धरातल पर रखा था।

अशोकवाटिका में हनुमान ने सीता से कहा था कि आपके वियोग में राम न मांस का सेवन करते हैं और न मधु का—**न मांसं राघवो भुंक्ते न चैव मधु सेवते** (५।३६।४१)। श्राद्धों के अतिरिक्त ब्राह्मण प्रायः शाकाहारी होते थे। उत्तरकांड में ब्राह्मण-मुनि गौतम को असावधानी से मत्स्य-मांस परोस देने पर राजा ब्रह्मदत्त को शाप का भागी बनना पड़ा था।

सुदूर यात्रा पर निकलते समय लोग अपने साथ भोजन बांध ले जाते थे। वसिष्ठ ने भरत को बुला लाने के लिए जिन दूतों को भेजा था, उन्होंने 'पथ्याशन' अर्थात यात्रा का भोजन साथ रख लिया था (२।६८।१०)।

विशाल सार्वजनिक भोजों का आयोजन भी उस युग की अन्न-बहुलता का सूचक है। इन भोजों में खाद्य एवं पेय पदार्थों का अटूट भंडार प्रस्तुत रहता और असंख्य नर-नारी आकर तृप्ति पाते। दशरथ के अश्वमेध-समारोह में जहां एक ओर देवताओं को उनका यज्ञ-भाग अर्पित किया जा रहा था, वहां दूसरी ओर अयोध्या की जनता श्रेष्ठ व्यंजनों से परितृप्त की जा रही थी। वहां ब्राह्मणों के रहने के लिए अन्न-पान की सामग्री से भरपूर आवास बनाये गए थे। पौरजनों के लिए भी विविध भक्ष्य-सामग्री से परिपूर्ण निवास बनाये गए थे। यज्ञशिल्प में प्रवीण कारीगरों का धन और भोजन से संमान करने का विशेष ध्यान रखा गया था। क्षुधार्तों को देने के लिए **अन्नकूटाः पर्वतोपमाः**, अन्न के पर्वत-जैसे

---

१. चतुर्दश हि वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने। कन्दमूलफलैर्जीवन् हत्वा मुनिवदामिषम्॥२।२०।२९

ढेर लगे थे। ब्राह्मण, शूद्र, तपस्वी, संन्यासी, वृद्ध, रोगी, स्त्री, बालक आदि रात-दिन भोजन पा रहे थे पर तृप्त नहीं हो रहे थे (**अनिशं भुंजमानानां न तृप्तिरुपलभ्यते**, १।१४।१३)। इस वृहद भोज में विभिन्न देशों से आये नर-नारी भी संमिलित थे। भंडारी लोग अपने सेवकों से यही कहते हुए सुने जाते थे कि **दीयतां दीयतामन्नम्**, अन्न बांटते जाओ, भोजन परोसते जाओ। क्या आश्चर्य यदि कवि को वहां कोई भूखा-प्यासा या थका-मांदा व्यक्ति नजर न आता—**न तेष्वहःसु श्रान्तो वा क्षुधितो वा न दृश्यते** (१।१४।११)।

नैमिषारण्य में हुए राम के अश्वमेध-महोत्सव में भी आगत-अभ्यागतों के भोजन का वृहद आयोजन किया गया था। उनके लिए एक लाख बैलों पर चावल, दस हजार बैलों पर तिल, मूंग, चना, कुलथी, उड़द और नमक, इसी प्रमाण से घी-तेल और सुगंधित द्रव्य, तथा रास्ते में दूकानें लगानेवाले बनिये, रसोइये और नौकर-चाकर भेजे गए थे। संयोजकों की ओर से अतिथियों के प्रति कैसी उदारता बरती गई थी, इसका वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—"महात्मा राम के उस अविस्मरणीय समारोह में एक ही वाक्य सुना जाता था—**छन्दतो देहि विस्रब्धो यावत्तुष्यन्ति याचकाः**—जब तक याचक संतुष्ट न हों, उनकी इच्छानुसार दिये जाओ। अधिकारी लोग मांगनेवालों को इष्ट वस्तुएं देने में इतनी तत्परता दिखाते थे कि जब तक याचक के मुंह से शब्द निकलते, तब तक वे झट दे ही देते थे। वहां गुड़ और शक्कर के अनेक तरह के रुचिकर व्यंजन बने थे। उस यज्ञ में कोई मलिन, दीन या दुर्बल नहीं दिखाई पड़ता था। जिसको सोने की जरूरत होती उसने सोना पाया, जो रत्न चाहता उसने रत्न, जो वस्त्र चाहता उसने वस्त्र और जो अन्न चाहता उसने अन्न पाया। अहर्निश ये चीजें दी जाती थीं। उनकी वहां ढेरियां पड़ी हुई थीं। जहां देखो वहीं राक्षस और वानर हाथों में दान की वस्तुएं लिये और उन्हें याचकों को देते हुए दृष्टिगोचर होते थे। ऐसा यज्ञ न तो इंद्र का, न चंद्र का, न यम का और न वरुण का ही पहले कभी देखा गया" (७।९१-२)।

राम के यौवराज्याभिषेक के अवसर पर एक लाख द्विजों को प्रीति-भोज देने की योजना बनाई गई थी, जैसाकि राज्याधिकारियों को दी गई वसिष्ठ की इस आज्ञा से प्रकट है—

प्रशस्तमन्नं गुणवद्दधिक्षीरोपसेचनम्।
द्विजानां शतसाहस्रं यत्प्रकामफलं भवेत्॥२।३।१४-१५

अर्थात आप लोग दही, दूध, घी आदि से संयुक्त अत्यंत उत्तम एवं गुणकारी भोजन तैयार कराइए, जिससे एक लाख ब्राह्मण तृप्त हो सकें।

महाराज विश्वामित्र और उनकी सेना के संमान में महर्षि वसिष्ठ ने जो शाही दावत दी थी, उसका वर्णन भी कम प्रभावोत्पादक नहीं है। वहां 'पट्‌रस भोजनों में जिसको जो पसंद होता, उसके लिए वही प्रस्तुत था। गरम-गरम भात की ढेरियां लगी हुई थीं। सफाई के साथ वने हुए स्वादिष्ट अन्न और दाल तैयार थे। दही की तो नदियां ही वह रही थीं। भांति-भांति के सुस्वादु रस, गुड़-शक्कर की मिठाइयां तथा मधु-मैरेय के श्रेष्ठ आसव मौजूद थे। चांदी की हजारों भरी हुई थालियां सजी हुई थीं' (१।५३।१-४)।

सबसे अधिक कौतूहलजनक और वैभवशाली भोज वह था, जो महर्षि भरद्वाज ने भरत और उनकी सेना के स्वागत में अपने आश्रम में दिया था। वहां स्वादिष्ट खीर के मानो कुएं, रायते, दही, दूध और ख़ीर के मानो तालाव तथा यंत्रों से खींचे गए मैरेय आदि मद्य की मानो वावलियां भरी पड़ी थीं। सेना के साथ आये हाथियों, घोड़ों, ऊंटों और वैलों को ईख और मधु मिला हुआ लावा खाने को दिया गया। सैनिकों के लिए भेड़ों, वकरों और शूकरों के मांस से ढेरों श्रेष्ठ व्यंजन वनाये गए थे। वे फलों के रस में भी पकाये गए थे। मृग, मयूर और मुर्गे का मांस कुछ अग्नि पर पकाया गया था और कुछ खपरियों में भूना गया था। अनगिनत सुवर्ण के वर्तन, व्यंजनों से पूर्ण थालियां तथा गंध-रस-युक्त दालों और उत्तम प्रकार के भात से भरे हुए पात्र रखे थे। इन पात्रों में शोभा के लिए पुष्पों से वनी हुई ध्वजाएं खड़ी की गई थीं। ऐसे अमृत-तुल्य अन्न का भोजन कर चुकने पर भी भरत के सैनिकों को उन दिव्य पदार्थों को देखकर फिर भोजन करने की इच्छा हो गई। रक्त चंदन से विभूषित और अप्सराओं से संयुक्त होकर वे कहने लगे कि अव हम न अयोध्या जाना चाहते हैं और न दंडक-वन—**नैवायोध्यां गमिष्यामो न गमिष्याम दण्डकान्** (२।९७।५९)।

सार्वजनिक भोजनों में आमंत्रित व्यक्तियों के प्रति शिष्ट और सौजन्यपूर्ण व्यवहार किया जाता था। आगत-अभ्यागत चाहे नागरिक हों या ग्रामीण, उन्हें सुस्वादु भोजन विधिपूर्वक और प्रीतिपूर्ण चित्त से **(प्रीतियुक्तेन चेतसा)** परोसा जाता था; भोजन कराने में किसी प्रकार का अनादर या उपेक्षा का भाव नहीं वरता जाता था, जैसाकि सामूहिक अवसरों पर प्रायः देखा जाता

है।[1] स्नेह या द्वेषवश किसी अतिथि का अपमान नहीं किया जाता था।[2] सारे समारोह का सुव्यवस्थित ढंग से संचालन, खाद्य और पेय पदार्थों का वैभव-प्रदर्शन और उदारतापूर्वक वितरण, तथा सेवक-अनुचरों का सत्कारपूर्ण व्यवहार—ये सभी अतिथियों के हृदय में हर्ष, उल्लास, तृप्ति और संयोजकों के प्रति कृतज्ञता के भाव भर देते थे। भोजन की समाप्ति पर अतिथियों का अपने सत्कारक के प्रति आभार प्रकट करना, स्वादिष्ट भोजन की प्रशंसा करना, आवश्यक शिष्टाचार माना जाता था। भरत ने भरद्वाज के प्रति और विश्वामित्र ने वसिष्ठ के प्रति सुंदर भोजन खिलाने के लिए कृतज्ञता प्रकट की थी। इसी प्रकार दशरथ के यहां भी अन्न-पान से परितुष्ट ब्राह्मण लोग रसोई के स्वाद की बड़ाई करते थे। **अहो तृप्ताः स्म भद्रं ते**, 'अहो, हम तृप्त हुए, आपका मंगल हो,' ये ही शब्द महाराज के कानों में पड़ते थे (१।१४।१७)।

भोजन दिन में तीन वार किया जाता था। सवेरे का भोजन 'प्रातराश' कहलाता था। रावण ने सीता को धमकी दी थी कि यदि तुमने मेरी पर्यंकशायिनी वनने से इन्कार किया तो रसोइये मेरे प्रातःकालीन कलेवे के लिए तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे।[3] दूसरी वार का भोजन दोपहर-वाद किया जाता था। उत्तर-कांड के अनुसार राम अपनी अशोकवनिका में सीता के साथ अपराह्ण का भोजन करते थे।[4] भोजन का अंतिम समय रात का था। रावण के रात्रिकालीन भोजन का सुंदरकांड के ग्यारहवें सर्ग में विस्तार से वर्णन हुआ है। उसके भोजन की सूची में निम्नलिखित पदार्थ उल्लिखित हुए हैं—

१. **मृगाणां महिषाणां वराहाणां च भागशः न्यस्तानि मांसानि**— मृगों, भैंसों और शूकरों के (कच्चे) मांस के कटे हुए टुकड़े;

२. **रौक्मेषु विशालेषु भाजनेषु मयूरान् कुक्कुटान्**—सोने के वड़े पात्रों में मोरों और मृगों का (भुना हुआ) मांस;

---

१. दातव्यमन्नं विधिवत्सत्कृत्य न तु लीलया। १।१३।१४
२. न चावज्ञा प्रयोक्तव्या कामक्रोधवशादपि ।१।१३।१५
३. कालेनानेन नाभ्येषि यदि मां चारुहासिनि। ततस्त्वां प्रातराशार्थं सूदाश्छे-त्स्यन्ति लेशशः ॥३।५६।२५
४. ७।४१।२; ७।४२।१८-२०

३. वराहवाध्रीणसकान् दधिसौवर्चलायुतान् शल्यान् मृगमयूरान्—दही और नमक-मिश्रित शूकर, वाध्रीणस (एक प्रकार का पक्षी या वकरा), साही, हरिण और मोर का मांस;

४. कृकलान् विविधांश्छागाञ्छशकान् महिषानेकशल्यांश्च कृतनिष्ठितान्—कृकल पक्षी, अनेक प्रकार के वकरे, खरगोश, भैंसे और एकशल्य मछली का भली भांति पकाया हुआ मांस;

५. लेह्यान्—चटनियां;

६. उच्चावचान् पेयान् भोज्यान्—विविध पेय और नमकीन-मीठे पदार्थ;

७. अम्ललवणोत्तंसै रागखांडवैः—खट्टे, नमकीन और तीखे रागखांडव;

८. विविधैः फलैः—भांति-भांति के फल; तथा

९. शर्करासवमाध्वीकाः पुष्पासवफलासवाः वासचूर्णैश्च विविधैर्मृष्टास्तैस्तैः पृथक्पृथक्—अनेक प्रकार के सुगंधित मसालों से सुवासित शर्करा, मधु, पुष्प, फल आदि के आसव।

रसोइया 'सूद' या 'सूपकार' कहलाता था।[1] उससे यह अपेक्षा की जाती थी कि वह चवाने, निगलने, चूसने और चाटने के सभी आमिष और निरामिष खाद्य-पदार्थों को वनाने में प्रवीण हो। राजा कल्माषपाद का रसोइया 'संस्कार-कुशल' अर्थात भोजन का संस्कार करने में, उसे स्वादिष्ट वनाने में निपुण था (७।६५।२२)। प्रतीत होता है, उस समय के राजकुमार भी पाक-कला से अनभिज्ञ नहीं होते थे। लक्ष्मण स्वयं एक कुशल रसोइया थे। वह मांस और मछली के सुस्वादु पदार्थ वना सकते थे। इसकी दाद स्वयं कवंध ने दी थी (३।७३।१६)। वनवास में वही राम और सीता के लिए भोजन वनाते थे। मृग का मांस वह खुली आंच में पकाया करते थे।[2]

भोजन परोसते समय रसोइये सुंदर वस्त्र और आभूषणों से सज्जित रहते थे। दशरथ के अश्वमेध-समारोह में ब्राह्मणों को अलंकृत पुरुषों ने भोजन परोसा था और इनकी सहायता दूसरे मणि-जटित कुंडलधारी सेवक कर रहे

---

१. ३।५६।२५; २।८०।३

२. स लक्ष्मणः कृष्णमृगं हत्वा मेध्यं प्रतापवान्। अथ चिक्षेप सौमित्रिः समिद्धे जातवेदसि ॥२।५६।२६

थे।[1] अयोध्या में जब राम को भोजन कराने का समय होता, तब कुंडल-धारी रसोइये प्रसन्न मन से उन्हें उत्तमोत्तम खाद्य और पेय पदार्थ परोसने में होड़-सी लगाया करते थे।[2] भोजन परोसने को 'परिवेषण' कहा जाता था (७।९१।२८)।

पाक-विद्या में प्रगति समाज की उन्नति की सूचक है। जिन खाद्य-पदार्थों का ऊपर उल्लेख किया गया है, वे इस बात के प्रमाण हैं कि रामायण-काल में आर्यों ने पाक-विद्या में बड़ी उन्नति कर ली थी। पका हुआ अन्न 'सिद्ध' या 'भक्त' कहलाता था। निर्धारित विधि या शैली से भोजन तैयार करने को बड़ा महत्व दिया जाता था। दशरथ के अश्वमेध-यज्ञ में जिन पक्वान्नों से अयोध्या की प्रजा को तृप्त किया गया था, वे सभी विधिवत बनाये गए थे। रावण के भोजनालय में निपुण सूदों द्वारा विविध प्रकार की शैलियों में भली भांति पकाये हुए मांस के अनेक पदार्थ पृथक-पृथक पड़े थे।[3]

जिस प्रकार खाद्य-पदार्थ चार प्रकार के बनाये जाते थे, उसी प्रकार भोजन में मीठा, खट्टा, नमकीन, कड़वा, तीता और कसैला, इन छः रसों (षट्रस) का समा-वेश किया जाता था। वसिष्ठ ने अपनी कामधेनु गौ से प्रार्थना की कि विश्वा-मित्र के विभिन्न रुचिवाले सैनिकों के लिए षट्रस से युक्त ऐसा भोजन प्रस्तुत करो कि जो जिस रस का पदार्थ चाहे उसे वही प्राप्त हो जाय।[4] रसोइये इस बात का ध्यान रखते थे कि विभिन्न खाद्य-पदार्थों में से प्रत्येक में किसी एक रस का संचार अवश्य रहे, जिससे सभीको अपनी अभीप्सित वस्तु मिल सके। चार प्रकार के पक्वान्नों को षट्रस से युक्त बनाने में भारतीय रसोइयों की निपुणता चिर काल से प्रसिद्ध रही है।

---

१. स्वलंकृताश्च पुरुषा ब्राह्मणान्पर्यवेषयन्। उपासन्ते च तानन्ये सुमृष्टमणि-कुण्डलाः॥१।१४।१८

२. यस्य चाहारसमये सूदाः कुण्डलधारिणः। अहंपूर्वाः पचन्ति स्म प्रसन्नाः पान-भोजनम्॥२।१२।९६

३. बहुप्रकारैर्विविधैर्वरसंस्कारसंस्कृतैः। मांसैः कुशलसंयुक्तैः..॥५।११।२१-२

४. यस्य यस्य यथाकामं षड्रसेष्वभिपूजितम्। तत्सर्वं कामधुग्दिव्ये अभिवर्ष कृते मम॥१।५२।२२

खाने, पीने, रसोई तथा घर-गृहस्थी के इन बर्तन-भांडों का रामायण में उल्लेख आया है—

अरणि (६।१११।११६)—अग्नि उत्पन्न करने की लकड़ी।

उलूखल (६।१११।११५)—ऊखल।

करंभी (२।९१।७२)—दही मथने का वर्तन।

कलश (२।६३।३८)—कलसा।

कांस्य-दोहन (१।७२।२३)—कांसे का दूध दुहने का पात्र।

कुंभि (२।९१।७२)—सुराही, छोटा घड़ा।

दारुपात्र (६।१११।११६)—काठ की हांडी।

द्रोणि (७।७५।२)—कठौती।

पात्र (२।९१।७०)—भोजन-पात्र, तश्तरी।

पात्री (१।१६।१४)—अन्न-संग्रह करने के वड़े-वड़े भांड़े।

पान-भाजन (५।११।१९)—पीने का प्याला, कटोरी।

पिटक (२।३१।२५)—फल-मूल रखने की बांस की पिटारी।

पिठर (२।९१।७०)—कढ़ाई।

भाजन (२।९१।३५)—पेय पदार्थ संग्रह करने के वर्तन, पानी के घड़े।

मंजूषा आयसी (१।६७।५)—लोहे की संदूक।

मंथन (१।४५।१८)—मथानी।

मुसल (६।१११।११६) मूसल।

योक्त्र (१।४५।१८)—मथने की रस्सी।

लौही (२।९१।६८)—तांवे या लोहे के वने रसोई के वर्तन।

स्थाली (२।९१।७०,७२)—थाली, व्यंजन-पात्र।

प्राचीन आर्यों की दृष्टि में भोजन करना एक पावन कर्म था, जो अर्थ या काम की अपेक्षा धर्म से ही अधिक संवंधित था। वह मात्र रसनेंद्रिय की तृप्ति का साधन न होकर देवताओं का भक्तियुक्त नैवेद्य तथा अतिथियों, मित्रों और वंधु-वांधवों का प्रीतिपूर्ण आहार था। भोक्ता की दृष्टि से वह केवल 'प्राणधारण', जीवन-निर्वाह का सहारा-भर था। औरों को हिस्सा दिये विना भोजन कर लेना अनुचित था। चित्रकूट पर राम ने भरत से पूछा था—

कच्चित्स्वादुकृतं भोज्यमेको नाश्नासि राघव।
कच्चिदाशंसमानेभ्यो मित्रेभ्यो सम्प्रयच्छसि ॥२।१००।७५

'तुम स्वादिष्ट भोजन अकेले ही तो नहीं कर लेते ? उसे इष्ट-मित्रों को भी देते हो ?' अतिथि, पत्नी, पुत्र, सेवक आदि को वंचित रखकर घर में अकेले ही भोजन का आस्वादन करना एक नीचतापूर्ण कार्य था, जिसके पाप का भागी भरत ने उस व्यक्ति को बनाया था, जिसने राम को वन में भिजवाया हो।[1]

भोजन ग्रहण करने से पूर्व आर्यों का भूतों को प्रसाद चढ़ाना, वलिवैश्वदेव करना भी इस वात का प्रमाण है कि वे खाने के प्रश्न को समर्पण-भाव से देखते थे। उस अन्न-बहुल युग में भारतीयों का आतिथ्य-प्रेमी होना स्वाभाविक था। चित्रकूट पर अपनी नव-निर्मित कुटी में प्रवेश करने से पूर्व राम ने भूतों को फल-मूल और पके हरिण-मांस से तर्पित किया, तत्पश्चात लक्ष्मण और सीता के साथ भोजन किया था।[2] पायस, कृसर और वकरे का मांस देवताओं को चढ़ाये विना खाना अनुचित था।[3] स्वयं निराहार रहकर दूसरे की क्षुवा शांत करना भारत में सदा से एक पुण्य-कर्म माना जाता रहा है। विश्वामित्र के वारे में यह कहा जाता है कि अपने तपस्या-काल में कई दिन निराहार रहकर जव एक दिन उन्होंने खाने के लिए भोजन परोसा, तव इंद्र व्राह्मण-वेश में आकर उनसे वह मांग वैठे, और मुनि ने उनको वह सव उठाकर दे दिया (१।६५।५-६)।

सभी प्रकार के पीने योग्य पदार्थों को 'पेय' या 'पान' की संज्ञा दी जाती थी। मुख्य पेय ये थे—जल, गोरस (दूध), कपित्थ (मट्ठा), आसव, मधु और मदिरा।

भारतीयों की परंपरागत मान्यता के अनुसार जल समस्त प्राणियों का जीवन है—**पानीयं प्राणिनः प्राणाः**। वह सारे पेयों में सर्वाधिक निर्दोष एवं शुद्ध

---

१. पुत्रैर्दासैश्च भृत्यैश्च स्वगृहे परिवारितः। स एको मृष्टमश्नातु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥२।७५।३४

२. फलैर्मूलैः पक्वैर्मांसैर्यथाविधि। तौ तर्पयित्वा भूतानि राघवौ सह सीतया ॥ तदा विविशतुः शालां सुशुभां शुभलक्षणौ।२।५६।३३

३. पायसं कृसरं छागं वृथा (परमात्मसमर्पणमन्तरा) सोऽश्नातु निर्घृणः। यस्यार्योऽनुमते गतः ॥२।७५।३०

है—राजा और तपस्वी दोनों के लिए समान रूप से आह्लादकारी। वनवास-काल में रात के समय कई वार निरा जल राम का एक-मात्र अवलंब सिद्ध हुआ था।[1] पंपा सरोवर की भूरि प्रशंसा करते हुए कवंध ने राम से कहा था कि उसके कमल-सुवासित, पवित्र, सुखकारी, नीरोग, चांदी और स्फटिक-जैसे शुभ्र-शीतल जल को लक्ष्मण कमल के पत्ते में भरकर आपको पिलायंगे।[2] महर्षि भरद्वाज ने अपने अतिथियों को ईख के रस-जैसा मधुर-शीतल जल पिलाया था (**इक्षुकाण्डरसोपमम्**)। उनके आश्रम में 'प्रतिपान-ह्रद' नाम से पहचाने जानेवाले तालाव थे, जिनके पानी में खाये हुए अन्न को पचाने की शक्ति थी (२।९१।७७)। पीने का पानी दूषित करना लोगों को विष खिलाने के समान गर्हित था—**पानीयदूषके पापं तथैव विषदायके** (२।७५।५६)।

फलों का रस सुवासित एवं मधुर बनाकर एक पेय के रूप में सेवन किया जाता था। रावण की पान-भूमि में सुगंधित पुष्पासव, फलासव और शर्करासव का भंडार प्रस्तुत था। वसिष्ठ ने विश्वामित्र का ईख, मधु, मैरेय आदि के वरासवों से आतिथ्य किया था।[3]

मधु या शहद का भी एक पेय के रूप में प्रचलन था। वसिष्ठ और भरद्वाज दोनों के आश्रमों में अभ्यागतों के लिए मधु प्रस्तुत था। महाराज दशरथ को आशा थी कि अरण्यों में शिकार खेलते, नाना नदियों को देखते और जंगली शहद पीते हुए राम को अपने राज्य की याद ही नहीं आयगी।[4] मधु निषादों और वानरों का एक सामान्य पेय था। गुह ने अन्य खाद्य-पदार्थों के साथ भरत को मधु भी भेंट किया था। सीतान्वेषण और लंकाभियान पर जाते समय वानर सुरम्य, सुगंधित

---

१. जलमेवाददे भोज्यं लक्ष्मणेनाहृतं स्वयम्।२।५०।४९; २।४६।१० भी देखिए।

२. पद्मगन्धि शिवं वारि सुखशीतमनामयम्। उद्धृत्य स तदा विलष्टं रूप्यस्फटिक-संनिभम्॥ अथ पुष्करपर्णेन लक्ष्मणः पाययिष्यति।३।७३।१७-८

३. इक्षून्मधूंस्तथा लाजान्मैरेयांश्च वरासवान्। पानानि च महार्हाणि...॥ १।५३।२

४. निघ्नन्मृगान्कुंजरांश्च पिबंश्चारण्यकं मधु। नदीश्च विविधाः पश्यन्न राज्यं संस्मरिष्यति॥२।३६।६

वनों में मधु-पान करते जाते थे।[1] दक्षिण दिशा में गए हुए वानरों ने, सीता का पता लगाकर, मधु-वन में छककर मधु-पान किया था (५।६१।११-३)। दही, घी, जल और शर्करा के साथ शहद मिलाकर 'मधुपर्क' नामक स्वादिष्ट पेय बनाया जाता था (७।३३।९)। शहद को मादक बनाने के लिए उसे विकृत करते या सड़ाते थे और तब उसे 'मधु-रस' (५।११।३२) या 'माध्वीक' (५।११।२३) कहते थे। मधु से 'मधु-मैरेय' नामक सुरा बनाई जाती थी, जिसका रामायण में कई बार उल्लेख आया है।

शराब के लिए रामायण में 'सुरा', 'मदिरा' और 'मद्य' शब्द आये हैं। शराब खींचने की कला भली भांति ज्ञात थी। इस प्रकार तैयार की गई शराब 'कृतसुरा' कहलाती थी (५।११।२२)। 'मैरेय' सुगंधित या मसालेदार शराब को कहते थे (४।३३।७)। 'सीधु' नाम की सुरा गुड़ से तैयार की जाती थी (५।११।३२)। फलों, फूलों और शर्करा से भी शराब खींची जाती थी। 'मंड' शराब का नशीला हिस्सा था। 'पीतमंड' उस शराब को कहते थे, खुली रहने से जिसका मादक अंश नष्ट हो चुका हो। ऐसी शराब कोई पीना नहीं चाहता था (२।३६।१२)। 'सौवीरक' एक साधारण कोटि की शराब थी (३।४७।७५), जिसका उत्पादन संभवतः प्रसिद्ध प्राचीन बंदरगाह सौवीर में होता था। 'वारुणी' सबसे तेज नशीली सुरा थी, जो खजूर के रस में विशेष पौधों को पीस कर खींची जाती थी। उसकी मादकता उसे पीते ही मनुष्य को अभिभूत कर देती थी। सीता ने रावण के दुराग्रह की उपमा वारुणी के सद्यः संमोहक प्रभाव से दी है (**मां मोहयति दुष्टात्मा पीतमात्रेव वारुणी,** ६।३४।८)। वाल्मीकि ने वारुणी के दो प्रकार बताये हैं, 'मधु-वारुणी' और 'अग्रच-वारुणी' (६।१२।४०)। कृत-सुरा की तुलना में सुरा नैसर्गिक विकारजन्य मदिरा थी। वह जनता का पेय रही होगी, क्योंकि उसकी ओर कवि ने बारंबार संकेत किया है। महंगी और बढ़िया किस्म की शराब 'सुराग्रच' कहलाती थी (३।४७।४५)। भरद्वाज-आश्रम में भरत के सैनिकों को भली भांति तैयार की गई (सुनिष्ठित) सुरा पिलाई गई थी।[2]

---

१. पिबन्तो मधुमैरेयं भीमवेगाः प्लवङ्गमाः। वनेषु च सुरम्येषु सुगन्धिषु महत्सु च ॥४।३७।७-८; भक्षयन्तः सुगन्धीनि मधूनि च फलानि च।६।४।२७

२. अन्याः स्रवन्तु मैरेयं सुरामन्याः सुनिष्ठिताम्।२।९१।१५

सुरा-पान का व्यापक प्रचलन दीख पड़ता है। सभी वर्गों के लोग—आर्य अनार्य, नर-नारी—मद्य-पान करते थे। कैकेयी के प्रति अनुरक्त दशरथ अपने को उस मनुष्य के समान मानते थे, जो सुंदर किंतु विष-मिश्रित शराब पी जाता है—**रूपिणीं विषसंयुक्तां पीत्वेव मदिरां नरः** (२।१२।७६)। अयोध्या में चारों ओर वारुणी की गंध आया करती थी, पर राम के वियोग में वीरान बनी उस नगरी में वह लुप्त हो गई थी।[1] वानर-राजधानी किष्किंधा के राजपथ मधु-मैरेय की सुवास से परिपूर्ण थे (**मैरेयाणां मधूनां च संमोदितमहापथाम्**, ४।३३।७)। सभी देश-कालों के सैनिकों के समान रामायणकालीन सैनिक भी सुरा-पान में आसक्त थे। जब सुग्रीव ने लंका में आग लगाई, तब वहां के सैनिक सीधु शराब पिये हुए थे, उनकी आंखें नशे में चंचल हो रही थीं और पैर लड़खड़ा रहे थे (**सीधुपानचलाक्षाणां मदविह्वलगामिनाम्**, ६।७५।१५)। सैनिकों के लिए शराब बलवर्धक पेय थी (**पानं बलसमीरणम्**, ६।६०।९७), तो शराबियों के लिए **सर्व-शोक-विनाशिनी** (५।२४।४४)। पर्वताकार राक्षस वज्रहनु ने डींग हांकते हुए अपने साथियों से कहा था कि मैं अकेला ही वानरी सेना का काम तमाम कर दूंगा, आप लोग तो मधु-वारुणी पीकर निश्चितता से विहार करें।[2] सुग्रीव ने पत्नी और राज्य को पुनः प्राप्त कर सुरा, सुंदरी और संगीत के रसास्वादन में मानो अपने को खो दिया था।

वन-यात्रा में गंगा और यमुना पार करते समय सीता ने इन नदी-देवताओं से प्रार्थना की थी कि पति के साथ चौदह वर्ष के वनवास से सकुशल लौटने पर मैं तुम्हें सुरा के एक सहस्र घड़े और चावल-मांस के पक्वान्न भेंट चढ़ाऊंगी।[3] क्योंकि लोग देवताओं को उन्हीं पदार्थों का भोग लगाते हैं, जो वे स्वयं खाते हैं (**यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः**, २।१०३।३०), अतः स्पष्ट है, स्त्रियां भी मांस-मदिरा का सेवन करती थीं। उत्तरकांड में स्वयं काकुत्स्थ राम अपने हाथ से सीता को मधु-मैरेय सुरा वैसे ही पिलाते हुए चित्रित किये गए हैं जैसे इंद्र इंद्राणी

---

१. वारुणी मदगन्धश्च न प्रवाति समन्ततः।२।११४।२०

२. स्वस्थाः क्रीडन्तु निश्चिन्ताः पिबन्तु मधुवारुणम्।६।८।२३

३. सुराघटसहस्रेण...यक्ष्ये त्वां प्रीयतां देवि।२।५२।८९; यक्ष्ये त्वां...सुराघटशतेन च।२।५५।२०

को पिलाते हैं[1] (चित्र २१); और इस रस-विभोर दंपती का मनोरंजन कर रही

चित्र २१—अजंता का एक मधु-पान दृश्य, जो वाल्मीकि के वर्णन से बहुत मेल रखता है (गुप्त-वाकाटक, पांचवीं शताब्दी ई०)

थीं, नृत्य-गीत-विशारदा अप्सराएं, नाग-बालाएं और किन्नरियां, और ये भी पान-वशंगताः, शराब के नशे में छकी हुई थीं।[2] रावण बार-बार सीता को मदिरा

---

१. सीतामादाय हस्तेन मधुमैरेयकं शुचि। पाययामास काकुत्स्थः शचीमिव पुरन्दरः ॥७।४२।१८-९

२. दक्षिणा रूपवत्यश्च स्त्रियः पानवशं गताः...उपानृत्यन्त...। मनोभिरामा रामास्ता रामो रमयतां वरः ॥७।४२।२१-२

पीने और जीवन के सुखों का उपभोग करने के लिए प्रलोभित करता था,[1] पर सीता की दृष्टि में राम और रावण में उतना ही महान अंतर था, जितना श्रेष्ठ सुरा और घटिया दारू में—

सुराग्र्यसौवीरकयोर्यदन्तरं
तदन्तरं दाशरथेस्तवैव च ।३।४७।४५

मदिरा-गृहों का अस्तित्व भी लोगों में सुरा-पान का प्रचार सूचित करता है। मदिरा-गृह को पान-भूमि कहते थे। उसे वाल्मीकि ने अस्त-व्यस्त आमोद-प्रमोद के अड्डे के रूप में अंकित किया है। सामान्यतः पान-भूमि में निम्न वर्ग के लोग एकत्र होते थे और उन्हें 'शराव' अर्थात मिट्टी के सरवों में मदिरा पिलाई जाती थी। शराबियों के लिए मनोरंजन के विविध साधन प्रस्तुत रहते थे। पान-भूमि का एक स्पष्ट चित्र किष्किंधाकांड में किये गए वन-सौंदर्य के रूपकात्मक वर्णन के आधार पर खींचा जा सकता है। वर्षा-ऋतु में पुष्पों से सुवासित और पक्षियों की ध्वनि से निनादित वन-भूमि एक कलवार की दूकान की तरह प्रतीत हो रही थी, जिसमें जल और ओस-कणों से भरे पुष्प-समूह सुरा-पात्र, पुष्पों का रस सुरा, मोरों का नाचना और गाना शराबियों का नृत्य-गान, मदमाते हाथी नशे में चूर और प्रलाप करनेवाले शरावी, तथा मयूर नर्तक थे (४।२८।३३-४)। अयोध्या की एक 'असंस्कृता पान-भूमि' का वर्णन वाल्मीकि ने भरत के मुख से कराया है। दशरथ और राम से वियुक्त कोसल-राजधानी की दयनीय दशा को देखकर भरत उसकी समता ऐसे शरावखाने से करते हैं, जिसमें सब प्रकार के उत्तमोत्तम मद्य समाप्त हो चुके हैं, जिसमें फर्श पर टूटे हुए मद्य-पात्र बिखरे पड़े हैं, शराबियों ने जिसका परित्याग कर दिया है तथा कूड़े-करकट से जो घिनौनी दिखाई दे रही है।[2]

रावण की पान-भूमि में हनुमान को शराबियों की निपट निर्लज्जता दृष्टिगोचर हुई थी। नशे में चूर राक्षस मतवाले होकर क्या-क्या ऊधम मचा रहे थे, इसका वाल्मीकि ने कैसा काव्यात्मक वर्णन किया है—

---

१. भुङ्क्ष्व भोगान्यथाकामं पिब भीरु रमस्व च ।५।२०।२३; ५।२०।३५ भी देखिए।

२. क्षीणपानोत्तमैर्भग्नैः शरावैरभिसंवृताम्। हतशौण्डामिव ध्वस्तां पानभूमिमसंस्कृताम् ।।२।११४।१४

परस्परं चाधिकमाक्षिपन्ति भुजांश्च पीनानधिविक्षिपन्ति।
मत्तप्रलापानधिविक्षिपन्ति मत्तानि चान्योन्यमधिक्षिपन्ति॥
रक्षांसि वक्षांसि च विक्षिपन्ति गात्राणि कान्तासु च विक्षिपन्ति।
रूपाणि चित्राणि च विक्षिपन्ति दृढानि चापानि च विक्षिपन्ति॥५।५।११-२

इन दोनों छंदों का श्री गोपाल शर्मा-कृत व्रजभाषा में रूपांतर देखिए —

अतिपीन भुज झटकारि राक्षस वाद कोलाहल करैं।
वहु व्यर्थ भार्षाहं मत्त होइ कोउ डपटि मत्तहिं मुद भरैं॥
कोउ रजनिचर निज छाति ठोकहिं कोउ तिया संग रमि रहे।
वहु धरहिं रूप विचित्र कोउ निज धनुष टंकारहिं गहे॥[1]

लंका की पान-भूमि कई कक्षों में विभाजित और सभी प्रकार के आमिष-निरामिष व्यंजनों से संपन्न थी। वहां विभिन्न प्रकार की दिव्य, स्वच्छ सुरा-कृतसुरा पृथक-पृथक सजी रखी थीं। सुवर्ण के कलश, स्फटिक और रत्न के पात्र तथा कांचन के सरवे शराबियों के लिए प्रस्तुत थे। इन पात्रों में कुछ तो लबालब भरे थे, कुछ आधे खाली और कुछ बिलकुल पिये जा चुके थे। कहीं पीने के पात्र, हार, नूपुर और बिजायठ फेंके हुए पड़े थे, कहीं प्यालों में अनेक प्रकार के फल पड़े थे तो कहीं फूल बिखरे हुए थे। इनसे वह पान-भूमि शोभा-संपन्न हो रही थी। सुवर्ण और रत्नों से रचित अनेक प्रकार के पलंग, चौकी और सोने-बैठने के शयनासन जहां-तहां रखे थे। कहीं भक्ष्य पदार्थ अधखाये पड़े थे। शीतल चंदन, मद्य, मालाओं, पुष्पों तथा सुगंधित धूम की गंध से सुवासित मनोहर वायु वहां प्रवाहित हो रही थी (५।११)।

यह स्मरण रखना चाहिए कि मद्य और मांस का प्रचलन प्रमाणित करनेवाले इन प्रचुर प्रसंगों में अधिकांश क्षेपक-मात्र हैं। यह नहीं भूलना चाहिए कि किसी ग्रंथ में किसी दुर्व्यसन की चर्चा आ जाने का यह अर्थ नहीं है कि उसमें उसका समर्थन किया गया है। चोरी, डाका, वेश्या-वृत्ति, सुरा-पान, छल-कपट आदि सभी युगों में होते आये हैं, ग्रंथों में उनकी विशद चर्चा भी होती आई है, किंतु साहि-

---

१. देखिए इंडियन प्रेस से प्रकाशित वाल्मीकि-रामायण का हिंदी भाषानुवाद, १९२७, पूर्वार्द्ध, पृष्ठ ५०४।

त्यकारों और युग-निर्माताओं ने उनका विरोध करने में ही अपने जीवन की सार्थकता मानी है। रामायण में ऐसे स्थलों की कमी नहीं, जहां मद्य-पान की निंदा, शराबियों की भर्त्सना और सुरा-त्याग की प्रशंसा की गई है। सुरा से विराग सदा सात्विक जीवन का चिह्न माना जाता था। जिस तरह सीता के वियोग में राम को मधु-मांस से कोई प्रयोजन नहीं था, उसी तरह सीता भी उनके विरह में पान और शृंगार से दूर रहती थीं।[१] लोक-निंदा के भय से ब्राह्मण लोग कभी सुरा-सेवन नहीं करते थे।[२] सुरा-पान को सर्वत्र 'ग्राम्य-सुख' (४।३०।७०) अर्थात गंवारों का शौक माना गया है और उसकी गणना 'दशवर्ग' (राजाओं के वर्जित दस दोषों) में की गई है (२।१००।६८)। 'मदविह्वलांगी' तारा के नग्न वर्णन के तुरंत बाद ही कवि ने लक्ष्मण द्वारा सुरा की बुराई करवाई है। उन्होंने कहा—

न हि धर्मार्थसिद्धयर्थं पानमेव प्रशस्यते।
पानादर्थश्च कामश्च धर्मश्च परिहीयते॥४।३३।४६

अर्थात धर्म और अर्थ की सिद्धि के लिए सुरा-पान प्रशंसनीय नहीं है, उससे धर्म-अर्थ-काम तीनों ही भ्रष्ट हो जाते हैं। शराबी सुग्रीव को फटकारते हुए लक्ष्मण ने सुरापों को ब्रह्महत्यारों, चोरों और व्रत-भंग करनेवालों के समकक्ष रखा था—**गोघ्ने चैव सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा** (४।३४।१२)। राम ने भी सुग्रीव के प्रति न्याय्य रोष प्रकट किया था, क्योंकि सुरा और सुंदरी में आसक्त होकर उसने सीता को ढूंढ़ने की अपनी प्रतिज्ञा भुला दी थी।

---

१. न रामेण वियुक्ता सा स्वप्तुमर्हति भामिनी। न भोक्तुं नाप्यलंकर्तुं न पानमुपसेवितुम्॥५।११।२

२. तुलना कीजिए—अनार्य इति मामार्याः पुत्रविक्रायकं ध्रुवम्। विकरिष्यन्ति रथ्यासु सुरापं ब्राह्मणं यथा॥२।१२।७८

: ५ :

क्रीड़ा-विनोद

सामान्य पाठक को रामायण व्यावहारिक अथवा धर्म-निरपेक्ष रचना न प्रतीत होकर ऐसी कृति लगती है, जिसमें शांतिप्रियता, धर्मभीरुता, सात्त्विकता, संयम आदि का ही प्रमुख स्वर हो। उसका ध्यान आदि-काव्य के उन स्थलों की ओर बहुत कम जाता है, जो तत्कालीन आर्यों के समृद्ध भौतिक जीवन की ओर इंगित करते हैं। सच पूछा जाय तो प्राचीन भारतीय संस्कृति के बारे में यह जो भ्रांत धारणा है, कि वह विशुद्ध आध्यात्मिक और सर्वथा पारलौकिक एवं अव्यावहारिक थी, रामायण के सूक्ष्म अध्ययन से इसका निराकरण हो जाता है। सांसारिक विषयों में आर्य कितना रस लेते थे, अपने क्षणभंगुर जीवन से अधिक-से-अधिक सुख प्राप्त करने में, उसे सामाजिक और सुविधापूर्ण बनाने में कितना उत्साह रखते थे—इसकी प्रचुर सामग्री वाल्मीकि ने अपनी रामायण में प्रस्तुत की है।

राम और वाल्मीकि के युग में लोगों को ऐहिक सुख-सुविधाएं पर्याप्त उपलब्ध थीं। राष्ट्र पर समृद्धि का जो वितान छाया हुआ था और फलतः समाज में जो वैभव और विलास मुखरित था, वह विभिन्न प्रकार के मनोविनोदों और क्रीड़ा-कौतुकों के प्रोत्साहन और प्रचलन के लिए अनुकूल था। उस समय के नृपति और श्रेष्ठि-वर्ग ने आमोद-प्रमोद और शान-शौकत का ऐसा ठाठ कायम कर लिया था, जो हमें आज भी चकाचौंध कर देने में समर्थ है। वैदिक काल के अधिकांश यज्ञ-यागों ने रामायण-काल में आकर इतना वृहत्काय और सामूहिक रूप धारण कर लिया कि जनसाधारण के लिए उनका समारोह अत्यंत प्रभावशाली और अनुरंजनकारी सिद्ध होने लगा। उस समय के सुनियोजित और वैभवशाली नगर, चित्र-विचित्र और संपत्ति-युक्त प्रासाद, समृद्धि से जगमगाते राजकीय दर-

वार जिनमें दास-दासियां सेवा के लिए प्रस्तुत रहतीं, नट और नर्तक, रंगस्थलियां, क्रीड़ा-शैल और आराम-विहार, चमकदार वेशकीमती वस्त्राभूषण तथा सुगंध-युक्त प्रसाधन-सामग्री इन सबका प्रचलन यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि रामायणकालीन आर्य जीवन के वरदानों का उपभोग करने में तत्पर रहते थे।

आमोद-प्रमोद में सार्वजनीन अभिरुचि थी। उस युग की तीन प्रमुख राज-धानियां——अयोध्या, किष्किंधा और लंका——सभी तरह से आकर्षण का केंद्र और मनोरंजन की रम्यस्थलियां थीं। अयोध्या के निवासी हृष्ट और प्रमुदित थे; उनमें ऐसा कोई नहीं था, जिसे अल्प भोग प्राप्त हों।[1] वहां के राजमार्गों पर संपन्न नागरिकों का वेगवान घोड़ों से जुते पुष्प-रथों पर सवार होकर विहारार्थ जाते हुए दीख पड़ना सामान्य दृश्य था।[2] क्रीड़ा के लिए उद्यानों में भ्रमण, उप-नगरों की रथ-यात्रा, हाथी-घोड़ों की सवारी आदि मनोविनोद के सामान्य प्रचलित साधन थे। स्त्रियों को भी मनोरंजन के भरपूर साधन और अवसर प्राप्त थे। चित्र-विचित्र मालाएं, चंदन, अगुरु, विविध प्रकार के वस्त्र, दिव्य आभरण, बहुमूल्य खान-पान, शयनासन, गीत, नृत्य, वाद्य आदि का उपभोग करने में वे स्वतंत्र थीं (५।२०।९-१०)।

सामाजिक उत्सवों का समारोह राष्ट्र के संवर्धन का साधक माना जाता था।[3] अयोध्या के नर-नारी प्रसन्न मुद्रा में रहते थे, सामाजिक उत्सव उनमें हर्ष का संचार करते थे।[4] सामूहिक भोजों, विशेष कर धार्मिक समारोहों के अवसर प्रचुर मात्रा में आते रहते थे। विशिष्ट घटनाओं को भी अनुरूप उत्साह और भव्यता से मनाया जाता था। जीवन की एकरसता को दूर करने में ये सभी हाथ बंटाते थे। नवीन राजा के अभिषेकोत्सव पर आमोद-प्रमोद का विशाल पैमाने पर आयो-जन किया जाता। गणिकाएं, नट-नर्तक, पुरोहित, सेनाध्यक्ष, व्यापारी, नागरिक,

---

१. तस्मिन् पुरवरे हृष्टाः (नराः); नाल्पभोगवान्।१।६।६,१०

२. नाराजके जनपदे हृष्टैः परमवाजिभिः। नराः संयान्ति सहसा रथैश्च प्रति-मण्डिताः॥२।६७।२५

३. उत्सवाश्च समाजाश्च वर्धन्ते राष्ट्रवर्धनाः।२।६७।१५

४. प्रहृष्टनरनारीकः समाजोत्सवशोभितः।२।१००।४४

ग्रामीण—सब राजपथों और प्रासादों में एकत्र होकर आनंदोत्सव में मग्न हो जाते थे।[1]

रामायण में इंद्रध्वज नाम के सामाजिक महोत्सव का वार-बार उल्लेख आया है। अवश्य ही यह एक सार्वजनिक एवं लोकप्रिय समारोह रहा होगा। इसमें इंद्र की ध्वजा आश्विन-पूर्णिमा के सात दिन पहले से रस्सियों के सहारे स्थापित की जाती थी। प्रतिदिन उसे वड़े उत्साह से फहराया जाता और पूर्णिमा के दिन रस्सियां खोलकर जमीन पर पटक दिया जाता था। यह ध्वजा चित्र-विचित्र और अलंकारों से सज्जित होती तथा आकस्मिकता से गिरा दी जाती थी। इंद्रध्वज का उपमान के रूप में अनेक वार उपयोग हुआ है। जव इंद्रजित के पैने वाणों से राम-लक्ष्मण का अंग-प्रत्यंग क्षत-विक्षत हो गया, तव प्रतीत होता था मानो वे इंद्र की दो ध्वजाएं हों, जो रस्सियों के टूट जाने से कांप रही हों।[2] जिस प्रकार आश्विन मास में पौर्णमासी के दिन इंद्रध्वज पृथ्वी पर वेग से गिर जाता है, उसी प्रकार राम के वाण से आहत होकर वाली वड़े वेग से धराशायी हो गया।[3] विराध राक्षस शक्रध्वज के समान वड़ा शूल लेकर राम-लक्ष्मण को मारने के लिए दौड़ा था (शूलं शक्रध्वजोपमम्)। इससे जान पड़ता है कि इंद्रध्वज वड़ा विशाल और भारी-भरकम होता था। कैकेयी के मुख से भरत ने जव राम के वन-गमन का दुःसंवाद सुना, तव वह माता को कोसते हुए जमीन पर गिर पड़े, मानो उत्सव की समाप्ति पर शचीपति इंद्र की ध्वजा नीचे गिर पड़ी हो—

> वभूव भूमौ पतितो नृपात्मजः
> शचीपतेः केतुरिवोत्सवक्षये।२।७४।३६

यह उत्सव किस प्रकार मनाया जाता था, इसका सविस्तर वर्णन रामायण में नहीं पाया जाता, फिर भी अन्य सूत्रों से यह अनुमान होता है कि वह एक शरत्कालीन कृषि-महोत्सव था, जिसमें फसल की कटाई के समय पके धान के सुनहरे खेतों में एक ध्वजा गाड़ दी जाती और उसे इंद्र का प्रतीक मान लिया जाता था।

---

१. देखिए—अयोध्याकांड, सर्ग ३, ४, १५

२. ध्वजाविव महेन्द्रस्य रज्जुमुक्तौ प्रकम्पितौ।६।४५।१७

३. इन्द्रध्वज इवोद्धूतः पौर्णमास्यां महीतले। आश्वयुक्समये मासि...।४।१६।३

उसकी पूजा करके अच्छी वर्षा और फसल प्रदान करने के उपलक्ष्य में इंद्र के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की जाती थी। इस अवसर पर नर-नारी नृत्य, गान और आमोद-प्रमोद द्वारा अपने उल्लास एवं हर्षातिरेक को अभिव्यक्त करते थे। इंद्रध्वज-महोत्सव वर्तमान भारत के होली-उत्सव तथा यूरोप के 'मे पोल फेस्टिवल' से बहुत मेल खाता है।[१]

नगरों में मनोरंजन-स्थलों को 'समाज' की संज्ञा दी जाती थी, जहां धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक विषयों पर विचार-विमर्श होता था तथा नृत्य, संगीत, द्यूत आदि क्रीड़ा-विनोद के साधन उपलब्ध थे।[२] राम ने कोसल-राज्य को 'समाजोत्सवशोभित:' बताया है (२।१००।४४)। हास्य-विनोद के सार्वजनिक स्थल 'गोष्ठी' कहलाते थे। केकय में खिन्नमन भरत के मनोरंजनार्थ जो अनेक आयोजन किये गए थे, उनमें हास्य-गोष्ठियां भी थीं।[३] बौद्ध और जैन साहित्य में समाजों का वर्णन आता है। वात्स्यायन ने अपने समय में प्रचलित गोष्ठियों का विस्तृत ब्योरा 'कामसूत्र' में दिया है। भास के और संस्कृत के अन्य नाटकों में, काव्यों में तथा विशाल भाण-साहित्य में गोष्ठियों के प्रचुर वर्णन मिलते हैं। समाज और गोष्ठी प्राचीन भारतीयों के सामाजिक मनोरंजनों के प्रतीक थे, जिनका स्थान आजकल 'क्लबों' ने ले लिया है।

परंपरा से चली आती कथाएं सुनना-सुनाना भी विश्राम या मनोरंजन का एक सुलभ प्रकार था। ऐसी कथाओं का विशाल संग्रह वनवासी ऋषि-मुनियों के मस्तिष्क में विद्यमान था। विश्वामित्र ने राम को प्राचीन कथाएं सुनाकर मनोरंजन और ज्ञानवर्धन का दोहरा लाभ पहुंचाया था।[४] कई बार तो उन्हें

---

१. विस्तार के लिए देखिए लेखक का लेख 'भारतीय किसानों का शरत्कालीन त्योहार इंद्रध्वज-महोत्सव' ('साप्ताहिक हिंदुस्तान', २ नवम्बर, १९५२)।

२. त्रिदिवनाथ राय—'इनडोर एंड आउटडोर गेम्स इन एन्श्यंट इंडिया', (भारतीय इतिहास कांग्रेस का विवरण, १९३९, पृष्ठ ३६१)।

३. स तैर्महात्मा भरतः सखिभिः प्रियवोधिभिः। गोष्ठीहास्यानि कुर्वद्भिर्न प्राहृष्यत राघवः॥२।६८।५

४. कथाभिरभिरामाभिरभिरामौ नृपात्मजौ। रमयामास धर्मात्मा कौशिको मुनिपुंगवः॥१।२३।२२

कथाएं कहते-कहते आधी रात बीत जाती थी।[1] इस प्रकार की कथाओं और आख्यानों का अधिकांश बालकांड और उत्तरकांड में पाया जाता है।

कथाकारों के अतिरिक्त उन दिनों हास्यकार भी हुआ करते थे, जिनका काम राजाओं की खिन्नता को अपने हँसी-मजाक से दूर करना था। उत्तरकांड में राम की सभा में हास्यकार मौजूद थे (७।४३।१-३)। श्रमहारी उक्तियों में चतुर दरबारी 'वादिन्य:' कहलाते थे। दशरथ ने ऐसे लोगों को राम के साथ वन जाने का भी आदेश दिया था।[2] स्वयं राम अनुरंजनकारी कलाओं में निष्णात थे (वैहारिकाणां शिल्पानां विज्ञाता, २।१।२८)।

कौसल्या के राजप्रासाद में प्रसन्नता छाई रहती थी।[3] महलों के निवासियों के विनोदार्थ पालतू पशु-पक्षी, पिंजड़ों में मैनाएं, क्रीड़ाशील मयूर आदि रखे जाते थे। राम से सुवर्ण-मृग को पकड़ लाने की प्रार्थना करते हुए सीता ने यह तर्क दिया था कि वह हमारे अंत:पुर की शोभा बढ़ायगा।[4] तोता-मैनाओं को तरह-तरह की बातें कहने की प्रशिक्षा देने में अंत:पुर की रमणियां विशेष अभिरुचि लेती थीं। वन में पहुंचने पर राम को माता कौसल्या की उस सारिका की याद हो आई थी, जो अपने तोते से कहा करती थी—शुक पादमरेर्दंश—"हे शुक, वैरी के पैर को काट ले" (२।५३।२२)। राम का महल तोतों के शब्दों से गुंजित रहता था (२।८८।७)।

द्यूत अर्थात जुए की प्राचीनतम खेलों में गिनती की जाती है और भारतीयों का तो वह चिरकालीन व्यसन रहा है। रामायण में 'ऋग्वेद' या 'महाभारत' की तरह जुए का विशद वर्णन नहीं मिलता, इसलिए उससे उस समय के जुआरियों के वास्तविक जीवन का पर्याप्त आभास नहीं हो पाता। फिर भी कतिपय संकेतों से द्यूत के प्रचार-प्रसार की असंदिग्ध सूचना मिलती है।

रामायण में 'धूर्त' शब्द अपने मूल जुआरी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (५।९।

---

१. गतोऽर्धरात्र: काकुत्स्थ कथा: कथयतो मम।१।३४।१४

२. वादिन्य: (रमणीयवचनशीला:, परचित्ताकर्षणचतुरवचना:) शोभयन्तु कुमारस्य वाहिनी: सुप्रसारिता:।२।६३।३

३. प्रविश्य वेश्मातिभृशं मुदा युतम्।२।१९।४०

४. अन्त:पुरे विभूषार्थो मृग एष भविष्यति।३।४३।१७

३१)। 'ऋग्वेद' में भी धूर्त का जुआरी के अर्थ में प्रयोग हुआ है। बाद में जाकर धूर्त का अर्थ मक्कार या बेईमान हो गया।

द्यूत-क्रीड़ा से संबंधित तीन और शब्द रामायण में आये हैं—'अक्ष' (२।७५। ४१), 'देवन' (५।९।३१) और 'पण' (६।६१।४)। अक्ष का अर्थ है पांसा। पांसों से जुआ खेलना देवन कहा जाता था तथा पण उस वस्तु को कहते थे, जो दांव पर लगाई जाती थी।

एक स्थल पर वाल्मीकि ने हारे हुए जुआरियों की दयनीय दशा का उपमा के रूप में वर्णन किया है। अशोकवाटिका के वर्णन में वह कहते हैं कि वहां के वृक्षों के पत्ते, पुष्प और फल वैसे ही झड़ गए थे, जैसे हारे हुए जुआरी कर्ज चुकाने के लिए अपने कपड़े-गहने छोड़ बैठते हैं—

निर्धूतपत्रशिखराः शीर्णपुष्पफलद्रुमाः।
निक्षिप्तवस्त्राभरणा धूर्ता इव पराजिताः॥५।१४।१५

एक अन्य स्थल पर धीमी और स्थिर लौ से जलते हुए लंका के सुवर्ण-द्वीपों की तुलना उन जुआरियों से की गई है, जो महाजुआरियों के हाथों हारने पर गहरी हानि उठा चुके हैं और इस कारण जो उदास होकर सोच-विचार में बैठे हैं—

प्रध्यायत इवापश्यत्प्रदीपांस्तत्र कांचनान्।
धूर्तानिव महाधूर्तैर्देवनेन पराजितान्॥५।९।३१

जुए के प्रति शासन का रुख निंदात्मक ही था। द्यूत में आसक्ति उन दस व्यसनों के अंतर्गत मानी गई थी, जो राजा के लिए वर्जित हैं। इस आसक्ति की सबसे तीव्र निंदा भरत के मुख से हुई है, जिन्होंने कौसल्या से कहा था कि पांसों के फेर में पड़े रहने से मनुष्य को जो पाप लगता है, वह मुझे लगे, यदि मेरी अनुमति से राम वन गए हों।[1]

परंपरा के अनुसार यह माना जाता है कि लंकाधिपति रावण ने शतरंज के खेल का आविष्कार किया था।[2] किंतु वाल्मीकि-रामायण में रावण द्वारा शतरंज खेले जाने का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। कुछ ऐसा भी कहते हैं कि रावण

---

१. मद्यप्रसक्तो भवतु स्त्रीष्वक्षेषु नित्यशः।...यस्यार्योऽनुमते गतः॥२।७५।४१
२. रणजीत सीताराम पंडित—'राजतरंगिणी', पृष्ठ ५४२।

को सैन्य-व्यूह-रचना समझाने के लिए मंदोदरी ने उसका आविष्कार किया था, किंतु यह भी साधार नहीं।

रामायण में शतरंज-संबंधी इन दो शब्दों का प्रयोग हुआ है—'अष्टापद' और 'चतुरंगवल', जिनसे शतरंज के प्रचार का अनुमान लगाया जा सकता है।

अयोध्या की नगर-रचना का वर्णन करते हुए वाल्मीकि कहते हैं कि वह अष्टापद के आकार में बसी हुई थी—अष्टापदाकारा (१।५।१६)। यह अष्टापद एक प्रकार का जुए का खेल होता था, जो आजकल चतुरंग या शतरंज के नाम से प्रसिद्ध है।[1] रामायण के तिलक टीकाकार ने अष्टापद का अर्थ द्यूतफलक अर्थात शतरंज की गद्दी किया है। 'दीघनिकाय' नामक बौद्ध ग्रंथ के टीकाकार बुद्धघोष ने अपनी 'सुमंगलविलासिनी' टीका में अष्टापद शब्द की व्याख्या करते हुए उसे एक प्रकार का खेल बताया है, जिसमें आठ पंक्तियोंवाली एक गद्दी होती है और प्रत्येक पंक्ति में आठ खाने होते हैं। इस प्रकार अष्टापद शब्द का व्यवहार शतरंज के प्रचार का सूचक है।

रामायण-काल में सेना के चार विभाग होने लग गए थे—रथ, हाथी, घोड़े और पैदल। अतएव सेना के लिए 'चतुरंगवल' (चार अंगोंवाली फौज) की संज्ञा प्रयोग में आने लगी थी। सैन्य-व्यवस्था की यह प्रणाली शतरंज के प्राचीन खेल पर आधारित थी, जिसका नाम उस समय 'चतुरंग' ही था, क्योंकि इसमें भी राजा अपने मंत्री के साथ चतुरंगिणी सेना का नेतृत्व करते हुए शत्रु की इसी प्रकार बनी सेना का मुकाबला करता है।[2] टाइलोर नामक पाश्चात्य लेखक का कथन है कि शतरंज के खेल का आविष्कार किसी हिंदू ने किया था, जिसने आठ खानोंवाली गद्दी को युद्ध-क्षेत्र मानकर इस समर-क्रीड़ा को प्रचलित किया।[3] शतरंज खेल के संकेत 'ऋग्वेद', 'अथर्ववेद' तथा बौद्ध और जैन ग्रंथों में भी मिलते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतवासियों में यह खेल बड़ा लोकप्रिय था। भारतवासियों से शतरंज अरबों और ईरानियों ने सीखी, जिन्होंने यूरोप में उसका प्रचार किया।

---

१. त्रिदिवनाथ राय—'इनडोर एंड आउटडोर गेम्स इन एन्श्यंट इंडिया'।
२. वी० आर० रामचंद्र दीक्षितार—'वार इन एन्श्यंट इंडिया', पृ० १३५-६।
३. उपर्युक्त में उद्धृत।

संगीत और वाद्य, इन दोनों रूपों में संगीत का सेवन मनोरंजन का सर्वाधिक प्रमुख साधन था। नागरिक जीवन का वह अभिन्न अंग था। राजा-प्रजा, नर-नारी, आर्य-वानर-राक्षस, समाज के सभी वर्गों में संगीत को प्रश्रय मिलता था। उत्सवों और समारोहों का ही नहीं, नागरिकों के दैनिक जीवन का भी वह एक सामान्य लक्षण था। नगरों में रथों की घरघराहट के साथ-साथ वाद्य-यंत्रों की अनवरत ध्वनि गुंजायमान रहती थी (२।११४।१९-२१)। किष्किंधा, लंका तथा अयोध्या नगरियां संगीत से गुंजित रहती थीं। जब पिता की मृत्यु से अन-भिज्ञ भरत केकय देश से अयोध्या लौटे, तब नगर में वाद्य-यंत्रों की गूंज बंद पाकर उन्हें आश्चर्य हुआ था।[1]

राजाओं का जीवन संगीत की माधुरी से परिप्लावित रहता था। दशरथ, राम, भरत और रावण प्रतिदिन पौ फटते ही वाद्य-यंत्रों की ध्वनि तथा सूतों और मागधों की स्तुतियों से जगाये जाते थे।[2] राजकीय जुलूसों में संगीतज्ञ आगे-आगे चला करते थे।[3] रावण अपनी राज्य-सभा में हजारों शंख और तुर-हियों की ध्वनि के बीच जाया करता था।[4] सुग्रीव के प्रासाद में लक्ष्मण को समान ताल, पद और अक्षरवाले सुमधुर गीत सुनाई पड़े थे, जिनमें तंत्री-वादन द्वारा लय रखा जा रहा था।[5] रावण की अंत्येष्टि के समय भी वाद्य-यंत्र बजाये गए थे।[6]

---

१. भेरीमृदंगवीणानां कोणसंघट्टितः पुनः। किमद्य शब्दो विरतः सदादीन-गतिः पुरा ॥२।७१।२९

२. देखिए—२।६५।१-४; २।८८।८; २।८१।१-२; ५।१८।३

३. स पुरोगामिभिस्तूर्यैस्तालस्वस्तिकपाणिभिः। प्रव्याहरद्भिर्मुदितैर्मंगलानि वृतो ययौ ॥६।१२८।३७

४. ततः तूर्यसहस्राणां संजज्ञे निःस्वनो महान्। तुमुलः शंखशब्दश्च सभां गच्छति रावणे ॥६।११।९

५. प्रविशन्नेव सततं शुश्राव मधुरस्वनम्। तन्त्रीगीतसमाकीर्णं समतालपदाक्षरम् ॥ ४।३३।२१

६. रावणं राक्षसाधीशमश्रुपूर्णमुखा द्विजाः। तूर्यघोषैश्च विविधैः स्तुवद्भिश्चाभि-नन्दितम् ॥६।१११।१०८

वनवास से लौटने पर राम का कुशल वादकों ने शंख और दुंदुभियों से स्वागत किया था।[1]

प्राचीन भारतीय युद्धों में भी संगीत का व्यवहार होता था। युद्ध-संगीत को 'युद्ध-गांधर्वम्' कहते थे (६।५२।५४)। युद्ध और शांति दोनों कालों में सेनाएं बाजे-गाजे के साथ कूच करती थीं। भेरी-वादन सैनिकों के लिए रण-निमंत्रण का सूचक था।[2] युद्ध के आरंभ और मध्य में तथा विजय-प्राप्ति के बाद संगीत का प्रयोग होता था। नाग-पाशों से राम-लक्ष्मण के मुक्त हो जाने पर उनके सैनिकों ने शंख, मृदंग और भेरी बजाकर हर्ष प्रकट किया था (६।५०।६१-२)।

संगीत का प्रेम नागरिकों की भांति वनवासी तपस्वियों में भी समान रूप से प्रसारित था। सप्तर्षियों के आश्रम में राम को दिव्य गंध का अनुभव होने के साथ-साथ तूर्य का घोष तथा गीतों की मधुर ध्वनि भी सुनाई पड़ी थी (४।१३।२२)। भरद्वाज-आश्रम में भरत की सेना के स्वागतार्थ समवेत संगीत का अपूर्व आयोजन हुआ था (२।९१।२५-७, ४९-५१)। उत्तरकांड में वर्णन आता है कि लवणासुर के पराभव के बाद जब शत्रुघ्न अपनी सेना-सहित मार्ग में वाल्मीकि-आश्रम में ठहरे, तब वाल्मीकि ने अपने अतिथियों को संस्कृत वाणी में रचित 'रामचरितम्' के मधुर गान से आप्यायित किया था। इस रामचरित में श्री राम के पूर्व-चरित्र काव्यबद्ध किये गए थे। यह काव्य-गान वीणा के लय के साथ तथा व्याकरण और संगीत-शास्त्र के लक्षणों के अनुसार गानोचित ताल के साथ गाया गया था। इस अद्भुत गान को सुनकर शत्रुघ्न मूर्च्छित-से हो गए, उनके नेत्रों में जल भर आया और वह बार-बार लंबी सांसें लेने लगे। उस गान में उन्होंने बीती हुई बातों को वर्तमान की तरह सुना, मानो कोई स्वप्न दिखाई दे रहा हो (७।७१।१४-२०)। ऋषि-मंडलियों में भी यह रामायण-गान भावोद्रेक, विस्मय, साधुवाद एवं प्रभूत प्रशस्ति का जनक होता था (१।४)।

धार्मिक कृत्यों में संगीत अनिवार्य रूप से प्रयुक्त होता था। जब भरत को राम के अयोध्या लौटने का संवाद मिला, तब उन्होंने यह आज्ञा जारी की कि

---

१. सर्वे वादित्रकुशलाः. .अभिनिर्यान्तु रामस्य द्रष्टुं शशिनिभं मुखम्।६।१२७।३-५; २१

२. शीघ्रं भेरीनिनादेन स्फुटं कोणाहतेन मे। समानयध्व सैन्यानि. . ।।६।३२।४३

शुद्धाचारी पुरुष कुल-देवताओं तथा नगर के सभी देव-स्थानों का सुगंधित पुष्पों और गाजे-बाजे के साथ पूजन करें।[1]

स्त्रियों का संगीत विशेष आकर्षक होता था, क्योंकि स्वर की कोमलता के कारण वे ऊंचे स्वर में आलाप ले सकती थीं। राम से बिछुड़ी हुई सीता को देखकर वाल्मीकि को ऐसी वीणा की याद आ जाती है, जिसका बहुत दिनों से स्पर्श न किया गया हो, जिसका रूप बिगड़ गया हो और जो उपेक्षित दशा में कोने में पड़ी हो।[2]

स्त्रियों के आभूषणों की संगीत-ध्वनि की ओर वाल्मीकि ने बार-बार ध्यान आकर्षित किया है। राम के वनवास से लौटने पर भरत ने उनसे कहा था कि अब आप नगाड़ों की ध्वनि, करधनियों और नूपुरों की झनझन और मधुर गीतों का शब्द सुनते-सुनते सोइए और जागिए।[3] लंका नगरी नगाड़ों और आभरणों के शब्दों से गूंजती रहती थी—**तूर्याभरणनिर्घोषैः सर्वतः परिनादिताम्** (५।३।११)। रावण के महल में कहीं नूपुरों की छमछम, कहीं करधनियों की झनकार, कहीं मृदंग की गमक तो कहीं ताल का घोष सुनाई पड़ता था। आभूषणों से निकलनेवाली संगीत-ध्वनि स्त्रियों की लीलापूर्ण गति पर भी निर्भर करती होगी।

वाद्य-यंत्रों को परंपरा से चार भागों में विभाजित किया जाता है—'तत' (तारवाले), 'आनद्ध' (ढोल की तरह पीटे जानेवाले), 'सुषिर' (सांस से संचालित) और 'घन' (बजाये जानेवाले)। तारवाले वाद्य-यंत्रों में सहचर-संगीत, स्वर और गति की दृष्टि से वीणा सबसे लोकप्रिय थी (चित्र २२)। तारवाले भारतीय वाद्यों में वह सबसे प्राचीन और श्रेष्ठ है। मुड़ी गरदन, नितंब, स्तन और चूड़ियों के कारण वीणा के आकार की तुलना नारी-शरीर से की जाती

---

१. दैवतानि च सर्वाणि चैत्यानि नगरस्य च। सुगन्धमाल्यैर्वादित्रैरर्चन्तु शुचयो नराः ॥६।१२७।२

२. क्लिष्टरूपामसंस्पर्शादयुक्तामिव वल्लकीम्। स तां भर्तृहिते युक्तामयुक्तां रक्षसां वशे ॥५।१७।२३

३. तूर्यसंघातनिर्घोषैः काञ्चीनूपुरनिःस्वनैः। मधुरैर्गीतशब्दैश्च प्रतिबुध्यस्व शेष्व च ॥६।१२८।१०

है। वीणा में छः तार होते थे, जिन्हें एक कोण से वजाया जाता था। इस
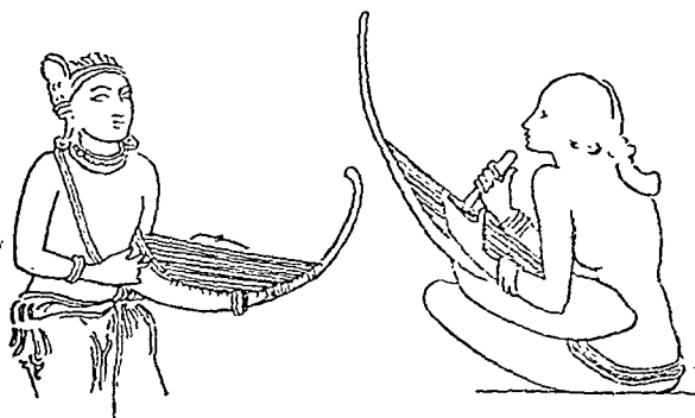
चित्र २२अ—बीननुमा वीणा तथा कोण से बजनेवाली वीणा (अमरावती, दूसरी शताब्दी ई०)

क्रिया को 'कोणाघात' कहते थे। सात तारोंवाली वीणा 'विपंची वीणा' कह-

चित्र २२ब—सारंगीनुमा वीणा (अमरावती)

लाती थी (५। १०। ४१)। 'वल्लकी' एक विशेष प्रकार की वीणा होती थी (५।१७।२३)।

आनद्ध या पीटे जानेवाले वाद्यों में विविध प्रकार के ढोल और नगाड़े शामिल थे (चित्र २३)। भेरी एक प्रकार का युद्ध का नगाड़ा था, जिसके द्वारा सेना में

उत्साह का संचार किया जाता था। अन्य ढोलों में आडंबर, चेलिका, डिंडिम,
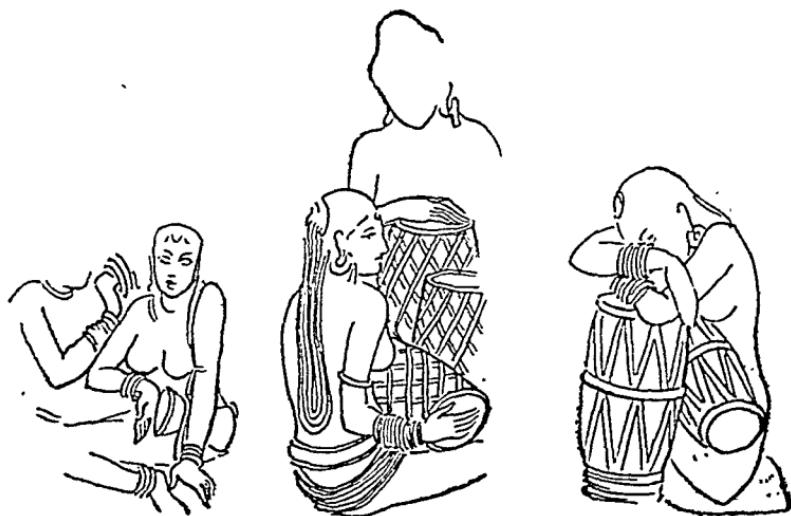
चित्र २३—अंक्य, आलिंग्य और ऊर्ध्व मृदंग (अमरावती)

दुंदुभि, मड्डुक, मृदंग, मुरज, मेघ, पणव और पटह (चित्र २४) के नाम आये हैं। कुंभ और कलशी मिट्टी से बने वाद्य थे।

चित्र २४—पटह और प्रातःकाल-नांदी-पटह (अमरावती)

मुंह से बजाये जानेवाले वाद्यों में वेणु या वंश (बांसुरी) सर्वाधिक सुविधापूर्ण और मधुर था (चित्र २५)। तूर्य (तुरही) का भी काफी व्यवहार था। शंख राजाज्ञा घोषित करने के लिए बजाया जाता था (चित्र २६)। हनुमान को

दंडित किये जाने की राजाज्ञा को राक्षसों ने शंख और भेरी बजाकर उद्घोषित किया था।[१] युद्ध-संगीत में शंखों का प्रचुर प्रयोग होता था। अपना दर्प और उत्साह घोषित करने में योद्धागण खूब शंख बजाया करते थे। भेरी और दुंदुभि
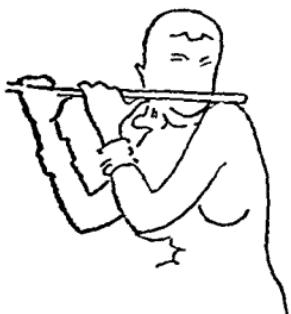
चित्र २५—वेणु (अमरावती)

चित्र २६—शंख (अमरावती)

के साहचर्य में उसका प्रायः उपयोग किया जाता था। शंख-ध्वनि को 'गंभीर और उदात्त' बताया गया है।

धातु-निर्मित वाद्यों में घंट, स्वस्तिक और ताल के नाम उल्लेखनीय हैं।

नृत्य भी संगीत की तरह व्यापक रूप से प्रचलित था। नृत्य में वाद्य-यंत्रों का साहचर्य अवश्य रहता था। उदाहरणार्थ, केकय में भरत का मनोरंजन करने-वालों में कुछ तो नृत्य कर रहे थे और कुछ मधुर वाद्य बजा रहे थे।[२] राम के विवाहोत्सव में अप्सराओं के नृत्य तथा गंधर्वों के सुमधुर गीत करवाये गए थे। उनके जन्मोत्सव एवं राज्याभिषेक पर भी ऐसा ही आयोजन किया गया था। भरद्वाज-आश्रम में भरत के परितृप्त सैनिक मालाएं धारण कर हँसने-नाचने-गाने में विभोर हो उठे थे।[३] इंद्रजित का वध हो जाने पर गंधर्वों और अप्सराओं

---

१. परिगृह्य ययुर्हृष्टा राक्षसाः कपिकुञ्जरम् । शंखभेरीनिनादैश्च घोषयन्तः स्वकर्मभिः ॥५।५३।१७

२. वादयन्ति तथा शान्ति लासयन्त्यपि चापरे।२।६९।४

३. नृत्यन्तश्च हसन्तश्च गायन्तश्चैव सैनिकाः। समन्तात्परिधावन्तो माल्योपेताः सहस्रशः ॥२।९१।६२

ने नृत्य किया था।[१] वाल्मीकि ने जंगल के पेड़ों, वायु, भौंरों और पक्षियों की गति-विधि में संगीत और नृत्य की मनोहर उत्प्रेक्षाएं की हैं।[२]

नाटकों का भी अपना आकर्षण था, भले ही यह संगीत और नृत्य की सीमा तक न रहा हो। ननिहाल में दुःस्वप्न के कारण भरत को खिन्न पाकर मित्रों ने नाटकों द्वारा उनका मनोरंजन करने का प्रयास किया था।[३] अयोध्या के वर्णन में कहा गया है कि वहां स्त्रियों की नाटच-शालाएं वनी हुई थीं।[४] राम 'व्यामिश्रक' अर्थात मिश्र भाषाओं के नाटकों में पारंगत थे (२।१।७)। अभिनेताओं का उल्लेख प्रायः नर्तकों के साथ हुआ है और रामायण में 'नट-नर्तक' का युगल शव्द कई वार प्रयुक्त हुआ है। मवुपुरी पर अभियान करते समय शत्रुघ्न के साथ नट-नर्तक भी गए थे (७।६४।३)। अयोध्या की चौड़ी सड़कें राम के जन्मोत्सव पर नट-नर्तकों से भरी पड़ी थीं।[५] रामायण में 'शैलूष' शव्द का प्रयोग अभिनेता के अर्थ में हुआ है। अभिनेताओं की स्त्रियां प्रायः दुश्चरित्र होती थीं।[६]

नगरों में नागरिकों के मनोरंजन के लिए वाग-वगीचे वने हुए थे। अयोध्या नगरी उद्यानों और आम के वगीचों से युक्त थी (**उद्यानाम्रवणोपेताम्**, १।५।१२)। राक्षसों की राजधानी तो आर्यों की राजवानी से भी अविक क्रीड़ास्थलों और विहार-शैलों से समृद्ध थी। उद्यानों में नर-नारी दोनों ही क्रीड़ा-विनोद के लिए आते थे। अविवाहिता कन्याएं सायंकाल के समय आभूषणों से विभूषित होकर इनमें खेलने-घूमने आती थीं।[७] अयोध्या के उद्यान विलासी लोगों की प्रिय रंगस्थली थे।[८] केकय से लौटने पर भरत ने इन उद्यानों को, जहां प्रणयी

---

१. नृत्यद्भिरप्सरोभिश्च गन्धर्वैश्च महात्मभिः।६।९०।८५
२. देखिए—४।१।१३-५; ४।१।२०; ४।२८।३६
३. नाटकानपरे स्माहुः।२।६९।४
४. वधूनाटकसंघैश्च संयुक्तां सर्वतः पुरीम्।१।५।१२
५. रथ्याश्च जनसम्बाधा नटनर्तकसंकुलाः।१।१८।१८
६. तुलना कीजिए—शैलूष इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छति।२।३०।३८
७. उद्यानानि...सायाह्ने क्रीडितुं यान्ति कुमार्यो हेमभूषिताः।२।६७।१७
८. तुलना कीजिए—उद्यानानि हि सायाह्ने क्रीडित्वोपरतैर्नरैः।२।७७।२२

जन क्रीड़ार्थ एकत्र होते थे, निरानंद, सूना और वीरान पाया था।[1] लंका की अशोकवाटिका रावण की प्रिय विहार-भूमि थी, मन और नेत्रों को लुभानेवाली (**नेत्रमनःकान्तम्**) थी, जिसे देखकर संयमी हनुमान का मन भी मुग्ध हो उठा था (५।१४)। राजाओं के अंतःपुर के साथ उनकी रानियों के विश्राम और विनोद के लिए उद्यान बने रहते थे, जो 'प्रमदवन' कहलाते थे। चित्रकूट पर राम ने सीता का ध्यान विद्याधर रमणियों की लुभावनी विहार-स्थलियों की ओर आकर्पित किया था।[2] जनस्थान में राम की कुटी के पास के प्रदेश सीता के क्रीड़ास्थल बने हुए थे (३।५८।२०)। पंचवटी के आश्रम में क्रीड़ा-रत सीता सारसों की बोली बोलकर उन्हें आकृष्ट किया करती थीं।[3] रावण ने उन्हें 'विलासिनि' अर्थात क्रीड़ाशील रमणी कहकर संबोधित किया था (५।२०।१८)।

उस युग का समाज स्त्रियों को अपने पतियों के साथ वनों और उद्यानों में सैर और आमोद-प्रमोद की पूरी स्वतंत्रता देता था। मंदोदरी रावण की 'क्रीड़ा-सहाय' (६।१११।६३) थी। रंग-बिरंगे वस्त्र और मालाएं धारण कर वह अपने पति के साथ विभिन्न देशों और काननों का भ्रमण करती थी (६।१११।३२-३)। रावण ने सीता को यह न्योता दिया था कि तुम मेरे साथ कांतियुक्त सुवर्ण-हार पहनकर पुष्पित वृक्षों और काले भौंरों से भरे समुद्र-तीरवर्ती वनों में विहार करो।[4] महेंद्र पर्वत की उपत्यकाएं विहारशील मदोन्मत्त गंधर्व-युगलों से सेवित रहती थीं।[5]

---

१. उद्यानानि पुरा भान्ति मत्तप्रमुदितानि च। जनानां रतिसंयोगेष्वत्यन्तगुणवन्ति च॥ तान्येतान्यद्य पश्यामि निरानन्दानि सर्वशः। स्रस्तपर्णैरनुपथं विक्रोशद्भिरिव द्रुमैः॥२।७१।२५-६

२. पश्य विद्याधरस्त्रीणां क्रीडोद्देशान्मनोरमान्।२।९४।१२

३. सारसारावसंनादैः सारसारावनादिनी। याऽऽश्रमे रमते बाला...॥४।३०।७

४. कुसुमिततरुजालसंततानि भ्रमरयुतानि समुद्रतीरजानि। कनकविमलहारभूषितांगी विहर मया सह भीरु काननानि॥५।२०।३६; ५।२४।३५-६ भी देखिए।

५. नानागन्धर्वमिथुनैः पानसंसर्गकर्कशैः। उत्पतद्भिर्विहंगैश्च विद्याधरगणैरपि॥ ४।६७।४५

नगरों और उनके निकटवर्ती स्थानों, राजप्रासादों और उद्यानों में क्रीड़ा-विनोद के लिए ऐसे स्थान वने होते थे, जहां प्राकृतिक वातावरण में लोग अपनी क्लांति और श्रांति दूर करते थे, जैसे 'आक्रीड़' (विहारशैल), 'चित्रगृह', 'दिवा-गृहक' (नागरिक आवासों से दूर वने विहार-स्थल जहां राजा तथा अन्य राजकीय अविकारी क्रीड़ा-विनोद के लिए जाया करते थे), 'कदलीगृहक', 'कामस्य गृहकं रम्यम्' (मनोरंजन के रमणीय स्थान), 'क्रीड़ागृहक', 'कूटागार' (स्त्रियों के लिए विहारस्थली), 'लतागृह', 'निष्कुट' (घर के निकट वना विहार-स्थान), 'पुष्प-गृह', 'विहार' (नगर से एक कोस की दूरी पर स्थित कुंज) और 'वर्धमानगृह' (क्रीड़ागृह) ।[१]

राम के अनुसार मृगया राजाओं की क्रीड़ा थी (४।१८।३८-४०); राज-षियों के मनोविनोदार्थ उसे जारी किया गया था।[२] वर्षा-ऋतु शिकारियों के लिए वड़ी लुभावनी सिद्ध होती थी। कोसल-राज्य की सीमा पार करते समय राम ने वड़ी उत्सुकता से कहा था कि अव मैं सरयू के पुष्पित वनों में लौटकर कव मृगया खेलूंगा।[३] स्वर्ण-मृग के वध का औचित्य वताते हुए राम ने लक्ष्मण से कहा था कि राजा लोगों का हरिणों को मारने में दोहरा उद्देश्य होता है—विनोद और मांस-प्राप्ति।[४] ऐसा नहीं था कि राम इस क्रीड़ा में निहित क्रूरता से अनभिज्ञ थे; उन्होंने विनम्रतापूर्वक यह निवेदन किया था कि मैं यह खेल लघु मात्रा में ही पसंद करता हूं और मृगया-प्रेम को तो राजर्षियों की भी संमति और स्वीकृति प्राप्त है।[५]

---

१. क्रमशः देखिए—५।२।१२; ५।१२।१; ५।६।३७; ५।६।३७; ५।१२।१५; ३।४२।२३; ५।६।३७; ५।१२।१३; १।५।१५; ५।१२।१; ५।१२।१४; ५।१२।१३; २।६०।१३; २।१७।१८

२. राजर्षीणां हि लोकेऽस्मिन् रत्यर्थं मृगया वने।२।४९।१६

३. कदाहं पुनरागम्य सरय्वाः पुष्पिते वने। मृगयां पर्यटिष्यामि...॥२।४९।१४

४. मांसहेतोरपि मृगान्विहारार्थं च धन्विनः। घ्नन्ति लक्ष्मण राजानो मृगयायां महावने॥३।४३।३१

५. नात्यर्थमभिकांक्षामि मृगयां सरयूवने। रतिर्ह्येषातुला लोके राजर्षिगण-संमता॥२।४९।१५

वन्य पशुओं का वाणों से संहार किया जाता था। हरिण पाशों से पकड़े या वाणों से मारे जाते थे। संगीत से लुभाकर भी उन्हें जालों में फांस लिया जाता था।[1] हरिणों के शिकार में कुत्तों का प्रयोग किया जाता था। अशोकवाटिका में राक्षसियों से घिरी सीता उस हरिणी के समान थीं, जो अपने झुंड से बिछुड़कर कुत्तों से घिर जाती है—**मृगयूथपरिभ्रष्टां मृगीं श्वभिरिवावृताम्** (३।५५।५)। हाथियों का विषैले वाणों से शिकार किया जाता था (**दिग्धैरिव गजाङ्गना**)। दशरथ ने अंधमुनि के पुत्र को हाथी की भ्रांति से एक ऐसे चमकते वाण से मार डाला था, जो सांप के विप की तरह घातक था।[2] हाथियों को तिनकों से ढके गड्ढों में गिराकर भी पकड़ लिया जाता था।[3] वाद के धर्म-शास्त्रों के अनुसार हाथियों का वध वर्जित है।

कंदुक-क्रीड़ा का प्रचार, जैसाकि वाद के संस्कृत साहित्य से ज्ञात होता है, स्त्रियों में रहा होगा। इसका उल्लेख रावण और सुग्रीव के द्वंद्व-युद्ध के वर्णन में उपमा-रूप में आया है। रावण के धक्का देने पर सुग्रीव ने गेंद की तरह उछलकर उसे पटक लगाई थी—**कन्दुवत् स समुत्याय वाहुभ्यामक्षिपद्धरिः** (६।४०।१३)। नदियों और तालावों में स्त्रियों के साथ जल-विहार भी एक सामान्यतः प्रचलित विनोद था। इस प्रकार की क्रीड़ाओं का वर्णन अधिकतर उत्तरकांड में आता है।

मल्ल-विद्या भी भारत का एक अत्यंत प्राचीन मनोरंजन है। वल-वृद्धि का वह एक वीरोचित साधन थी। पेशेवर मल्ल लोग राजाओं की छत्रछाया में रहते थे। पशुओं से भी कुश्ती लड़कर उन्हें मार गिराने का वर्णन मिलता है। अयोध्या के महारथी सिंह, वाघ और वराह-जैसे जंगली जानवरों को वाहु-युद्ध में पछाड़ देते थे।[4] राम के पास मल्लों की एक चुनी हुई टुकड़ी थी, जिनके साथ वह कुश्ती का आनंद लिया करते थे। जव राम वन जाने लगे, तव दशरथ ने आज्ञा दी कि जो

---

१. **गीतशब्देन संरुध्य लुब्धो मृगमिवावधीः** ।२।१२।७७

२. **ततोऽहं शरमुद्धृत्य दीप्तमाशीविषोपमम्। शब्दं प्रति गजप्रेप्सुरभिलक्ष्यमपातयम्** ॥२।६३।२३

३. **समाससादाप्रतिमं रणे कपिं गजो महाकूपमिवावृतं तृणैः** ।५।४७।२०

४. **सिंहव्याघ्रवराहाणां मत्तानां नदतां वने। हन्तारो निशितैः शस्त्रैर्वलाद् वाहुवलैरपि** ॥१।५।२१

मल्ल राम के आश्रित हैं और जिनके साथ वह वीरतापूर्वक क्रीड़ा किया करते हैं, उन्हें बहुत-सा इनाम देकर राम के विनोद के लिए वन में साथ भेजा जाय—

ये चैनमुपजीवन्ति रमते यैश्च वीर्यतः।
तेषां बहुविधं दत्त्वा तानप्यत्र नियोजय॥२।३६।४

कुश्तीबाजों के बीच मध्यस्थ का काम करनेवाला 'प्राश्निक' कहलाता था (३।२७।४)।

रामायणकालीन क्रीड़ा-विनोद के उपर्युक्त विवरण से कई निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं, जो उनके मूल में निहित मानसिक प्रवृत्तियों तथा सामाजिक दृष्टिकोण पर प्रकाश डालते हैं।

सर्वप्रथम, मनोरंजन के उक्त सभी प्रकार तत्कालीन आर्यों के सामूहिक एवं समवेत जीवन के परिचायक हैं। दूसरे, उन सभी क्रीड़ाओं में, जिनमें व्यर्थ की प्राणि-हत्या होती थी, संयम और नियंत्रण का आग्रह रहता था। मृगया के प्रति राम का प्रगाढ़ उत्साह तो था, पर निर्दोष प्राणियों पर इस प्रकार की जानेवाली क्रूरता का भी उन्हें बहुत-कुछ भान था। आश्रमों के निकट वह इस क्रूर क्रीड़ा से बचे रहने का ध्यान रखते थे (३।७।२०-२२)। उस युग के नैतिक आदर्श ने मृगया में अतीव आसक्ति को राजाओं के दस दुर्गुणों (दशवर्ग) के अंतर्गत मानकर यह विधान दिया था कि पशुओं की निरंतर हत्या करनेवाले नरकगामी बनते हैं।[१] इसी प्रकार द्यूत, सुरा-पान, संगीत और नृत्य में अत्यधिक आसक्ति भी श्रेष्ठ पुरुषों की दृष्टि में हेय थी। भौतिक विषय-भोगों के सीमित उपभोग का मध्यम मार्ग ही समीचीन और वरेण्य माना जाता था। तीसरे, मनोरंजन के उन साधनों का समाज दृढ़ता से विरोध करता था, जो किसी एक व्यक्ति के विकृत आनंद के स्रोत हों, पर समाज के लिए हानिकारक हों। जब महाराज सगर का मूर्ख पुत्र असमंज सड़कों से बच्चों को उठाकर सरयू में फेंकने में ही अपना आनंद मानने लगा, तब नागरिकों ने उसका डटकर विरोध किया और उसे राज्य से बाहर निकलवाकर ही दम लिया (२।३८।१९-२४)। अंत में, यह भी दर्शनीय है कि वाल्मीकि ने एक ओर सुरुचिपूर्ण, सात्विक और संयत मनोविनोद तथा दूसरी ओर वैषयिक, ऐंद्रिक और लोलुप कामादिक क्रीड़ाओं या वासनाओं के बीच एक

---

१. राजहा ब्रह्महा गोघ्नश्चोरः प्राणिवधे रतः।...सर्वे निरयगामिनः॥४।१७।३६

स्पष्ट पार्थक्य एवं वैषम्य दिखलाया है। ये दोनों प्रकार के विनोद अयोध्या और लंका की सभ्यताओं में स्पष्ट निर्दिष्ट हैं। सुरा-पान और भोग-विलास तो निरे 'ग्राम्य-सुख' हैं; और वाल्मीकि ने रावण के अंतःपुर का एक नग्न चित्रण उपस्थित कर यही सिद्ध किया है कि राक्षसों का जीवन इंद्रियजन्य और तामसिक विषय-भोगों में पूर्णतया लिप्त होने के कारण मानव-जीवन के उच्च लक्ष्य से कोसों परे था।

: ६ :

शिक्षा

कोसल-राज्य में न्याय और शासन की सुव्यवस्था के कारण शैक्षणिक एवं बौद्धिक क्रिया-कलाप का बाहुल्य था। विद्याध्ययन ब्राह्मणों का ही एकाधिकार नहीं था, अपितु समस्त द्विज उसके अधिकारी थे। यज्ञोपवीत-संस्कार, जो बालक के विद्याभ्यास का श्रीगणेश करता है, ६०० ई० पू० तक प्रत्येक आर्य स्त्री-पुरुष के लिए अनिवार्य था।[1] इस प्रकार सभी ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों को प्रारंभिक बौद्धिक और धार्मिक शिक्षा मिल जाया करती थी, जिसके परिणामस्वरूप साक्षरता का व्यापक प्रसार था। इस पृष्ठभूमि में वाल्मीकि का यह कथन सार्थक जान पड़ता है कि महाराज दशरथ के राज्य में ऐसा कोई नहीं था, जो नास्तिक, असत्यवादी, नाना शास्त्रों से अनभिज्ञ अथवा अविद्वान हो।[2] यह स्थिति उस उपनयन-संस्कार का एक स्वाभाविक परिणाम थी, जिसके संपन्न होने पर प्रत्येक द्विजातीय छात्र को वैदिक और साहित्यिक अध्ययन करना पड़ता था।

प्रजाजनों के दैनिक आचार-विचार पर राजा के व्यक्तित्व का गहरा प्रभाव पड़ता था; वही उनका आदर्श और दीप-स्तंभ था। राज्य में सर्वोच्च सत्ताधारी होने के नाते उससे यह अपेक्षा की जाती थी कि वह अपनी प्रजा के सुप्त गुणों को प्रकाश में लाने का प्रबंध करे—स्वस्थ प्रतियोगिता का ऐसा वातावरण पैदा करे कि राष्ट्र की अंतर्निहित विशेषताएं उभर सकें। लोगों की प्रतिभा और योग्यता

---

१. अ० स० अलतेकर—'एज्यूकेशन इन एन्श्यंट इंडिया', पृ० १७४।

२. नास्तिको नानृती वापि न कश्चिदबहुश्रुतः। नासूयको न चाशक्तो नाविद्वान् विद्यते क्वचित्॥१।६।१४

के प्रदर्शन के लिए उसे समारोहों का आयोजन करना पड़ता था। इनके अतिरिक्त, उसे विशेषज्ञों को राजकीय संरक्षण और आर्थिक सहायता देकर राष्ट्र के साहित्यिक एवं कलात्मक उत्कर्ष में योग देना पड़ता था।

राम शिक्षा और शिक्षालयों के महान पोषक थे। सैकड़ों छात्र और विद्वज्जन उनकी छत्रछाया में रहते थे, उनकी दानशीलता पर फलते-फूलते थे। वन-प्रस्थान करने से पहले राम ने अपनी संपत्ति का उनमें वितरण कर दिया था। ब्राह्मणों और छात्र-संघों को भी उनसे प्रभूत दान-दक्षिणा मिली थी।

रामायणकालीन शिक्षा का एक प्रमुख सिद्धांत यह था कि सच्चे अर्थों में किसी व्यक्ति का सभ्य, सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत होना उसकी शिक्षा-दीक्षा पर इतना निर्भर नहीं करता जितना उसके जन्मगत संस्कार और स्वभाव पर। वाल्मीकि की संमति में यदि गर्भाधान कुसमय में किया जाय, अथवा उस समय दंपती में दूषित विचारों की प्रबलता हो तो संतान पर कुसंस्कारों की अमिट छाप पड़ जाती है, जिसे दूर करने के लिए चाहे कितनी ही सांस्कृतिक शिक्षा क्यों न दी जाय, वह ऊसर भूमि में बीज बोने के समान ही सिद्ध होगी। यह सिद्धांत रावण के उदाहरण में चरितार्थ होता है। उत्तरकांड में कथा आती है कि रावण की माता कैकसी ने विश्रवा मुनि से संध्या के समय पुत्र की याचना की थी। संध्या का समय गर्भाधान के लिए अत्यंत अशुभ, निकृष्ट और दारुण माना जाता है। कैकसी के इस क्षणिक मनोविकार ने भी उसकी संतति पर एक स्थायी कुसंस्कार जमा दिया, जिसे कठोरतम तप और विद्याध्ययन भी दूर करने में समर्थ नहीं हुए। रावण का जन्म ब्राह्मण-कुल में हुआ था और उसे वैदिक शिक्षा भी मिली थी। उसने तथा मेघनाद और कुंभकर्ण ने ब्रह्मा का प्रसाद पाने के लिए उग्र तपस्या भी की। तपस्या की अवधि में उन्होंने आर्य ऋषि-मुनियों की अपेक्षा कहीं अधिक आत्म-संयम और सहन-शक्ति का परिचय दिया। किंतु ज्योंही उन्हें दैवी वरदान प्राप्त हुए, त्योंही उनकी कृत्रिम यम-नियम-पूर्ण जीवन-चर्या शिथिल पड़ गई और उनके अंतर्मन में दबी हुई क्रूर राक्षसी प्रवृत्तियां उभर आईं। अपनी तपस्या-जन्य असाधारण शक्तियों का उपयोग उन्होंने धर्म के प्रसार और संरक्षण में न कर समाज के विध्वंस और घृणित उद्देश्यों के साधन में किया। तपश्चर्या, यज्ञ-यागादिक धार्मिक कृत्य और वैदिक शिक्षा का सांस्कृतिक प्रभाव तभी पड़ सकता है जबकि व्यक्ति को परंपरा या जन्म से तामसी और संकुचित संस्कार प्राप्त न हुए

हों।[1] शास्त्रों के अनुशीलन से नम्रता और सुशीलता को कोई चाहे कितना ही क्यों न अपना ले, पर उससे उसकी अपनी प्रकृति छिप नहीं सकती, शास्त्राध्ययन प्रकृति को वदल नहीं सकता—

विनीतविनयस्यापि प्रकृतिर्न विधीयते।
प्रकृतिं गूहमानस्य निश्चयेन कृतिर्ध्रुवा ॥७।५९ (२)। २६

शिक्षा पर संस्कारों का प्रभाव स्वीकार करने में तत्कालीन शिक्षा-शास्त्रियों को कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धांतों से भी प्रेरणा मिली। इन सिद्धांतों के अनुसार वर्तमान जीवन के प्रशिक्षण की अपेक्षा पूर्व-जन्म के कर्म ही हमारी बुद्धि की सात्विकता और हमारी नैतिक श्रेष्ठता को निर्धारित करते हैं। राम को यह देखकर आश्चर्य हुआ था कि कैकेयी-जैसी उत्तम स्वभाव और श्रेष्ठ गुणों से युक्त राजकुमारी ने एक साधारण स्त्री की तरह अपने पति के सामने मुझे वन भेजने की बात कैसे कह दी, और वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि यह तो दैव अथवा भाग्य का ही परिणाम था, जिसने मेरी विमाता को सन्मार्ग से विचलित कर दिया (२।२२।१९-२०)। मनुष्य पर संस्कारों के प्रभाव को सुमंत्र ने यह कहकर स्वीकार किया था कि लड़कियां अपनी माता का और लड़के अपने पिता का अनुकरण करते हैं।[2] गुणी भरत की जननी और महात्मा दशरथ की पत्नी होने पर भी कैकेयी को अपनी माता की स्वार्थ-लिप्सा उत्तराधिकार में मिली थी।[3] सुमंत्र ने राम से कहा था कि आपको कष्ट में पड़ा देख मुझे ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, मृदुता, सौजन्य सव निष्फल जान पड़ते हैं;[4] अर्थात दैव या प्राक्तन संस्कारों के समक्ष शिक्षा पंगु एवं निष्प्रभाव हो जाती है। विभिन्न वानर-वीरों के वारे में यह कहा गया है कि हीन माताओं से उत्पन्न होने पर भी उन्हें श्रेष्ठ पिताओं का वल-चातुर्य प्राप्त

---

१. देखिए—'कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया', भाग १, पृष्ठ ८६।
२. पितॄन्समनुजायन्ते नरा मातरमंगनाः।२।३५।२८
३. भर्ता दशरथो यस्याः साधुश्च भरतः सुतः। कथं नु साम्वा कैकेयी तादृशी क्रूरदर्शिनी ॥३।१६।३५; आभिजात्यं हि ते मन्ये यथा मातुस्तथैव च। न हि निम्वात्स्रवेत्क्षौद्रं लोके निगदितं वचः ॥२।३५।१७
४. न मन्ये ब्रह्मचर्ये वा स्वधीते वा फलोदयः। मार्दवार्जवयोर्वापि त्वां चेद्व्यसनमागतम् ॥२।५२।१७

हुआ था। वानर-स्थपति नल को अपनी कला-चातुरी अपने पिता विश्वकर्मा से प्राप्त हुई थी और हनुमान को वायुदेव से उनका तेज और उनकी गति मिली थी।

माता-पिता बालक को किसी गुरु के अधीन रखकर विद्याध्ययन कराया करते थे। बाल-विद्यार्थी गुरु के आश्रम में निवास करता और उसकी निजी देखरेख में अपने मानसिक गुणों को विकसित करता था। उसके हृदय और मस्तिष्क को उन्नत बनाने का भार एक ऐसे विशेषज्ञ पर रहता था, जो इस कार्य के लिए सर्वथा योग्य एवं प्रशिक्षित था तथा जिसके जीवन का एक-मात्र ध्येय अध्ययन-अध्यापन था। शिष्य के चारित्रिक विकास के लिए गुरु का व्यक्तित्व आदर्शभूत होता था।

राजा दशरथ ने राम और लक्ष्मण को कुछ समय के लिए विश्वामित्र के सुपुर्द कर दिया था। इसे इन राजकुमारों की 'गुरुकुल-शिक्षा' कहना उचित न होगा, क्योंकि इस समय तक वे अपना औपचारिक अध्ययन समाप्त कर स्नातक बन चुके थे। विश्वामित्र से उनको जो शिक्षा मिली, उसे 'स्नातकोत्तर प्रशिक्षण' (पोस्ट ग्रैजुएट ट्रेनिंग) कहना अधिक उपयुक्त होगा। विश्वामित्र के अल्पकालीन साह-चर्य से भी दोनों राजकुमार पर्याप्त लाभान्वित हुए थे। उनकी संगति में वे दोनों ऐसे वातावरण और ऐसे व्यक्तियों के संपर्क में आये, जो उनके स्वस्थ नैतिक एवं मानसिक उत्थान के लिए परम सहायक सिद्ध हुए। इस समय राम की आयु[1] ऐसी थी जब व्यक्तियों अथवा वस्तुओं के प्रति उनका दृष्टिकोण अपरिपक्व था, और उनका मस्तिष्क संवेदनगम्य और परिवर्तनशील। बालक की यह एक विशेषता होती है कि उसका स्वभाव स्थिर नहीं होता, उसकी इच्छा-शक्ति दृढ़ नहीं होती, उसकी विचार-सरणि रूढ़ या सुनिश्चित नहीं रहती। विश्वामित्र के साथ उनके आश्रम को जाते समय राम के ये बालोचित लक्षण प्रकट हुए थे। मार्ग में उन्हें जो-जो दृश्य या घटनाएं दृष्टिगोचर होतीं, उनसे वह बड़े प्रभावित होते और हर बार उनका कौतुक जाग उठता था। प्रत्येक बार वह समाधान के लिए कौशिक ऋषि की ओर ही उन्मुख होते, जो स्वयं उच्च एवं परीक्षित चरित्र-बल से संपन्न

---

१. राम उस समय पूरे सोलह वर्ष के भी नहीं हुए थे—'ऊनषोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचनः' (१।२०।२)।

महामुनि थे। राम के मस्तिष्क की विकासोन्मुख प्रवृत्तियों को उन्होंने भली भांति आंक लिया तथा उन्हें अपने कल्याणकारी प्रभाव द्वारा स्थिर और स्पष्ट करने की चेष्टा भी की। उन्होंने उनमें प्रातःकाल जल्दी उठने और स्नानादि से निवृत्त होकर देव-कार्य संपन्न करने की आदत डाली तथा उनके हृदय में नदी-पर्वत-जैसे प्रकृति के रम्य पक्षों के प्रति आदर-भावना भी जगाई।

गुरु ऐसे ही शिष्यों को चुना करता था, जो उसे सदाचारी, सुयोग्य और उत्साही जान पड़ते। विश्वामित्र ने राम को अपने साथ ले जाने का आग्रह इसीलिए किया कि वह उन्हें एक आदर्श शिष्य और योद्धा प्रतीत हुए थे। उन्होंने राम को सत्पात्र समझकर ही बला और अतिबला विद्याएं प्रदान कीं।[१] वाल्मीकि ने रामायण-गान के लिए अपने शिष्यों में से लव-कुश को ही उपयुक्त जानकर उनका चुनाव किया।

समाज और शिष्य-वर्ग दोनों के लिए गुरु परम संमान का भाजन था। माता-पिता और ज्येष्ठ भ्राता की तरह गुरु भी शिष्य के पितरों में गिना जाता था, क्योंकि वह उसे विद्या का श्रेष्ठ दान देता था।[२] वसिष्ठ ने आचार्य को माता-पिता से भी ऊंचा पद दिया है; माता-पिता तो मात्र हमारे जन्म के स्रोत हैं, पर आचार्य हमें प्रज्ञा-चक्षु प्रदान करता है।[३] राम ने माता-पिता के समान गुरु को भी आराधना और अर्चना का पात्र बताया है।[४]

अध्ययन-अध्यापन का लोक में प्रचुर प्रचलन था। जिन अनेक प्रकार के अध्यापकों का रामायण में उल्लेख हुआ है, उनमें गुरु (२।१११।३) वह था, जिसका अपने शिष्यों से पिता-पुत्रवत संबंध रहता था और जो अपने ही आश्रम में रहनेवाले शिष्यों को उनकी योग्यतानुसार शास्त्राध्ययन कराता था। गुरु के

---

१. प्रदातुं तव काकुत्स्थ सदृशस्त्वं हि पार्थिव ।१।२२।२०
२. ज्येष्ठो भ्राता पिता वापि यश्च विद्यां प्रयच्छति। त्रयस्ते पितरो ज्ञेया धर्मे च पथि वर्तिनः ।।४।१८।१३
३. पिता ह्येनं जनयति पुरुषं पुरुषर्षभ। प्रज्ञां ददाति चाचार्यस्तस्मात्स गुरुरुच्यते ।।२।१११।३
४. अस्वाधीनं कथं दैवं प्राकारैरभिराध्यते। स्वाधीनं समतिक्रम्य मातरं पितरं गुरुम् ।।२।३०।३३

वाद 'आचार्य' (२।१११।४) और 'कुलपति' (२।११६।४) की गणना की जाती थी; कुलपति के अधीन दूर-दूर से आये सैकड़ों शिष्य विद्याध्ययन करते थे। 'श्रोत्रिय' (१।१।१) की संज्ञा उस अध्यापक-वर्ग को दी जाती थी, जिसकी तामसिक वृत्तियों का परंपरागत वैदिक अध्ययन और तपस्या द्वारा शमन हो चुका है। 'तापसगण' (१।१४।१२) तपोनिरत रहते और अपने पास आनेवालों को शिक्षा देते थे। ये वनवासी थे और इनके उपदेश आरण्यकों में लिपिबद्ध हैं। शास्त्रों के व्याख्याता 'ब्रह्मवादी' (१।१२।५) कहलाते थे। 'उपाध्याय' (२।१००।१४) लोग शुल्क लेकर कोई शास्त्र-विशेष पढ़ाया करते थे। ललित कलाओं के अध्यापक 'शिक्षक' कहलाते थे। तुंबुरु अप्सराओं के गान-शिक्षक थे (२।९१।१८)। 'परिव्राजक' (३।४७।१) निवृत्ति-मार्गी होता था और घूम-घूमकर निर्वेद और वैराग्य का जीवन के सर्वोच्च ध्येयों के रूप में प्रचार करता था। भिक्षुक और भिक्षुणियां भी कभी-कभी उपदेशक का कार्य करती थीं (२।९१।१)।[1]

सामान्यतः प्राचीन भारत के अध्यापकों की कोई बंधी आय नहीं होती थी। शिष्यों से नियत शुल्क लेने की प्रथा का प्रमाण नहीं मिलता। क्योंकि गुरु पुरोहित का भी कार्य करता था, अतः उसे यज्ञ-याज्ञादिक के अवसर पर दान-दक्षिणा मिल जाया करती थी।

जीवन का प्रथम चरण—ब्रह्मचर्याश्रम—विद्याध्ययन के लिए नियत रहता था। इस अवधि में छात्र को सादे जीवन और उच्च विचारों में दीक्षित किया जाता था। छात्र के परिवार का सामाजिक स्तर कुछ भी क्यों न हो, उसे गुरु के आश्रम में रहकर वहीं के कठोर अनुशासन का पालन करना पड़ता था। दशरथ के पुत्रों को भी परंपरागत प्रणाली के अनुसार शिष्य-वृत्ति ग्रहण करनी पड़ी थी।[2] विश्वामित्र की अधीनता में रहते समय राम और लक्ष्मण को, राजकुमार होते हुए भी, तृणों पर शयन करना पड़ा था, किंतु 'कुशिकसुतवचोनुलालित',

---

१. अध्यापकों के इन विभिन्न वर्गों की परिभाषा रामायण से अनुमानित होती है; देखिए एस० वी० वेंकटेश्वर-कृत 'इंडियन कल्चर थ्रू दि एजेस', जिल्द१, पृष्ठ १२८-३०।

२. वेदैश्च ब्रह्मचर्यैश्च गुरुभिश्चोपकर्शितः।२।१२।८४

कौशिक विश्वामित्र के वचनों से अनुरंजित होने के कारण उन्हें यह अनुभव खला नहीं।

छात्र-जीवन में आत्म-अनुशासन, इंद्रियों के संयम पर विशेष वल दिया जाता था। विद्या को तप की तरह अर्जित करना होता था। तपस्वी की भांति विद्यार्थी से भी त्याग और सहिष्णुता अपेक्षित थी। स्नातक वनने तक उसे नैष्ठिक व्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना पड़ता था। अध्ययन की समाप्ति पर ही विवाह का प्रश्न उठता था।

छात्र का सर्वोपरि कर्तव्य गुरु के प्रति भक्ति-भाव रखना और उसकी आज्ञाओं का सर्वतोभावेन पालन करना था। राम ननु-नच किए विना एक स्त्री (ताटका) का वध करने को इसलिए उतारू हो गए कि उनके गुरु की ऐसी ही आज्ञा थी (**जहि मच्छासनान्नृप**, १।२५।२२)। गुरु के प्रति शिष्य का व्यवहार शिष्टाचार एवं विनम्रतापूर्ण होता था। उसे गुरु की सेवा-शुश्रूषा (**गुरु-कार्य**) करनी पड़ती थी। आश्रम को झाड़ना-वुहारना, लकड़ी चीरना, यज्ञ-सामग्री एकत्र करना आदि कार्य शिष्य के ही जिम्मे थे। इनका आभास आश्रमों के साफ-सुथरे आंगनों (३।१।३), चीरी गई लकड़ियों (३।११।५०) तथा भांड, मृग-चर्म, कुश, समिधा, कलश, फूल-मूल आदि से युक्त यज्ञागारों (३।१।४-५) के उल्लेखों से होता है। उसे व्राह्म मुहूर्त में उठकर स्नान, संध्या तथा प्रार्थना करनी पड़ती थी। प्रातःकाल का अधिकांश समय अग्निहोत्र आदि कर्मकांड में व्यतीत होता था। तत्पश्चात छात्र गुरु को प्रणाम करने जाता। सायंकाल भी संध्या आदि नित्य-कर्म करने पड़ते थे। इन सवकी सूचना राम-लक्ष्मण को विश्वामित्र के हाथों मिलनेवाले प्रशिक्षण से प्राप्त होती है।

विद्यार्थी को अध्ययन-काल में जो कठोर अनुशासनवद्ध जीवन व्यतीत करना पड़ता था, उससे वास्तविक जीवन का भी उसे पूर्वाभास मिल जाता था—परि-स्थितियों के विरुद्ध वह कैसा दीर्घ और निर्मम संघर्ष होता है! उषःकाल में शय्या-त्याग, स्नान, संध्या, जप, होम, स्वाध्याय, गुरु-सेवा आदि का नित्य कार्यक्रम विद्यार्थी को शास्त्र-पटु तथा सुघड़ आदतोंवाला वनाने में सहायक होता था। यथाविधि दैनिक अग्निहोत्र करने से विद्यार्थी को पौरोहित्य-कार्य का पहले से ही प्रशिक्षण मिल जाता था।

अशोकवाटिका में विरहिणी सीता को हनुमान ने प्रतिपदा को पाठ करनेवाले

की क्षीण हुई विद्या के समान कृश बताया था—प्रतिपत्पाठशीलस्य विद्येव तनुतां गता (५।५९।३१)। इससे यह ध्वनित होता है कि प्रतिपदा अनध्याय का दिन रही होगी।

सोलहवां वर्ष बाल्य-काल की समाप्ति का सूचक माना जाता था और इस समय तक क्षत्रिय कुमार सामान्यत: शस्त्रास्त्रों के प्रयोग में प्रवीण हो जाता था। जब विश्वामित्र ने राम को राक्षसों के वधार्थ अपने साथ ले जाने की इच्छा प्रकट की, तब दशरथ बोल उठे कि यह तो अभी तक बालक है, इसने सोलह वर्ष भी पूरे नहीं किये हैं और राक्षसों से युद्ध करने की कला भी यह नहीं सीख पाया है (१।२०।२-८)। इससे प्रतीत होता है कि सोलह वर्ष की आयु में किशोरावस्था की समाप्ति मान ली जाती थी तथा इस आयु का नवयुवक युद्ध-कला में पारंगत और जीवन के कर्म-क्षेत्र में जूझने के लिए साधन-संपन्न हो जाना चाहिए था। रामायण में ब्रह्मचर्याश्रम पर पच्चीस वर्ष की पाबंदी लगने का प्रमाण नहीं मिलता।

रामायण-काल में सुसंचालित शिक्षा-संस्थाएं भी थीं। तत्कालीन आश्रम विद्या के स्थायी केंद्र थे। वस्तुत: सारा देश ही आश्रमों से भरा-पूरा था। उनमें ज्ञान-विज्ञान की अजस्र धारा बहती थी। सुविख्यात कामाश्रम में विद्यार्थी पिता-पुत्र की परंपरा से बराबर आते रहते थे; उसमें अनेक परिवारों की कई पीढ़ियां शिक्षा पा चुकी थीं।[1] आश्रमों के मुनि-शिक्षक अपनी पत्नियों (मुनि-पत्नय:) और संतान (मुनिदारका:) के साथ निवास करते थे।

अंधमुनि अपने आश्रम में वानप्रस्थ-धर्मानुसार सपत्नीक एकांत जीवन व्यतीत करते थे और उनका पुत्र भी वहीं वेदाध्ययन में निरत रहता था। रात्रि के चौथे पहर में वह शास्त्रों का स्वाध्याय एवं मधुर घोष किया करता था।[2]

अपने वनवास-काल में राम, लक्ष्मण और सीता अनेक आश्रम-विद्यालयों में गए थे। गंगा-यमुना के संगम पर स्थित भरद्वाज-आश्रम में वे सूर्यास्त के समय पहुंचे

१. तस्यायमाश्रम: पुण्यस्तस्येमे मुनय: पुरा (पूर्वकालसन्तानपरम्परया)। शिष्या धर्मपरा वीर तेषां पापं न विद्यते॥१।२३।१५

२. तुलना कीजिए—कस्य वा पररात्रेऽहं श्रोष्यामि हृदयंगमाम्। अधीयानस्य मधुरं शास्त्रं वान्यद्विशेषत: ॥२।६४।३४

थे। उस समय ऋषिवर अग्निहोत्र करके शिष्यों से घिरे हुए आसन पर विराजमान थे।[1] आश्रम के उपवनों में से यमुना नदी वहती थी, जिसके दोनों ओर सफेद चूने से पुते अनेक रमणीय आवास (आवसथ) वने हुए थे। इन आश्रमों में सायंकाल का समय प्रायः कथा-वार्ता में व्यतीत होता था (**चित्राः कथयतः कथाः**, २।५४।३४)।

ऋषि वाल्मीकि की आश्रम-शाला में भी कई शिष्य वास करते थे, जिनमें से एक का नाम भरद्वाज था। वाल्मीकि का आश्रम विशेषतः साहित्य और ललित कलाओं का केंद्र रहा होगा, जैसाकि लव-कुश की शिक्षा-दीक्षा से विदित होता है। राम के ये दोनों पुत्र 'आश्रमवासिनौ' थे, उन्हें वाल्मीकि ने वेदों के अतिरिक्त संगीत और अभिनय-कला में भी पारंगत वनाया था। समस्त रामायण-काव्य को कंठस्थ करके वीणा की मधुर लय के साथ गाना भी उन्हें सिखाया गया था। अपने गायन के वदले किसी प्रकार का पारितोषिक न लेने की शिक्षा देकर[2] वाल्मीकि ने उनके सामने कला को विक्री की वस्तु न वनाने का आदर्श रखा था।

आश्रमों के गुरुजन तथा छात्रगण सदैव एक ही स्थान में रहकर 'कूप-मंडूक' नहीं वने रहते थे, अपितु समय-समय पर, अपने शास्त्रीय एवं व्यावहारिक ज्ञान की अभिवृद्धि के लिए, शैक्षणिक यात्राओं पर भी जाया करते थे। सिद्धाश्रम के मुनि और शिष्य, अपने कौशिक कुलपति तथा कोसल-राजकुमार राम और लक्ष्मण के साथ, जनक के यज्ञ-महोत्सव को देखने के लिए सदलवल गए थे। इसी प्रकार उत्तरकांड में वाल्मीकि भी अपने शिष्यों-सहित राम के अश्वमेव-यज्ञ में उपस्थित हुए थे, जहां लव-कुश ने अपनी रामायण-शिक्षा का प्रदर्शन कर ख्याति अर्जित की। ऐसे अवसरों पर देश-विदेश से आये सभी प्रकार के लोगों का संपर्क तथा वहुश्रुत विद्वानों की आलोचनाएं छात्रों के लिए मार्ग-दर्शक सिद्ध होती थीं।

इन आश्रम-विद्यालयों के निवासी, नाना प्रकार की धार्मिक प्रक्रियाओं में व्यस्त रहने पर भी, सामयिक घटनाओं से अपना संपर्क वनाये रखते थे। राम को

---

१. स प्रविश्य महात्मानमृषिं शिष्यगणैर्युतम्।..हुताग्निहोत्रं दृष्ट्वैव महाभागः कृतांजलिः॥२।५४।११-२

२. लोभश्चापि न कर्तव्यो स्वल्पोऽपि धनवाञ्छया। किं धनेनाश्रमस्थानां फल-मूलाशिनं तदा॥७।९३।११

अपने दीर्घ वनवास-काल में जिन आपत्तियों का सामना करना पड़ा था, उन सबकी जानकारी ऋषि भरद्वाज को अपने भ्रमणशील (प्रवृत्त) छात्रों से मिल चुकी थी; ये छात्र राजधानी का भी अक्सर दौरा कर लिया करते थे।[1] राम ने वनवास से लौटकर भरद्वाज मुनि से अयोध्या का हाल-चाल पूछा था।[2]

उच्च शिक्षा के लिए एक आश्रम या गुरु से दूसरे आश्रम या गुरु के पास जाने की वैदिक प्रथा रामायण में भी दृष्टिगोचर होती है। विश्वामित्र पहले उत्तर अंग-राज्य में कौशिकी नदी के तटवर्ती एक आश्रम में रहते थे। बाद में वह अपना कर्मकांड पूरा करने (पौरोहित्य-विषयक अपनी योग्यता बढ़ाने) दक्षिण-पश्चिम में स्थित सिद्धाश्रम में चले गए थे (१।३४।१२)। राम को अपनी प्रारंभिक सैनिक शिक्षा सुधन्वा से मिली (२।१००।१४) तथा उच्चतर युद्ध-शिक्षा विश्वामित्र (१।२७-८) से। अगस्त्य से भी उन्हें प्रयोग-विधि-सहित नवीन शस्त्रास्त्र प्राप्त हुए थे (३।१२।३२-६; ६।१०८।४, १४)।

ब्राह्मणों के इन परंपरागत वैदिक आश्रमों के अतिरिक्त (जो नगरों से दूर प्रकृति के अंचल में बसे होते थे) राजधानी अयोध्या में भी अनेक शिक्षा-केंद्र स्थापित थे, जिनमें पारंपरिक शास्त्रीय ज्ञान के साथ-साथ व्यावहारिक एवं सांस्कृतिक विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। उदाहरणार्थ, इक्ष्वाकु-वंशी राजकुमारों के सैन्य-शिक्षक का एक आश्रम अयोध्या में या उसके आसपास कहीं बसा हुआ था। इस आचार्य के 'सद्मन्' (घर) में शस्त्राभ्यास के निमित्त राम-लक्ष्मण के शस्त्रास्त्र और कवच रखे रहते थे।[3] यह आचार्य संभवतः कोसल-राजकुमारों के गुरु उपाध्याय सुधन्वा ही थे, जो बाण आदि अस्त्रों के प्रयोग में

---

१. सर्वमेतद्विदितं तपसा धर्मवत्सल। सम्पतन्ति च मे शिष्याः प्रवृत्ताख्याः पुरीमितः॥६।१२४।१६

२. सोऽपृच्छदभिवाद्यैनं भरद्वाजं तपोधनम्। शृणोपि कश्चिद् भगवन्सुभिक्षानामयं पुरे॥ कश्चित्स युक्तो भरतो जीवन्त्यपि च मातरः॥ ६।१२४।२

३. सत्कृत्य निहितं सर्वमेतदाचार्यसद्मनि। सर्वमायुधमादाय क्षिप्रमाव्रज लक्ष्मण॥ २।३१।३१

विचक्षण तथा अर्थशास्त्र के विशारद थे। राम ने उनका संमान करने के लिए भरत को चित्रकूट पर विशेष रूप से स्मरण दिलाया था।[1]

अयोध्या के परंपरागत राजपुरोहित वासिष्ठों का भी एक विद्यालय था। इसका संचालन राजकुमारों के सखा सुयज्ञ-वासिष्ठ करते थे। वन-प्रस्थान करते समय राम ने सुयज्ञ को अपने यहां आदरपूर्वक बुलाया था और अपनी तथा सीता की अनेक सुंदर एवं बहुमूल्य वस्तुएं उनके और उनकी पत्नी के लिए भेंट की थीं। अवश्य ही सुयज्ञ का अपना विशाल निवास-स्थान रहा होगा, जो इन राजकीय उपहारों—यानों, शयनासनों, रत्नों, आभूषणों आदि—के लिए पर्याप्त विस्तृत और अनुरूप था। लक्ष्मण स्वयं सुयज्ञ को लिवाने उनके घर गए थे। उस समय सुयज्ञ अपनी अग्निशाला में विराजमान थे और लक्ष्मण ने युवराज की ओर से उन्हें राजप्रासाद चलने के लिए विनयपूर्वक आमंत्रित किया था (२।३२। १-१०)।

अयोध्या में एक शिक्षणालय तैत्तिरीयों का था। इसके अभिरूप नामक एक वैदिक आचार्य को राम से वाहनों, कौशेय वस्त्रों तथा दासियों का उपहार मिला था (२।३२।१५-६)। इसके अतिरिक्त, अगस्त्य और कौशिक के भी आश्रम राजधानी में रहे होंगे, क्योंकि किन्हीं अगस्त्य और कौशिक ऋषि को, जो संभवतः इन्हीं अगस्त्य और कौशिक आश्रमों के आचार्य थे, राम ने मणि, सुवर्ण, रजत और गौएं भेंट की थीं (२।३२।१३-४)।

अयोध्या में कठ-कालाप आदि वैदिक चरणों के बहुत-से ब्रह्मचारी छात्र निवास करते थे, जो आलसी और स्वादु भोजन के आकांक्षी थे, पर नित्य स्वाध्याय में संलग्न रहने के कारण महापुरुषों के आदरणीय थे।[2] राम ने उनको रत्नों से भरे अस्सी यान (बैलगाड़ियां या रथ), धान से लदे सौ बैल, दो सौ भद्रक (नामक धान्य या हाथी) तथा सुस्वादु व्यंजन प्रदान करनेवाली एक सहस्र गौएं प्रदान की थीं (२।३२।१९-२१)।

---

१. इष्वस्त्रवरसम्पन्नमर्थशास्त्रविशारदम्। सुधन्वानमुपाध्यायं कच्चित्त्वं तात मन्यसे॥२।१००।१४

२. नित्यस्वाध्यायशीलत्वान्नान्यत्कुर्वन्ति किंचन। अलसाः स्वादुकामाश्च महतां चापि संमताः॥२।३२।१९

इन वैदिक आश्रमों और अध्येताओं के आधिक्य के कारण ही अयोध्या-निवासियों में कोई अशिक्षित या अल्पशिक्षित व्यक्ति ढूंढ़े नहीं मिलता था। राजधानी में रहनेवाले मेखलाधारी ब्रह्मचारियों का एक अपना पृथक संघ या संगठन भी था (**मेखलीनां महासंघः**)। राज्य-परिवार पर उसके भरण-पोषण का भार रहता था। राम के वन-गमन के समय इस संघ के सदस्य कौसल्या के पास सहायतार्थ आये थे। राम ने उनमें से प्रत्येक को एक हजार निष्क (सिक्के) दिलवाये थे।[1]

आश्रमों में नियमपूर्वक विद्याध्ययन होने के अतिरिक्त अयोध्या की प्रजा में भी प्रचुर विद्या-व्यसन था। वहां के शास्त्रज्ञ नागरिक नगर के सीमावर्ती उपवनों में (जहां अधिकांश आश्रम स्थित होते थे) जाकर विवादग्रस्त विषयों पर तर्क-वितर्क किया करते थे (**संवदन्तोपतिष्ठन्ते**, २।६७।२६)। इन विवादों में परंपरागत और नवीन सिद्धांतों तथा शास्त्रीय और लौकिक विचार-धाराओं के अनुयायियों में ज्ञानवर्धक ऊहापोह हुआ करता था। रामायण में आये जाबालि (२।१०८-९) और लोकायतिकों (२।१००।३८-९) के उल्लेखों से इस प्रकार के विवादों के प्रचलन का आभास मिलता है।

उस युग के यज्ञ-समारोह अपनी विद्वत्परिषदों तथा गंभीर ज्ञान-चर्चाओं के कारण शिक्षा-प्रसार के प्रबल साधन सिद्ध होते थे। इन यज्ञों से जहां यजमान संपत्ति, शक्ति, दीर्घायु, संतति और स्वर्ग-प्राप्ति की कामना करता था, वहां निमंत्रित अतिथियों को अन्न-पान, स्नेह-संमान तथा भेंट-पुरस्कार देकर धन और सत्ता का पुनर्वितरण भी किया जाता था। समाज के प्रतिभा-संपन्न व्यक्तियों को अपना कौशल-प्रदर्शन करके प्रतियोगियों के बीच विजयी होने का भी अवसर इन्हीं याज्ञिक समारोहों में प्राप्त होता था। दशरथ के अश्वमेध-समारोह में विविध क्षेत्रों के विशेषज्ञों को अपनी योग्यता दिखाने का प्रचुर अवसर मिला था। यज्ञ-विधि के ज्ञाता विद्वान ब्राह्मण, कुशल स्थपति, शिल्पकार, ज्योतिषी, चित्रकार, नट-नर्तक, बहुश्रुत पुरुष आदि की सेवाएं उस समय स्वीकार की गई थीं (१।१३।६-८)। उस समारोह में निमंत्रित कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं था, जो वेद-वेदांग का ज्ञाता,

---

१. मेखलीनां महासंघः कौसल्यां समुपस्थितः। तेषां सहस्रं सौमित्रे प्रत्येकं सम्प्रदापय ॥२।३२।२२

व्रतधारी, सुपठित अथवा वाक्कुशल न हो।[1] यज्ञ-कर्मों के बीच-बीच में सुवक्ता विप्रजन एक-दूसरे को जीतने की इच्छा से हेतुवादों (जगत के कारणों) पर शास्त्रार्थ कर रहे थे।[2] उत्तरकांड में वर्णित राम का अश्वमेध तो एक विशाल शैक्षणिक एवं यज्ञीय प्रदर्शन बन गया था। उसमें बड़े-बड़े मुनि, राजा, वेदवेत्ता, विद्वान (**पण्डितान्**), पौराणिक, वैयाकरण (**शब्दविदः**), वयोवृद्ध ब्राह्मण, स्वरों के लक्षण पहचाननेवाले (**स्वराणां लक्षणज्ञान्**), सामुद्रिक लक्षणों और संगीत-विद्या के जानकार, महाजन (**नैगमान्**); भिन्न-भिन्न छंदों के चरणों, उनके अंतर्गत गुरु-लघु अक्षरों तथा उनके संबंधों के ज्ञाता (**पादाक्षरसमासज्ञान्**), वैदिक छंदों के विद्वान, स्वरों की ह्रस्व-दीर्घ मात्राओं के विशेषज्ञ, ज्योतिष-विद्या के पारंगत पंडित, कर्मकांडी, कार्य-कुशल पुरुष, तर्क-प्रयोग में निपुण नैयायिक, बहुज्ञ विद्वान; छंद, पुराण और वेदों के जाननेवाले द्विजवर, चित्रकला के जाननेवाले, धर्मशास्त्र के अनुकूल सदाचार के ज्ञाता, दर्शन-सूत्रों के विद्वान तथा संगीत एवं नृत्य-विद्या के विशारद-जैसे संमानित व्यक्ति आमंत्रित किये गए थे (७।९४।४-९)। ऐसी विद्वन्मंडली के समक्ष वाल्मीकि-शिष्यों ने अपनी रामायण-शिक्षा का मनोमुग्धकारी प्रदर्शन किया था। वास्तव में राम का अश्वमेध एक बौद्धिक महामेला या महासंमेलन था, जिसे विभिन्न भागों में विभाजित किया गया था। यज्ञ-भूमि को 'यज्ञ-वाट', आश्रमों से आये ऋषि-मुनियों के निवास-स्थान को 'ऋषि-संवात' तथा वाल्मीकि और उनकी मंडली के लिए निर्मित आवास को 'वाल्मीकि-वाट' के नाम से अभिहित किया गया था।[3] इन विभागों से यह सूचना मिलती है कि आजकल की किसी प्रदर्शन-स्थली या नगर-रचना की तरह तत्कालीन यज्ञ-समारोहों में भी एक विशिष्ट व्यवस्था एवं नियोजन का ध्यान रखा जाता था।

तत्कालीन शिक्षा के पाठ्य-क्रम को चार भागों में बांटा जा सकता है—शारीरिक, बौद्धिक, व्यावहारिक और नैतिक।

---

१. नाषडङ्गविदत्रासीन्नाव्रतो नाबहुश्रुतः। सदस्या तत्र वै राज्ञो नावादकुशलो द्विजः ॥१।१४।२१

२. कर्मान्तरे तदा विप्रा हेतुवादान्बहूनपि। प्राहुः सुवाग्मिनो धीराः परस्परजिगीषया ॥१।१४।१९

३. ७।९२।३; ७।९३।२; ७।९३।३

शारीरिक शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थी को व्यायाम, मृगया तथा युद्ध-शिक्षण द्वारा एक सुगठित, वलशाली, हृष्ट-पुष्ट देह से संपन्न करना था। रामायण-काल एक युद्ध-वहुल युग था, अतः युद्ध-विद्या का सर्वांगीण प्रशिक्षण छात्र के लिए अनिवार्य था। युद्ध-विद्या का वोध धनुर्वेद के नाम से होता था; 'धनुः' शब्द सभी प्रकार के शस्त्रास्त्रों अथवा युद्ध-पद्धतियों का वाचक था। धनुर्विद्या के अंतर्गत शब्द-वेध (शब्द सुनकर लक्ष्य-वेध करने की) विद्या भी आती थी। धनुर्वेद सभी शस्त्रास्त्रों के प्रयोग में विद्यार्थी को दक्ष करता था। इस दृष्टि से उसे 'अस्त्र-शिक्षा' की भी संज्ञा दी जाती थी। उसमें अस्त्रों का 'संग्रहण' (संपूर्ण रूप से उनकी उपलब्धि) और 'संहार' (फेंककर लौटा लेने की विद्या) तथा शत्रु के शस्त्रों का 'परिवारण' या 'निवारण' सभी कुछ सिखलाया जाता था। इंद्रजित का 'पाणिलाघव' (शस्त्रास्त्रों के प्रयोग में हाथों की सफाई) दर्शनीय था। अयोध्या के सैनिक **लघुहस्ताः** थे, उनके हाथ वड़े फुर्तीले थे। सुयोग्य गुरु की देखरेख में धनुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करने के वाद यह आवश्यक था कि विभिन्न युद्ध-प्रणालियों का वास्तविक अभ्यास भी किया जाय। युवराज को युद्ध का व्यावहारिक अनुभव प्राप्त कराने के लिए उच्च सैन्य-अधिकारियों के साथ मोर्चों पर भेजा जाता था। राजकुमार राम और अंगद सैनिक अभियानों में जाया करते थे।[1] सैनिकों को वाहु-युद्ध अथवा मल्ल-युद्ध तथा गदा-युद्ध की भी शिक्षा दी जाती थी।

युद्ध-शिक्षा सेना के चारों अंगों (हाथी, घोड़े, रथ और पैदल) को दृष्टि में रखकर विद्यार्थी को हाथी-घोड़ों की सवारी और उनका नियंत्रण (आरोह और विनय) तथा रथ चलाने की कला (रथ-चर्या) में प्रशिक्षित करती थी।[2] लंका-युद्ध में जव लक्ष्मण ने इंद्रजित के सारथी को मार डाला, तव इंद्रजित ने स्वयं रथ और वाण दोनों साथ-साथ चलाने का कौशल दिखाकर सवको विस्मय में डाल दिया था।[3] रथ-संचालन की कला वड़ी विकसित थी। राक्षसों के यहां सूतों (परंपरागत सारथियों) को 'रथ-कुटुंवी' कहा जाता और उन्हें इस पेशे का विशेष प्रशिक्षण दिया जाता था (६।१०४।१८-२०)।

---

१. २।२।३६-७; ४।२९।३३
२. गजस्कन्धे अश्वपृष्ठे च रथचर्यासु सम्मतः ।१।१८।२७
३. स्वयं सारथ्यमकरोत्पुनश्च धनुरस्पृशत। तदद्भुतमभूत्तत्र सारथ्यं पश्यतां युधि ॥६।८९।४२

शिक्षा के बौद्धिक पाठ्य-क्रम में प्रचलित साहित्य का ज्ञान अपेक्षित था। इसमें सभी शास्त्र, कला, वार्ता (अर्थ-शास्त्र) तथा राजनीति (नीति अथवा नय) समाविष्ट थे। शास्त्रीय साहित्य में वेदों का सर्वोपरि स्थान था। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का रामायण में स्पष्ट उल्लेख हुआ है। 'आदित्यहृदय-स्तोत्र' में, सूर्य को **ऋग्यजुःसामपारगः** कहा गया है (६।१०५।१३)। प्रतीत होता है कि अथर्ववेद को अभी तक वेदों की कोटि नहीं प्राप्त हुई थी, यद्यपि एक स्थल पर 'अथर्वशिरस्' का उल्लेख हुआ है (१।१५।२)। वेदों के बाद वेदांगों—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष (षडंग)—का स्थान था। 'वेदांत' का उल्लेख (६।१०९।२३) ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों के उत्तर-वैदिक साहित्य की ओर संकेत करता है।

साहित्य-शिक्षा के अंतर्गत काव्य, आख्यान, पुराण, व्यामिश्रक (मिश्र भाषाएं), इतिहास और आन्वीक्षिकी (तर्क या न्याय) आते थे। शिल्पियों, संगीतज्ञों तथा नट-नर्तकों के पेशों के अनेकानेक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि सांस्कृतिक शिक्षा में ललित कलाओं का भी प्रमुख स्थान रहा होगा।

भारत में अर्थ-शास्त्र अथवा संपत्ति-शास्त्र का अत्यंत प्राचीन समय से अनुशीलन होता आया है। पुराकाल में उसे 'वार्ता' के नाम से पहचाना जाता था और उसके मुख्य विषय कृषि, व्यापार और पशु-पालन थे। वाल्मीकि ने वार्ता का उल्लेख **तिस्रः विद्याः** (वेदत्रयी, वार्ता और दंडनीति) के अंतर्गत किया है (२।१००।६८)। प्रतीत होता है कि उनके समय तक वार्ता शिक्षण-क्रम के एक अंग के रूप में विकसित एवं प्रतिष्ठित हो चुकी थी।

रामायण में अर्थ-शास्त्र अर्थात मनुष्य की आर्थिक समस्याओं का विवेचन करनेवाले शास्त्र की भी चर्चा हुई है। क्योंकि संपत्ति का अर्जन सुशासन के बिना संभव नहीं, अतः अर्थ-शास्त्र में राजनीति का भी वर्णन स्वभावतः आ जाता है। वार्ता और अर्थ-शास्त्र में अंतर यह है कि जहां वार्ता एक विशुद्ध संपत्ति-शास्त्र है, वहां अर्थ-शास्त्र में अर्थ के अतिरिक्त उससे संबंध रखनेवाले राजनीति-जैसे अन्य शास्त्रों का भी विवेचन रहता है।[1]

राजनीति को नय, नीति या दंडनीति भी कहते थे। हनुमान ने राम को एक

---

१. नरेन्द्रनाथ ला—'स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री एंड कल्चर', पृ० ७३-५

कुशल राजनीतिज्ञ (राजनीत्यां विशारदः) बताया था। विवाह के बाद राम ने शासन-संचालन में पिता को सहयोग देकर राजनीति का व्यावहारिक अनुभव प्राप्त किया था। इस प्रकार उन्हें भावी राज्याभिषेक के लिए तैयार किया जा रहा था। दूसरी ओर भरत राजधानी से प्रायः दूर, अपने मामा के यहां केकय-दरबार में रहते थे, इस कारण वह कोसल-प्रदेश की राजनीति से अधिक परिचित नहीं थे। इसीलिए राम को उन्हें चित्रकूट पर राज-धर्म का सविस्तर उपदेश देने की आवश्यकता पड़ी, जिसमें उन्होंने मंत्रियों, परामर्शदाताओं, दरबारियों तथा दूतों की योग्यता का ध्यान रखने तथा नास्तिकवाद का प्रचार करनेवाले लोकायतिकों से सचेत रहने के लिए उन्हें विशेष रूप से सावधान किया था।

राजनीतिक शिक्षा-दीक्षा के व्यापक प्रसार की सूचना इससे भी मिलती है कि राज-काज में लोग गहरी दिलचस्पी लेते थे। प्रत्येक अवसर पर हम अमात्यों, विद्वज्जनों तथा सेनाध्यक्षों को परस्पर मंत्रणापूर्वक राष्ट्र का भविष्य-निर्माण करते हुए पाते हैं। महत्वपूर्ण अवसरों पर विभिन्न जनपदों और प्रदेशों से लोग एकत्र होकर विचार-विनिमय में भाग लेते थे। राम के यौवराज्याभिषेक के प्रश्न को लेकर दशरथ की सभा में नगरों और जनपदों के प्रतिनिधि बड़ी संख्या में एकत्र हुए थे। जब दशरथ ने राम को अपना उत्तराधिकारी बनाने का प्रस्ताव किया और सभा का निर्णय जानना चाहा, तब राष्ट्र के प्रमुख नेताओं ने परस्पर परामर्श करके सर्वसंमति से उनके प्रस्ताव का अनुमोदन किया था।[1]

शारीरिक और बौद्धिक शिक्षण के अतिरिक्त उपयोगी उद्योग-धंधों की भी शिक्षा का प्रबंध रहा होगा। आयुर्वेद के ज्ञान का व्यापक प्रसार था। वैद्यों को शरीर की रचना, जड़ी-बूटी तथा पशु-रोगों की जानकारी थी। स्पष्टतः यह सब पढ़ाने-सिखाने का प्रबंध रहा होगा। उद्योग-व्यापार की समृद्ध स्थिति से व्यापारिक शिक्षा की व्यवस्था रहने की सूचना मिलती है। विविध प्रकार के शिल्पियों का अस्तित्व शिल्प-शिक्षा के प्रचार-प्रसार की ओर संकेत करता है।

---

१. ब्राह्मणा जनमुख्याश्च पौरजानपदैः सह। समेत्य ते मन्त्रयितुं समतागतबुद्धयः ॥२।२।१९-२०

नैतिक शिक्षा की किसी भी प्रकार उपेक्षा नहीं की जाती थी। चरित्र-बल, सत्य और कर्तव्य के प्रति निष्ठा, शरीर और मन की स्वच्छता तथा इंद्रियों पर संयम ही सुशिक्षित व्यक्ति की सच्ची पहचान माने जाते थे। राम के प्रस्तावित यौवराज्याभिषेक की घड़ी में महाराज दशरथ ने उन्हें जिन शब्दों से संबोधित किया, वे नैतिक शिक्षा के तत्कालीन आदर्श को भली भांति अभिव्यक्त करते हैं। उन्होंने कहा—"बेटा, मेरे पुत्र होकर भी तुम गुणों में मुझसे बढ़-चढ़े हो, इसलिए मुझे विशेष प्रिय हो। तुमने अपने गुणों से समस्त प्रजा को प्रसन्न कर लिया है। यद्यपि तुम स्वभाव से ही गुणवान हो, तथापि स्नेहवश मैं तुम्हें कुछ हित की बातें कहना चाहता हूं। तुम काम और क्रोध से उत्पन्न होनेवाले व्यसनों का त्याग कर दो। गुप्तचरों द्वारा पता लगाकर तथा स्वयं जांच-पड़ताल कर मंत्री, सेनापति आदि अधिकारियों तथा समस्त प्रजा को प्रसन्न रखो। जो राजा भंडार-घरों तथा शस्त्रागारों के द्वारा उपयोगी वस्तुओं का विशाल संग्रह करके प्रजा का अनुरंजन एवं पृथ्वी का पालन करता है, उसके मित्र वैसे ही आनंदित रहते हैं, जैसे अमृत को पाकर देवता प्रसन्न हुए थे। इसलिए पुत्र, अपने चित्त को वश में रखकर इस प्रकार के उत्तम आचरणों का पालन करो" (२।३।४०-४६)।

कतिपय रहस्यमयी विद्याओं के प्रचार-प्रसार की भी सूचना मिलती है। ऋषि विश्वामित्र ने राम को 'बला' और 'अतिबला' नामक अलौकिक शक्ति-प्रदायिनी गुह्य विद्याओं की शिक्षा दी थी, जिनके प्रभाव से अध्येता शारीरिक परिश्रम और मानसिक चिंता का शिकार नहीं होता था। उसके रूप में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता था। सोते समय या असावधानी की अवस्था में भी राक्षस उसके ऊपर आक्रमण नहीं कर सकते थे। सौभाग्य, चातुर्य, ज्ञान और बुद्धि-संबंधी निश्चय में तथा किसीके प्रश्न का उत्तर देने में कोई उसकी बराबरी नहीं कर सकता था। सभी प्रकार के ज्ञान की जननी थीं ये बला और अतिबला विद्याएं। इनके प्रभाव से भूख-प्यास का कष्ट नहीं होता था (१।२२।१३-२१)। राम ने पहले आचमन करके अपने को पवित्र किया और फिर महर्षि से इन दोनों विद्याओं को ग्रहण किया।

प्रतीत होता है कि बला और अतिबला विद्याओं में क्रमशः लौकिक और पारलौकिक (भौतिक और आध्यात्मिक) शक्तियां प्रदान करनेवाले विशिष्ट वैदिक मंत्रों का संग्रह था (**मन्त्रग्रामम्**)। बला विद्या में अथर्ववेद के-से जादू-

टोनोंवाले मंत्रों का संग्रह था, जिनके प्रयोग से युद्ध में बल और विजय प्राप्त होते थे, जबकि अतिबला विद्या में गूढ़, दार्शनिक मंत्र थे, जिनका लक्ष्य राम को दार्शनिक ज्ञान, बुद्धि की तीव्रता तथा वाद-विवाद में निपुणता प्रदान करना था (ज्ञाने, **बुद्धिनिश्चये, उत्तरे प्रतिवक्तव्ये**)।

अन्य रहस्यमयी विद्याओं में **स्वच्छंदबलगामिनी विद्या** (३।१७।२५) से इच्छानुसार कहीं भी जाने की शक्ति प्राप्त हो जाती थी। शूर्पणखा को इस विद्या की जानकारी थी। **सर्वभूतरुतविद्या** (२।३५।१९) से समस्त प्राणियों की भाषा समझी जा सकती थी। इस विद्या के प्रभाव से कैकेयी के पिता पशु-पक्षियों की बोली समझ लेते थे। **चक्षुष्मती विद्या** (४।५८।२९) से सौ योजन की दूरी तक देखने की क्षमता आ जाती थी। गृध्रों में यह विद्या विशेष रूप से प्रचलित थी। इससे वे अपना शिकार मीलों से देख लेते थे। **कामरूप-धारिणी विद्या** (६।३७।७-८) से इच्छानुसार रूप धारण किया जा सकता था। वानर और राक्षस इसमें सिद्धहस्त थे। **भूतविनाशिनी विद्या** (७।६६।६) नवजात शिशु की भूत-प्रेत की बाधाओं से रक्षा करती थी। सीता के शिशुओं को वाल्मीकि मुनि ने यह संरक्षण प्रदान किया था। **त्रिकालज्ञता विद्या** (१।३।६) से भूत, भविष्य और वर्तमान का आभास हो जाता था। वाल्मीकि मुनि इस विद्या के ज्ञाता थे। **अणिमा** नामक सिद्धि प्राप्त करने से आकाश में विचरण किया जा सकता था। इसी प्रकार अपने को भीमकाय और लघुकाय बना लेने की भी रहस्यमयी कलाएं प्रचलित थीं, जिनका हनुमान ने लंका में विचरण करते समय आश्रय लिया था।

यह सच है कि वाल्मीकि ने लव-कुश को समस्त रामायण कंठस्थ करा दी थी, पर इससे लेखन-कला का सर्वथा अभाव सूचित नहीं होता। इससे केवल यह संकेत मिलता है कि प्राचीन अध्यापक ताड़-पत्रों पर लिखी पुस्तकें पढ़ाने की अपेक्षा शिष्य की स्मरण-शक्ति को तीव्र बनाने में अधिक विश्वास रखते थे। यों लेखन-कला से लोग बिलकुल अनभिज्ञ नहीं थे, भले ही उसका प्रचार बहुत सीमित रहा हो। राम ने जो अंगूठी (अभिज्ञान) हनुमान द्वारा लंका में सीता के पास भिजवाई थी, उस पर उनका नाम अंकित था (**रामनामाङ्कितम्**)। बाणों पर अपना नाम लिखने का भी रिवाज था। अशोकवाटिका में रावण के अनुचित प्रणय-प्रस्ताव पर सीता ने उसे झिड़कते हुए कहा था कि वह समय दूर नहीं है जब

तुम्हारे यहां राम-लक्ष्मण नामवाले शरों की झड़ी लगने लगेगी।[1] वाल्मीकि ने लंका की समस्त रण-भूमि को राम-नाम-धारी बाणों से व्याप्त बताया है—**रामनामाङ्कितैर्बाणैर्व्याप्तं तद्रणमण्डलम्** (६।४४।२३)। आतंकित राक्षसों के मुख से यह आशंका प्रकट हो जाती थी कि राम-नामवाले बाणों से हमारे शरीर क्षत-विक्षत हो जायंगे (**विदार्य स्वतनुं बाणै रामनामाङ्कितैः शरैः,** ६।६४।२५)। युद्धकांड के अंत में दी गई फलश्रुति में रामायण लिखनेवालों (या उसकी प्रतिलिपि करनेवालों) को स्वर्ग का अधिकारी बताया गया है।[2] रामायण के श्रवण के अतिरिक्त उसका पाठ भी पुण्यप्रद माना गया है। मधुवन में आमोद-प्रमोद करते समय कुछ वानरों ने पढ़कर (**पठन्ति केचित्**) अपना मनोरंजन किया था।

लेखन-पद्धति के इस स्वल्प प्रचार तथा कागज और छपाई के पूर्ण अभाव के कारण शिक्षा अधिकतर मौखिक रूप से ही दी जाती थी। शिष्य अपने अर्जित ज्ञान को जीवन-पर्यंत स्थिर रख सकें, इसके लिए उनकी स्मरण-शक्ति के विकास पर गुरु विशेष ध्यान देते थे। वेदों की प्रक्षेपों या परिवर्तनों से रक्षा करने के लिए उन्हें स्मृति-कोश में सुरक्षित रखा जाता था। अयोध्या के ब्राह्मणों ने राम से कहा था कि हमारी जो बुद्धि सदा वेद-मंत्रों के चिंतन में लगी रहती है, आपको वन जाते देख वही वनवास का निश्चय कर चुकी है; हमारे परम धन वेद तो हमारे हृदय में स्थित रहेंगे।[3] जन-समूहों में रामायण कंठाग्र सुनाते समय लव-कुश के पास कोई लिखित पुस्तक या संकेत होने का प्रमाण नहीं मिलता। इस मौखिक पद्धति का एक बहुत बड़ा लाभ यह था कि शिक्षण-क्रिया पूर्णतः प्रत्यक्ष और व्यक्तिगत होती थी—गुरु और शिष्य के बीच किसी पाठ्य-पुस्तक का भी व्यवधान उत्पन्न नहीं होता था।

कथा-शैली भी एक लोकप्रिय शिक्षा-प्रणाली थी। इसके अनुसार गुरु रोचक

---

१. इषवो निपतिष्यन्ति रामलक्ष्मणलक्षिताः।५।२१।२५

२. भक्त्या रामस्य ये चेमां संहितामृषिणा कृताम्। ये लिखन्तीह च नरास्तेषां वासस्त्रिविष्टपे।।६।१२८।१२०

३. या हि नः सततं बुद्धिर्वेदमन्त्रानुसारिणी। त्वत्कृते सा कृता वत्स वनवासानुसारिणी।। हृदयेष्ववतिष्ठन्ते वेदा ये नः परं धनम्।२।४५।२४-५

एवं उपदेशपूर्ण कथाएं सुनाकर शिष्य को ऊंचे धार्मिक और नैतिक सिद्धांत हृदयंगम करा देता था। ये कथाएं परंपरागत होती थीं और उनमें महान नर-नारियों की स्मरणीय कृतियां उपनिवद्ध रहती थीं। वनवासी ऋषि-मुनि इन कथाओं के भंडार होते थे। वे इन कथाओं के माध्यम से अपने शिष्यों को पौराणिक साहित्य से अवगत करा दिया करते थे। शिक्षा की इस कथा-शैली के अनेक लाभ थे। शुष्क और गंभीर ज्ञान कथा-कहानियों के रूप में प्रस्तुत होकर सरस, सुवोव और आकर्षक वन जाता था। वह शिष्यों की वुद्धि को भाराक्रांत न कर उनकी अभिरुचि को, उनके कौतुक को जगाता था (रमयामास); वे अधिकाधिक सुनने, जानने और समझने को प्रेरित होते थे। कथाओं का आश्रय लेकर गुरु अपनी पाठ्य-प्रणाली में विस्मय, औत्सुक्य और नवीनता का पुट ला देता था। सफल शिक्षक का सदा से यह एक रहस्य रहा है। अतीत के प्रख्यात वीरों और महर्षियों का उदाहरण देकर धर्म, नीति और दर्शन के दुरूह तत्व सजीव और अनुकरणीय वना दिये जाते थे। विश्वामित्र ने अभिराम कथाएं सुनाकर राम का जो मनोरंजन और ज्ञान-संवर्धन किया था, उससे कथा-शैली की उपादेयता सिद्ध हो जाती है।

आर्ष-ग्रंथों को सीखने के लिए उनका प्रातःकाल उच्च स्वर से घोष किया जाता था। अंधमुनि ने अपने मृत पुत्र के लिए विलाप करते हुए कहा था कि अव शेष रात्रि में अध्ययन करते हुए कौन मुझे मधुर स्वर से वेदों का पाठ या शास्त्र-चर्चा सुनाया करेगा।[1] वैदिक आश्रमों का वायु-मंडल मंत्रों के घोष से गुंजायमान रहता था (ब्रह्मघोषनिनादितम्)। वैदिक मंत्रों का पूरा फल प्राप्त करने के लिए उन्हें शास्त्रानुसार यथास्वर पढ़ने का विधान था। भारत में परम प्राचीन काल से शास्त्रों के पाठ-मात्र का वड़ा माहात्म्य माना गया है। वाल्मीकि ने भी रामायण के पाठ की लौकिक और पारलौकिक महिमा गाई है।

अर्जित ज्ञान कहीं शिथिल या विस्मृत न हो जाय, इसके लिए प्राचीन शिक्षा-शास्त्रियों ने दैनिक स्वाध्याय या अभ्यास की प्रणाली निकाली, जिसमें विद्यार्थी गुरु से प्राप्त ज्ञान को नित्य नियमपूर्वक दोहराता है, कंठस्थ किये हुए शास्त्रों का वार-वार पाठ करता है। पुस्तकों के अभाव में उन दिनों यह और भी आवश्यक

---

१. देखिए टिप्पणी २, पृष्ठ १२१।

हो जाता था। इसीलिए हम नारद-जैसे उच्च अध्येताओं को भी **तपःस्वाध्याय-निरतम्** पाते हैं। अभ्यास के अभाव में विद्या क्षीणकाय हो जाती है (**आम्नायानामयोगेन विद्यां प्रशिथिलामिव,** ५।१५।३८)। स्वाध्याय एक प्रकार से स्वयं-शिक्षण था, अर्जित विद्या का अनवरत 'उपासनम्' था; इसमें शिष्य को गुरु की सहायता की अपेक्षा नहीं रहती थी। जिन ब्रह्मचारियों को राम ने वन जाते समय प्रचुर दान-दक्षिणा से संतुष्ट किया था, वे **नित्यस्वाध्यायशीलत्वान्नान्यत्कुर्वन्ति किंचन,** निरंतर स्वाध्याय में लगे रहने के कारण और कुछ भी नहीं करते थे। मुनिकुमार ऋष्यश्रृंग पितृ-सेवा और स्वाध्याय में इतने निमग्न रहते थे कि उनमें काम-चेतना का उदय ही नहीं हुआ था।

विचार-विमर्श, ज्ञान-चर्चा और तर्क-वितर्क भी किसी विषय का सम्यक बोध प्राप्त करने के संमत साधन थे। बुद्धिजीवी वर्गों में उनका बड़ा व्यसन था। नवयुवक छात्र विवादों में विजयी बनने को आतुर रहते थे। कर्मांतरों में (यज्ञ-यागों में बीच-बीच के विश्राम के समय) ऐसे विवादों के लिए उपयुक्त अवसर मिल जाता था।[1] राम असाधारण वक्ता थे, अपने न्याययुक्त पक्ष के समर्थन में वाचस्पति के समान एक-से-एक बढ़कर युक्तियां देते थे।[2] अस्त्र चलाने का अभ्यास करते समय उन्हें जो अवकाश के क्षण मिलते थे, उनमें वे चरित्र, ज्ञान तथा आयु में बड़े सत्पुरुषों से सदा बातचीत करते और उनसे शिक्षा लेते थे।[3] सुशासित राज्यों में विद्वज्जन वनों-उपवनों में जाकर निश्चितता से शास्त्र-चर्चा किया करते थे।[4] इन चर्चाओं में तर्क और विश्लेषण की पद्धति अपनाई जाती थी। छात्रों के साहित्यिक प्रशिक्षण में ये तर्क-वितर्क बड़े सहायक होते थे। बाद में ये शास्त्रार्थ की संज्ञा पाकर पंडित-समाज में प्रचलित हो गए।

---

१. देखिए टिप्पणी २, पृष्ठ १२६।

२. उत्तरोत्तरयुक्तीनां वक्ता वाचस्पतिर्यथा ।२।१।१७; २।४।४३ भी देखिए।

३. शीलवृद्धैर्ज्ञानवृद्धैर्वयोवृद्धैश्च सज्जनैः। कथयन्नास्ति वै नित्यमस्त्रयोगान्तरेष्वपि ॥२।१।१२

४. तुलना कीजिए—नाराजके जनपदे नराः शास्त्रविशारदाः। संवदन्तोपतिष्ठन्ते वनेषूपवनेषु वा ॥२।६७।२६

रामायणकालीन शिक्षा का आदर्श राम की शिक्षा-दीक्षा में मिलता है। राजकुमारों को दी जानेवाली शिक्षा का भी उससे पर्याप्त आभास मिल जाता है। राम का समस्त जीवन ही शिक्षा के आदर्शों का सारभूत उदाहरण था।

राम और उनके भाइयों के विद्याध्ययन का जो पहला वृत्तांत वाल्मीकि-रामायण में उपलब्ध होता है, वह उस समय का है जब वे वयस्क गिने जाने लगे थे। वे सभी वेदों के विद्वान थे, फिर भी उनका वैदिक अध्ययन जारी था। वे ज्ञानवान, धनुर्वेद में प्रवीण, घोड़े पर चढ़कर धनुष-बाण से शिकार करनेवाले तथा हाथी, घोड़े और रथ पर सवारी करने में कुशल थे। सभी लज्जाशील, शूरवीर, यशस्वी, सर्वज्ञ और दूरदर्शी थे। वे सद्‌गुणों से संपन्न, पिता की सेवा में दत्तचित्त रहनेवाले तथा लोक-हितकारी कार्यों में लगे रहते थे (१।१८।२५-३८)।

उपर्युक्त शिक्षा में औचित्य एवं संतुलन का पूरा ध्यान रखा गया है। पर्याप्त ज्ञान से संपन्न होने पर भी चारों भाइयों का स्वाध्याय जारी रहना बताया गया है। इस शिक्षा में एक तरुण के लिए आवश्यक शारीरिक व्यायाम का भी समावेश है; सैनिक प्रशिक्षण, शक्तिशाली पशुओं का नियंत्रण, रथचर्या और मृगया, शक्तिवर्धन के ये साधन सर्वथा युवकोचित थे। नैतिक दृष्टि से इस आयु में पैतृक अनुशासन का भी वांछनीय स्थान रखा गया है। विनम्रता और समाज-सेवा तरुण के उत्साह और महत्वाकांक्षा को मर्यादा में रखने के लिए आवश्यक तत्व थीं।

इसी समय राम को कुछ समय के लिए विश्वामित्र के अधीन कर दिया गया। विश्वामित्र ने राम को नवीन प्रकार के शस्त्रास्त्रों के प्रयोग की शिक्षा दी। विश्वामित्र के पास कुल-परंपरागत पचपन असाधारण अस्त्रों का संग्रह था, जो उस समय दुर्लभ थे तथा जिनका प्रयोग करनेवाला युद्ध में अजेय बन सकता था। इन अस्त्रों को विश्वामित्र ने राम को प्रदान कर उनके प्रयोग की विधि भी सविस्तर समझा दी (१।२७-२८)। इस अस्त्र-शिक्षा का व्यावहारिक उपयोग करने का भी अवसर राम को शीघ्र ही मिल गया, जब उन्हें विश्वामित्र के यज्ञ में विघ्न पहुंचानेवाले राक्षसों का संहार करना पड़ा। इसके पश्चात उन्होंने मिथिला के स्वयंवर में सीता को पत्नी-रूप में प्राप्त कर लिया, किंतु विवाह के बाद भी उनकी शिक्षा-दीक्षा काफी समय तक चलती रही। जब महाराज दशरथ ने राम को युवराज-पद पर अभिषिक्त करना चाहा, उस समय राम लगभग तीस वर्ष के हो

चले थे।[1] इस अवसर पर राम की उन सभी विशेषताओं का विस्तार से उल्लेख किया गया है, जो उन्हें युवराज-पद के लिए विशेष उपयुक्त बनाती थीं (२।१-२)। इन विशेषताओं के सूक्ष्म अध्ययन से पता चलता है कि अब तक राम ने कैसी सर्वांगीण बौद्धिक, शारीरिक, नैतिक एवं व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त कर ली थी।

विद्वत्ता की दृष्टि से राम प्रज्ञा, प्रतिभा, स्मरण-शक्ति और कल्पना से संपन्न थे। उन्होंने उस समय की सभी विद्याओं, वेद-वेदांगों और कलाओं में प्रवीणता प्राप्त कर ली थी। संस्कृत-प्राकृत आदि भाषाओं में वह निपुण थे। मनोरंजन के उपयोग में आनेवाले संगीत, वाद्य और चित्रकारी-जैसे शिल्पों के वह विशेषज्ञ थे। धर्म और अर्थ के ज्ञाता ब्राह्मणों से उन्हें उत्तम शिक्षा मिली थी। उन्हें धर्म, अर्थ और काम के तत्वों का सम्यक ज्ञान था। सामयिक लोकाचारों से वह सुपरिचित थे। विद्वानों का सत्संग, सत्पुरुषों से वार्तालाप तथा वाद-विवाद का अभ्यास भी वह खूब करते थे।

शारीरिक दृष्टि से राम नीरोग शरीर, तरुण अवस्था तथा सुंदर विग्रह से सुशोभित थे। उनका व्यक्तित्व पूर्ण विकसित, बलिष्ठ एवं प्रभावशाली था। अपनी वीरता, ओज, तेज तथा पराक्रम के कारण वह देश के प्रीति-भाजन थे। शस्त्रास्त्रों का वह निरंतर अभ्यास करते रहते थे। वह धनुर्वेद के विद्वानों में श्रेष्ठ, देवों, असुरों या मानवों के सभी शस्त्रास्त्रों के प्रयोग में प्रवीण, हाथी-घोड़ों की सवारी में चतुर तथा बाण-विद्या में तो अपने पिता से भी बढ़कर थे। अतिरथी पुरुषों में उनका विशेष आदर था। सैन्य-संचालन में उन्होंने विशेष निपुणता प्राप्त की थी। वह शत्रु-सेना पर आक्रमण और प्रहार करने में कुशल थे। जब वह किसी नगर या गांव को सर करने निकलते, तब बिना जीते वापस नहीं आते थे। संग्राम में वह अजेय थे।

राजकुमार होने के नाते राम राजनीति के व्यवहार में पारंगत थे। कुल-परंपरागत प्रवृत्तियों और लक्षणों से वह युक्त थे। क्षात्र-धर्म के प्रति उनकी श्रद्धा थी। उन्हें सत्पुरुषों के संग्रह, दीनों पर अनुग्रह तथा दुष्टों के निग्रह के अवसरों का यथोचित ज्ञान था। वह देश-काल के तत्व को समझते थे। उनका क्रोध

---

१. राम का विवाह उनके सत्रहवें वर्ष में हुआ था और फिर अयोध्या में बारह वर्ष रहकर तेरहवें वर्ष में वह वन गए थे (१७+१३=३०)।

या हर्ष कभी निरर्थक नहीं जाता था। वह गंभीर थे, लोगों के मनोभावों को परखनेवाले पर स्वयं के भाव गुप्त रखनेवाले थे। वह आय बढ़ाने के उपायों को तथा व्यय के उचित प्रकारों को भली भांति जानते थे। प्रजा का राम के प्रति और राम का प्रजा के प्रति अनुराग था। वह प्रजा-हित में तत्पर तथा लोगों को चंद्रमा के समान सुख और आनंद प्रदान करते थे। धर्म और अर्थ का पूर्णतया पालन करने के बाद ही वह सुख का उपभोग करते थे। युद्धों से लौटने पर वह स्वजनों की तरह नागरिकों की—उनके स्त्री-पुत्रों, सेवकों, अग्नियों तथा शिष्यों की—कुशल-क्षेम पूछना नहीं भूलते थे। प्रजाजनों के कष्टों से वह बड़े दुखी होते तथा उनके उत्सवों में पिता के समान परितुष्ट होते थे।

एक सदाचारी पुरुष के रूप में राम कभी अशुभ कार्यों में रुचि नहीं लेते थे—वह किसीके दोष नहीं देखते थे। वह सदा शांतचित्त रहते थे। यदि कोई उनसे कठोर बात भी कह देता तो वह उसका उत्तर नहीं देते थे। वह कृतज्ञ थे—एक ही उपकार से कृतार्थ हो जाते थे, जबकि किसीके सैकड़ों अपकार करने पर भी उन्हें याद नहीं रखते थे। वह सदा मधुर, प्रिय और मृदु हास्यपूर्वक बोलते थे। वह परम दयालु, क्रोध को जीतनेवाले, ब्राह्मणों के पुजारी, दीनों पर कृपालु, धर्म का रहस्य जाननेवाले और इंद्रिय-जयी थे। बाहर और भीतर से वह सदा शुद्ध रहते थे। शास्त्र-विरुद्ध बातें सुनने में उनकी कभी रुचि नहीं होती थी। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था कि विधाता ने संसार में समस्त पुरुषों के सार-तत्व को समझनेवाले साधु पुरुष के रूप में एक-मात्र राम को प्रकट किया है। वह कल्याण की जन्म-भूमि, साधु, दीनता से रहित और सत्यवादी थे। दोष-दृष्टि का तो उनमें लेश-मात्र भी नहीं था। क्रोध को वह जीत चुके थे। द्वेष और अभिमान उनके पास भी नहीं फटकने पाते थे। धैर्य में वह पर्वत के समान थे। वह काल के वश में होकर उसके पीछे-पीछे चलनेवाले नहीं थे, काल ही उनके पीछे चलता था। सरल और सज्जन होने पर भी उनकी कोई अवहेलना नहीं कर सकता था। मृदु होने पर भी वह स्थिरचित्त थे; शक्तिशाली होते हुए भी वह गर्व या विस्मय से फूलनेवाले नहीं थे। सभीके बारे में वह सत्य और संगत बातें कहते थे। भोग और त्याग का यथोचित समय वह जानते थे। आलस्य उन्हें छू तक नहीं गया था, न वह असावधान ही रहते थे।

उक्त विवरण के अध्ययन से पता चलता है कि इस समय तक राम की शिक्षा-

दीक्षा, व्यापकता एवं प्रगाढ़ता की दृष्टि से, वहुत प्रगति कर चुकी थी। विवाह से पहले राम का वैदिक अध्ययन जारी था; वाद-विवाद में निपुण तथा युद्धों में प्रवीण बनाने के लिए उन्हें अथर्ववेदीय शिक्षा दी गई थी; सामान्य ज्ञान उनका व्यापक था। पर इसके तेरह वर्ष वाद की अवधि में उनकी वैदिक शिक्षा सांगोपांग पूर्ण हो चुकी थी; अर्थ और धर्म की शिक्षा भी वह विशेषज्ञों से लेने लगे थे। कर्म-कांड और लोकाचार, विभिन्न भाषाएं, वक्तृत्व-कला, विद्वानों से संभाषण, तर्क और विवाद, अर्थ-शास्त्र और आय-व्यय, संगीत और काम-शास्त्र, इन सवमें उनकी पर्याप्त गति हो चुकी थी। राम की यह विवाहोत्तरकालीन शिक्षा मुख्यत: साहित्यिक, दार्शनिक, कलात्मक और सामाजिक थी और इसमें कुछ-कुछ अर्थशास्त्रीय गणित का भी समावेश था। इस शिक्षा में काम या काम-शास्त्र का उल्लेख इस बात का सूचक है कि उपयुक्त अवस्था में युवक को इस शास्त्र का ज्ञान कराना भी वांछनीय माना जाता था। भारत को छोड़कर शायद ही अन्य किसी देश की शिक्षा-व्यवस्था में काम-शास्त्र को इतनी प्राचीन स्वीकृति मिली हो। जहां तक शारीरिक व्यायाम और सैनिक प्रशिक्षण का प्रश्न है, राम इनका नियमित सेवन करते रहे, साथ-ही-साथ युद्ध में प्रयुक्त होनेवाले पशुओं और सवारियों का संचालन भी होता रहा। पहले विश्वामित्र के साथ जो प्रयोगात्मक युद्ध किये गए थे, वे तत्पश्चात नियमित सैन्य-संचालन और आक्रमणों के रूप में प्रगति कर चुके थे। वीच-वीच में विद्वच्चर्चा भी हो जाया करती थीं। परिणामस्वरूप राम का पूर्ण शारीरिक विकास हो चुका था; वल और सौंदर्य का उनमें कांत संयोग था। अव राम को 'अतिरथी' का पद प्राप्त हो चुका था। नैतिक दृष्टि से राम की प्रगति प्रभावोत्पादक है। सोलह-वर्षीय तरुण राम जहां उत्साह और महत्वाकांक्षाओं से परिपूर्ण हैं तथा पैतृक अनुशासन की अपेक्षा रखते हैं, वहां इस समय युवक राम चरित्र-संवंधी अनेक विशेषताएं प्रदर्शित करते हैं। उन्हें क्षात्र-धर्म का पूरा भान है; शील और शिष्टाचार से वह संपन्न हो गए हैं। अपने स्वभाव में विरोधी वातों का समावेश करने में भी वह समर्थ हैं—वह सौम्य किंतु प्रवल विचार-शक्ति-संपन्न, शक्तिशाली तथापि निरभिमानी, सात्विक वृत्तिवाले फिर भी जीवन के आनंदों का परित्याग न करनेवाले हैं। अपने भावों और वृत्तियों को वह कावू में रख सकते हैं। वह संसार में होते हुए भी उससे पृथक हैं। उनमें अपने गुण-दोष आंकने की क्षमता है। उनके विचार स्वतंत्र हैं; अपने समय के

वह दास नहीं हैं। वह उदार, सहानुभूतिशील, समाज में रुचि लेनेवाले तथा उसकी सत्प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देनेवाले हैं। संक्षेप में, राम अपने युग की एक अद्वितीय विभूति थे, जिनमें वीरता और सुसंस्कृति, सौम्यता और विनय तथा अलौकिक आत्मसंयम और आध्यात्मिक निष्ठा का मणि-कांचन संयोग था।

रामायण के कुछ स्थलों से प्रकट होता है कि यदि राम इस समय युवराज-पद के लिए न चुन लिये जाते और इसके तुरंत बाद ही वन में न चले गए होते तो उनकी शिक्षा इसके बाद भी जारी रहती। तभी तो दशरथ चिंता के मारे कह उठते हैं कि अभी तक राम वेदों के अध्ययन से, ब्रह्मचर्य के संयम-नियम से तथा गुरुओं की अधीनता से कृश होते रहे हैं, और अब (यौवराज्याभिषेक के बाद) जबकि उनका सुख भोगने का समय आया है, उन्हें फिर (वनवास के) कष्टपूर्ण जीवन को स्वीकार करना पड़ रहा है—

वेदैश्च ब्रह्मचर्यैश्च गुरुभिश्चोपकर्शितः।
भोगकाले महत्कृच्छ्रं पुनरेव प्रपत्स्यते॥२।१२।८४

इसका अर्थ यह हुआ कि इस समय तक राम पूर्ण विद्यार्थी बने हुए थे और इस अनुशासन से वह युवराज बनने पर मुक्त हो जाते।

राम और लक्ष्मण को अपने विवाह में दो दिव्य धनुष, दो अभेद्य कवच, दो तरकस तथा दो खड्ग दहेज में मिले थे। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, ये आयुध उनके धनुर्विद्या के आचार्य के घर रखे रहते थे। वन जाते समय राम ने इन्हें उनके यहां से मंगवा लिया था। इससे प्रतीत होता है कि इस समय तक राम और लक्ष्मण अपने आचार्य के यहां नियमित रूप से शस्त्राभ्यास करते रहते थे। मोटे तौर पर यही जान पड़ता है कि राम ने इसी समय अपना अध्ययन समाप्त किया था, क्योंकि उनके वन चले जाने पर भरत ने अपना यह मत प्रकट किया कि राम ने वैदिक छात्र की जीवन-चर्या का यथाविधि पालन किया है और उन्होंने अपना अध्ययन-क्रम भी संपूर्ण किया है, अतः मैं राज्य-प्राप्ति का उनका मौलिक अधिकार कैसे छीन सकता हूं—

चरितब्रह्मचर्यस्य विद्यास्नातस्य धीमतः।
धर्मे प्रयतमानस्य को राज्यं मद्विधो हरेत्॥२।८२।११

वस्तु-स्थिति जो भी रही हो, इतना तो स्पष्ट और निर्विवाद है कि राम अभी

तक अपने आचार्यों और शिक्षालयों के निकट संपर्क में थे, चाहे वह वहां औपचारिक रूप से अध्ययन करते हों या नहीं।

जब भरत राम को लौटा लाने के लिए चित्रकूट गए, तब राम ने उन्हें राज-धर्म और व्यवहार-धर्म का सारगर्भित उपदेश दिया, जो उनकी बहुश्रुतता का परिचायक है (२।१००)। राम के समग्र प्रवचन से ज्ञात होता है कि वनवास से पहले राम इन-इन विषयों में विशेष रुचि लिया करते थे—दर्शन, कर्मकांड, राजनीति, अर्थ-शास्त्र, वेद, सेना और युद्ध, शासन-व्यवस्था, राजतंत्र की सूक्ष्मताएं तथा आस्तिकों और नास्तिकों के बौद्धिक संघर्ष।

वनवास-काल में राम अनेक वैदिक आश्रमों के संपर्क में आये, जिससे उनकी शिक्षा-दीक्षा में उत्तरोत्तर परिष्कार होता गया। अगस्त्य के आश्रम में उन्होंने कुछ शस्त्रों के प्रयोग की वैदिक विधि सीखी (३।१२)। इसके तीन वर्ष बाद हनुमान ने लंका में सीता के समक्ष राम का वर्णन करते हुए कहा था कि वह ब्रह्म-चर्य-व्रत का पालन करते हैं। वह धनुर्वेद तथा अन्य वेद-वेदांगों के परिनिष्ठित विद्वान हैं। यजुर्वेद की भी उन्हें शिक्षा मिली है। वैदिक विद्वानों में उनका बड़ा संमान है। वह राजनीति में पूर्ण शिक्षित, ज्ञानी, शीलवान और विनम्र हैं। साथ ही, हनुमान ने राम के अंग-प्रत्यंग की सुडौलता का जो वर्णन किया, उससे सूचित होता है कि इस अवस्था में भी राम शारीरिक गठन और विकास पर कितना अधिक ध्यान देते थे (५।३५।१२-२०)।

सीता के विरह में राम को जिन परिस्थितियों में रहना पड़ा, उनमें यह स्वाभाविक था कि उन्हें अपने चिर-अभ्यस्त अध्ययन-काल की स्मृति हो आये। ऋष्यमूक पर्वत पर सुहावनी वर्षा-ऋतु का अवलोकन करते हुए वह कह उठते हैं—

मेघकृष्णाजिनधरा धारायज्ञोपवीतिनः।
मारुतपूरितगुहाः प्राधीता इव पर्वताः॥४।२८।१०

'देखो, ये पर्वत मेघों के रूप में काला मृग-चर्म पहने हुए हैं; वर्षा की धाराएं इनके यज्ञोपवीत हैं; इनकी गुफाओं में से वायु का शब्द निकल रहा है—जान पड़ता है, वटुओं के समान इन पर्वतों ने अपना अध्ययन प्रारम्भ कर दिया है।'

मासि प्रौष्ठपदे ब्रह्म ब्राह्मणानां विवक्षताम्।
अयमध्यायसमयः सामगानामुपस्थितः॥४।२८।५४

'भादों का महीना आ गया। यह स्वाध्याय की इच्छा रखनेवाले ब्राह्मणों के लिए उपाकर्म का समय है। सामगान करनेवाले विद्वानों के अध्ययन का भी यही समय है।'

चौवालीस वर्ष की आयु में राम का राज्याभिषेक हुआ। नारद ने इन्हीं राम का वर्णन वाल्मीकि के प्रति बालकांड के प्रथम सर्ग में किया है। वाल्मीकि अपने चरितनायक में शरीर, मन और चरित्र की सभी विशेषताओं का सामंजस्य-पूर्ण विकास देखना चाहते थे—जिसमें योग्यता और बल, धार्मिकता और पुरुषार्थ, पांडित्य और सुंदर स्वास्थ्य इन विरोधी बातों का एकीकरण हो, जो दृढ़-प्रतिज्ञ होते हुए भी प्रियदर्शन हो, सभी प्राणियों का हित-साधक और किसीकी निंदा न करनेवाला होने पर भी जिसके कोप से संग्राम में देवता भी डरते हों (१।१।२-५)।

नारद के अनुसार राम ही इस आदर्श कोटि के महापुरुष थे। स्वास्थ्य की दृष्टि से उनके कंधे मोटे और भुजाएं बड़ी-बड़ी थीं। ग्रीवा शंख के समान, ठोढ़ी भरी हुई, छाती चौड़ी तथा गले के नीचे की हड्डी (हँसली) मांस से छिपी हुई थी। उनकी भुजाएं लंबी, मस्तक सुंदर, ललाट भव्य और चाल मनोहर थी। उनका शरीर अधिक ऊंचा या नाटा न होकर मध्यम और सुडौल था तथा देह का रंग चिकना था। उनका वक्षःस्थल भरा हुआ और आंखें चौड़ी थीं। वह धनुर्वेद में प्रवीण, महाबलवान, शत्रु-संहारक और बड़े धनुषवाले थे। मानसिक दृष्टि से राम बुद्धिमान, नीतिज्ञ, वक्ता, वेद-वेदांग के तत्व को जाननेवाले, अखिल शास्त्रों के मर्मज्ञ, स्मरण-शक्ति से युक्त और प्रतिभा-संपन्न थे। नैतिक दृष्टि से वह मन को वश में रखनेवाले, एकाग्र, जितेंद्रिय, सत्यप्रतिज्ञ, अपनी माता के आनंद को बढ़ानेवाले, सज्जनों को आकर्षित करनेवाले, सबमें समान भाव रखनेवाले, गंभीरता में समुद्र और धैर्य में हिमालय के समान, क्रोध में कालाग्नि के समान, क्षमा में पृथ्वी के सदृश तथा दान में कुबेर और सत्य में द्वितीय धर्मराज के समान थे। राजा के रूप में वह शोभायुक्त, शुभ लक्षणों से संपन्न, यशस्वी, प्रजा के हित-साधन में तत्पर, श्री-संपन्न तथा धर्म और जीवों के रक्षक थे (१।१।८-१८)। इस प्रकार राज्याभिषेक के समय राम एक आदर्श सुशिक्षित पुरुष बन चुके थे।

राज्याभिषेक के बाद शासन-व्यवस्था में संलग्न रहते हुए भी राम ऋषियों, विद्वानों तथा आश्रमवासियों के संपर्क में निरंतर आते रहे। उनके दरबार में

कथा-वार्ता और सत्संग होते रहते थे। उनके अश्वमेध-यज्ञ में देश-देशांतर से अपने-अपने विषयों के विद्वान एकत्र हुए थे। वास्तव में राम ने अपना समस्त जीवन शिक्षा और संस्कृति के वातावरण में ही व्यतीत किया।

वाल्मीकि ने राम को एक आदर्श महापुरुष के रूप में चित्रित किया है। उनमें वे सभी सद्‌गुण थे, जो मानव में कल्पित किये जा सकते हैं। उन्हें जो सर्वांगीण शिक्षा मिली, उससे वह लौकिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में खूब चमके। उनकी परिष्कृत रुचि और कलाप्रियता, उदारता और सहानुभूति, मानवता और सहृदयता के कारण उनका जीवन एकांगी नहीं रहा और उन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा द्वारा समकालीन जगत को बड़ा प्रभावित किया। सदाचार और नैतिकता की दृष्टि से तो वह अपने युग से कोसों आगे थे। किंतु वाल्मीकि ने ऐसा संकेत कहीं नहीं दिया है कि यह अलोकसामान्य गुणावली राम को इसलिए प्राप्त हुई कि वह ईश्वरीय अवतार थे, और इसलिए नहीं कि उन्हें भी सामान्य विद्यार्थियों का-सा अनुशासनपूर्ण जीवन बिताना पड़ा। यदि उन्होंने बुद्धि की सूक्ष्मता, दार्शनिक विद्वत्ता, युद्ध-कुशलता, विवाद-निपुणता, यहां तक कि संगीत में भी प्रवीणता प्राप्त की तो इसका रहस्य यही था कि उन्होंने अपने गुरुओं और आचार्यों के अनुशासन में दीर्घ काल तक इन विषयों का मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया था।

इस स्थल पर रामायण-काल में स्त्री-शिक्षा की भी कुछ चर्चा करना आवश्यक है। कन्याओं के लिए विवाह अनिवार्य[1] होने के कारण उनमें से अधिकांश वयस्क होते ही व्याह दी जाती थीं; शेष अल्पसंख्यक लड़कियां कौमार्य का पालन करती हुई अपना अध्ययन जारी रखती थीं। धर्मशास्त्रों में पहली श्रेणी की कन्याओं के लिए 'सद्योवधू' तथा दूसरी के लिए 'ब्रह्मवादिनी' की संज्ञा आई है। सद्योवधुओं को प्रार्थना और यज्ञादि के लिए आवश्यक वैदिक मंत्रों की शिक्षा दी जाती थी, जैसाकि कौसल्या, तारा और सीता के उदाहरणों में पाया जाता है। ब्रह्मवादिनी कन्याएं आजन्म अविवाहित रहतीं तथा स्वाध्याय, यज्ञ और तपस्या में संलग्न रहतीं। स्वयंप्रभा और वेदवती ऐसी ही ब्रह्मवादिनी महिलाएं थीं।

---

१. यस्मादवश्यं दातव्या कन्या भर्त्रे हि भ्रातृभिः। ७।२५।२८; ७।४।२१ भी देखिए।

प्रश्न होता है कि क्या उस युग में पुरुषों की तरह स्त्रियां भी आश्रमवासिनी बनकर शिक्षा प्राप्त किया करती थीं। रामायण के अनुसार उस समय देश में ऐसे कई आश्रम स्थापित थे, जहां सुशिक्षित तपस्विनियां धर्म-चर्चा और कर्मकांड में निरत रहती थीं। मेरुसावर्णि ऋषि की पुत्री स्वयंप्रभा ऋक्षबिल नामक गिरि-दुर्ग के निकट अपने पिता के आश्रम में रहती थी। स्वयंप्रभा की एक प्रिय सखी भी थी—हेमा। मय नामक दानव हेमा पर आसक्त हो गया था। उसकी मृत्यु के बाद हेमा को उसके द्वारा निर्मित ऋक्षबिल का दुर्ग और प्रासाद मिल गया, जिसका प्रबंध हेमा की ओर से स्वयंप्रभा करती थी। सीतान्वेषण करते समय हनुमान और उनके साथी वानरों का इस तेजस्विनी तापसी से परिचय हुआ था। स्वयंप्रभा अब वृद्धा हो चली थी, फिर भी 'अनिंदितलोचना', मनोहर-नेत्रा थी। चीर और काली मृगछाला पहने वह सर्वज्ञा, नियताहारा, सर्वभूतहिते रता तपस्विनी सदा धर्माचरण में व्यस्त रहती थी, कोई और कर्तव्य-कर्म उसके लिए शेष नहीं रह गया था। मार्ग से भटके हुए वानरों का उसने स्नेहपूर्वक आतिथ्य किया था। हेमा भी नृत्य और गीत में प्रवीण थी और यह सर्वथा संभव जान पड़ता है कि मेरुसावर्णि के आश्रम में वयस्क अविवाहित कन्याओं को सामान्य और कला-विषयक शिक्षा दी जाती थी (४।५१-२)।

स्वयंप्रभा से ही मिलता-जुलता उदाहरण वेदवती का था, जिसकी कथा उत्तरकांड के सत्रहवें सर्ग में वर्णित है। वेदवती के पिता ब्रह्मर्षि कुशध्वज थे। वह वेदाभ्यास (वेदों के स्वाध्याय और पाठ) में सदा संलग्न रहते थे। इसलिए उन्होंने अपनी पुत्री का नाम वेदवती रखा। वेदवती साक्षात 'वाङ्मयी' थी—वाणी की साकार प्रतिमा, उसके समस्त गुणों से विभूषित। पिता के अवसान के बाद वेदवती मिथिला-राज्य में हिमालय के निकटस्थ एक आश्रम में ब्रह्मचारिणी का अनुशासनपूर्ण एवं तपोमय जीवन बिताने लगी। कृष्ण मृग-चर्म और जटाओं से युक्त वह ऋषियों की ही भांति सत्कार्य में लगी रहती थी (**आर्षेण विधिना युक्ता**)। इस विवरण से ज्ञात होता है कि राजकुमारी वेदवती को, अपनी पारिवारिक परंपराओं के अनुरूप, एक आश्रम में वेदों और कर्मकांड की उच्च शिक्षा मिली थी और बाद में उसे ऋषि-तुल्य पद प्राप्त हो गया।

अहल्या भी आरंभ में गौतम ऋषि के आश्रम में, एक धरोहर के रूप में, रखी गई थी (**न्यासभूता न्यस्ता**)। वर्षों बाद, अनुशासित और प्रशिक्षित किये

जाने के पश्चात, उसे उसके अभिभावकों को लौटा दिया गया (**निर्यातिता**)। गौतम के चरित्र-बल तथा उनकी तप:सिद्धि से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने उनको अहल्या, पत्नी-रूप में स्पर्श किये जाने के लिए, भेंट कर दी (७।३०।२६-७)। हो सकता है, गौतम के आश्रम में कन्याओं को प्रशिक्षित करने की व्यवस्था रही हो। वहां दूर-दूर से माता-पिता अपनी पुत्रियों को वर्षों तक आश्रमवासिनी बनाकर रखते थे और ऐसी कन्याओं का कभी-कभी उनके गुरुओं से विवाह भी कर दिया जाता था।

जैसाकि कबंध ने राम-लक्ष्मण को बताया था, पंपा के निकट मतंगाश्रम में 'अद्यापि' (आज तक)[1] शबर-जाति की एक दीर्घजीवी तपस्विनी रहती थी, जिसने आश्रम के गुरुओं की प्रगाढ़ सेवा की थी और जो अब परलोक जाने से पहले राम के आगमन की प्रतीक्षा कर रही थी। वह एक वृद्धा, चारुभाषिणी, धर्म-परायणा महिला थी। जाति से वर्ण-बाह्य होने पर भी वह **विज्ञाने नित्यमबहिष्कृता**, विज्ञान में बहिष्कृत नहीं थी, अर्थात उसे परमात्मा के तत्व का पूर्ण ज्ञान था; पुरुषों की तरह उसके लिए भी, बिना किसी भेद-भाव के, समस्त ज्ञान के द्वार खुले थे। आश्रम के मतंग महर्षि इहलोक से तभी चल बसे थे, जब ग्यारह-बारह वर्ष पूर्व राम चित्रकूट पर थे। उनकी मृत्यु के बाद आश्रम की दशा बिगड़ गई और उसमें अब अकेली शबरी रहती थी। राम ने उससे पूछा था कि तुमने अपने गुरुजनों की जो सेवा की है, वह क्या पूर्ण रूप से सफल हो गई है? राम ने कबंध के मुख से उन महात्माओं का प्रभाव सुन रखा था और अब उन्होंने उस प्रभाव को प्रत्यक्ष देखने की जिज्ञासा प्रकट की। शबरी ने उन्हें मतंगाश्रम के वे सभी दर्शनीय स्थान दिखाये, जिनसे उन दिवंगत महर्षियों की स्मृति अब तक सजीव रूप से जुड़ी हुई थी—मेघ की घटा के समान सघन एवं पक्षि-संकुल मतंग-वन; प्रत्यक्-स्थली वेदी जहां वे (वृद्धावस्था के कारण) अपने कांपते हुए हाथों से देवताओं को पुष्पों की भेंट चढ़ाया करते थे; वह स्थान जहां उन्होंने गायत्री-मंत्र के जप से परिपूत अपने देह-रूपी पिंजर को मंत्रोच्चारणपूर्वक अग्नि में होम दिया था; वृक्षों पर सूखने के लिए डाले गए उनके वल्कल-वस्त्र; तथा उनके द्वारा निर्मित

---

१. इससे यह ध्वनित होता है कि यह आश्रम अब भग्नावस्था को प्राप्त हो चुका था।

पुष्पों की मालाएं। जटिला (जो कि संभवतः शबरी का निजी नाम था) अब पूर्ण-मनोरथ हो गई थीं—उसे राम के चिर-अभिलषित दर्शन हो चुके थे; उन्हें वह आश्रम के प्रभाव और महत्व से भी अवगत कर चुकी थी। अतएव अब उसने चीर और कृष्णाजिन के आश्रम-वेश में सज्जित हो, राम की आज्ञा लेकर, अपने-आपको अग्नि में होम दिया। चित्त को एकाग्र कर वह 'सिद्धा सिद्धसंमता तापसी' उसी पुण्यशाली लोक को प्राप्त हुई जहां उसके गुरु—वे पुण्यात्मा महर्षि—पहले ही पहुंच चुके थे (३।७३-४)।

उक्त विवरण से डा० एस० सी० सरकार[1] ने स्त्री-शिक्षा के बारे में कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं। रामायण-काल में दक्षिण-पूर्वी भारत की महिलाएं आश्रमों में रहकर पुरुषों की ही तरह सर्वोच्च ज्ञान में दीक्षित हो सकती थीं। उनकी शिक्षा और प्रभाव की ख्याति बाहरी जगत में दूर-दूर तक फैली हुई थी। आर्थिक या अन्य संकट के समय उन्हें वर्षों तक किसी आश्रम की सारी व्यवस्था भी सौंपी जा सकती थी। अन्य प्रदेशों से आनेवाले राजकुमारों की सहानुभूति प्राप्त कर वे अपने आश्रम के पुनरुत्थान के लिए प्रयत्नशील रहती थीं। शबरी ने अपना समस्त जीवन अपने आश्रम के निमित्त उत्सर्ग कर रखा था। प्रचलित धारणा के विपरीत राम के दर्शन-मात्र करना उसका इतना बड़ा ध्येय नहीं था जितना कि उन्हें आश्रम की दयनीय, उपेक्षित दशा दिखाकर उनका सहयोग और समर्थन प्राप्त करना, जिससे उसके आश्रम को उनकी छत्रछाया में पुनः पहले जैसा महत्व और गौरव प्राप्त हो सके।

इस प्रसंग में हमें उस सामग्री का भी अध्ययन करना चाहिए, जो वाल्मीकि ने सीता की शिक्षा-दीक्षा के विषय में प्रस्तुत की है। सीता की शिक्षा-दीक्षा से तात्पर्य केवल यह नहीं है कि उन्होंने किन-किन ग्रंथों का अध्ययन किया अथवा किन-किन पाठशालाओं में शिक्षा पाई। वस्तुतः शिक्षा-दीक्षा के अंतर्गत उन सभी कारणों और परिस्थितियों का समावेश होता है, जो किसी व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में सहायक होते हैं।

---

१. 'एज्यूकेशनल आइडियाज एंड इन्स्टीटयूशन्स इन एन्श्यंट इंडिया', पृष्ठ ८७।

सीता राम से आयु में सात वर्ष छोटी थीं।[1] विवाह के वाद सीता वारह वर्ष तक राम के साहचर्य में अयोध्या में सुखपूर्वक रहीं और तेरहवें वर्ष में (जव राम तीस वर्ष के थे और वह तेईस वर्ष की) अपने पति के साथ वन गईं। चौदह वर्ष के वनवास-काल के आरंभिक वारह-तेरह वर्ष राम और सीता ने दंडकारण्य के आश्रमों में व्यतीत किये। लगभग पैंतीस वर्ष की आयु में सीता का रावण ने अपहरण किया और एक वर्ष तक उन्हें लंका में वंदी वनाकर रखा। उद्धार के पश्चात सीता अयोध्या लौटीं और छत्तीसवें वर्ष में राजरानी वनीं, किंतु एक ही वर्ष के भीतर उनका परित्याग कर दिया गया। इसी समय उनके दोनों पुत्रों का वाल्मीकि के आश्रम में जन्म हुआ। यहीं उन्होंने सोलह वर्ष विताये। वाल्मीकि के शिष्यों के रूप में जव लव और कुश राम की कीर्ति का प्रसार कर रहे थे, तव सीता को, अपने जीवन के चौवनवें वर्ष में, अयोध्या के दरवार में उपस्थित होने का निमंत्रण मिला। संभव था, राजमहिषी के रूप में उनकी पुनः प्रतिष्ठा हो जाती, किंतु मानसिक यातनाओं से उनका हृदय विदीर्ण हो चुका था। जन-समाज में शुद्धता का प्रमाण मांगे जाने पर उनका पति-निर्भर हृदय इस ठेस को सहन न कर सका और वह चल वसीं।

सीता के उपर्युक्त संक्षिप्त जीवन-परिचय से ज्ञात होता है कि रामायण में उनका मुख्यतः विवाहोत्तरकालीन जीवन चित्रित है। इस काल में उनकी शिक्षा-दीक्षा अंशतः उनके असाधारण पति द्वारा और अंशतः उनके दीर्घ निर्वासनों द्वारा प्रभावित हुई। फिर भी पिता के घर उनका वाल्य-काल शिक्षा की दृष्टि से व्यर्थ नहीं गया होगा। अवश्य ही उन्हें पढ़ना-लिखना सिखाया गया होगा। साक्षर तो वह निस्संदेह थीं। लंका में हनुमान द्वारा लाई गई अंगूठी पर अंकित राम-नाम को उन्होंने पढ़ और पहचान लिया था। साथ ही, उन्होंने कोई पद्यमयी नीति-कथा पढ़ी होगी और उसके वहुत-से अंश कंठस्थ भी किये होंगे। इसका प्रमाण हमें तव मिलता है, जव लंका-विजय के वाद हनुमान सीता की राक्षसी पहरेदारनियों को मार डालने का प्रस्ताव करते हैं और सीता उक्त

---

१. जव राम पच्चीस वर्ष के थे तव सीता अठारह वर्ष की थीं—'मम भर्ता महातेजा वयसा पञ्चविंशकः। अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते'॥ ३।४७।१०

नीति-कथा के दो श्लोकों को स्मृति से उद्धृत कर हनुमान को ऐसा करने से रोक देती हैं।[1]

सीता को अशोकवाटिका में संवोधित करने से पहले हनुमान ने जो भाषा-संबंधी सोच-विचार किया (५।३०।१७-९), उससे विदित होता है कि सीता संस्कृत के 'मानुषी' और 'द्विजाति' रूपों से सुपरिचित रही होंगी, किंतु 'वानर-संस्कृत' (संस्कृत के अपभ्रंश दक्षिणी रूप) से सीता अपरिचित या अल्प-परिचित रही होंगी, अन्यथा हनुमान उन्हें अपनी मातृभाषा में ही संबोधित करते। सीता के कौमार्य-काल में एक शांतिपरायणा भिक्षुणी ने आकर उनकी माता के सामने सीता के भावी वनवास की वात कही थी—

कन्यया च पितुर्गेहे वनवासः श्रुतो मया।
भिक्षिण्याः शमवृत्ताया मम मातुरिहाग्रतः ॥२।२९।१३

डा० सरकार के मतानुसार[2] यहां 'वनवास' का अर्थ 'बीहड़ जंगलों के कष्ट' नहीं लगाना चाहिए, क्योंकि राम-सीता के वनवास का अधिकांश भिन्न-भिन्न आश्रमों में सुखपूर्वक बीता था। वस्तुतः यहां पर एक दीर्घदर्शिनी और वाल-मनोविज्ञान में प्रवीण तपस्विनी द्वारा सीता की आंतरिक प्रकृति, रुचि और अध्ययन के क्षेत्र का—उनके प्रकृष्ट प्रकृति-प्रेम और आश्रम-जीवन के प्रति प्रगाढ़ अनुराग का—यथोचित अनुमान लगाया गया है। इस अनुमान की पुष्टि रामायण के अनेक स्थलों से होती है, विशेष कर जहां सीता राम से वन साथ चलने का आग्रह करती हैं। अपने भावी विकास के बारे में तपस्विनी के इस कथन से सीता बड़ी प्रभावित हुई होंगी, तभी तो वारह-तेरह वर्ष के राजकीय जीवन के बाद भी सीता बड़े उत्साह से उसका राम से उल्लेख करती हैं।

अपने पीहर में सीता को धार्मिक कृत्यों के संपादन की शिक्षा मिल चुकी होगी। विवाह के बाद वह ऐसे सभी कार्यों में राम को सक्रिय सहयोग देती थीं। अपने यौवराज्याभिषेक से पहले राम ने सपत्नीक नारायण के मंदिर में जाकर पूजन और हवन किया था। राम के साथ हुए वार्तालापों में सीता ने प्रचुर व्यावहारिक ज्ञान

---

१. अयं व्याघ्रसमीपे तु पुराणो धर्मसंहितः। ऋक्षेण गीतः श्लोकोऽस्ति तं निबोध प्लवंगम ॥६।११३।४१ आदि।

२. 'एज्यूकेशनल आइडियाज एंड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्शयंट इंडिया', पृष्ठ ६३।

और बुद्धिमत्ता प्रदर्शित की है। वन में राम से देश-धर्म का पालन कराने के लिए सीता ने इंद्र और तपस्वी का पौराणिक आख्यान बताया था तथा लंका में हनुमान को राक्षसियों के वध से रोकने के लिए ब्राह्मण और रीछ की पौराणिक कथा सुनाई थी। यह सब उनकी पैतृक शिक्षा-दीक्षा का सूचक है।

अपने पातिव्रत्य-धर्म की पुष्टि में सीता ने सावित्री, रोहिणी, दमयंती, शची, अरुंधती, लोपामुद्रा, सुकन्या, दमयंती और केशिनी-जैसी पतिपरायणा स्त्रियों का बार-बार उल्लेख किया है, जिससे पता चलता है कि बाल्य-काल में सीता को इन साध्वियों के पवित्र आख्यानों का श्रवण और मनन कराया गया होगा तथा इनके आदर्शों को अपने जीवन का लक्ष्य बनाने की प्रेरणा दी गई होगी। इसके अतिरिक्त सीता को यशस्वी ब्राह्मणों के मुख से यह श्रुति-ज्ञान भी प्राप्त हो चुका था कि पर-लोक में पत्नी का अपने पति से ही संगम होता है (२।२९।१७)। विवाह से पूर्व माता से और विवाह के बाद सास से सीता को पत्नी-कर्तव्य-विषयक शिक्षा मिली थी (२।११८।७-९)।

इस वैवाहिक शिक्षा से सीता के स्त्रीत्व का विकास और परिष्कार हुआ। बारह वर्ष के पति-सहवास के बाद सीता हमारे संमुख एक तेजस्वी पत्नी, एक सच्ची 'सहधर्मचारिणी' के रूप में आती हैं, न कि पति की गुड़िया या दासी के रूप में। राम के वन-गमन के समय सीता अपने भावी कार्यक्रम का स्वयमेव निश्चय कर लेती हैं, सास या पति से परामर्श करने की उन्हें कोई अपेक्षा नहीं। जब राम ने उनसे यह प्रस्ताव किया कि तुम अयोध्या में ही भरत की आज्ञा में रहो, तब सीता ने उन्हें तीखा उलाहना दिया। पारिवारिक विषयों में ही नहीं, सार्वजनिक कार्यों में भी सीता ने राम के कार्यों की आलोचना की है। जब राम ने दंडकारण्य में समस्त राक्षसों का संहार करने की प्रतिज्ञा की, तब सीता ने उन्हें स्मरण दिलाया कि आपको मुनि-धर्म का पालन करते हुए अकारण हिंसा से दूर रहना चाहिए (३।९)। इन उदाहरणों का यह अर्थ नहीं है कि सीता केवल छिद्रान्वेषण करनेवाली स्त्री थीं। अपने पति के अलौकिक गुणों का वह संमान करती थीं। जब राम ने शूर्पणखा के विवाह-प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया और सीता की रक्षार्थ खर की सेना को पराक्रमपूर्वक परास्त कर दिया, तब सीता का गुण-निर्भर हृदय अपने एकनिष्ठ और शूरवीर पति के प्रति प्रभूत आदर और अनुराग से परिपूर्ण हो गया था। मिथ्या-भाषण और परस्त्री-संसर्ग-जैसे दोषों से मुक्त रहने के उपलक्ष्य में राम का

सीता ने अभिनंदन किया था (३।९।४-५)। लंका में हनुमान के समक्ष उन्होंने अपने पति की उच्च शिक्षा का गर्व से उल्लेख किया था।

प्रतीत होता है कि विवाह के बाद अयोध्या में सीता राजप्रासादों में एकांत-वास ही नहीं करती थी, अपितु अपनी सास की तरह ऋषि-मुनियों और वैदिक शिक्षालयों के संपर्क में भी आती रहती थीं। राम-लक्ष्मण के आचार्य सुयज्ञ-वासिष्ठ की पत्नी सीता की सखी थीं। वन जाने से पहले सीता ने अपनी सखी को प्रचुर धन का उपहार दिया था। राम के साहचर्य में सीता को अपनी स्वाभाविक अभिरुचि के अनुसार वनवास बिताने का अवसर मिला। नगर और राज-दरबार के शिष्टाचारों तथा गृहिणी के बंधनों और चिंताओं से दूर रहकर सीता ने प्रकृति की गोद में एक उन्मुक्त विहग की भांति केलि-क्रीड़ा और स्वच्छंद विचरण किया। आश्रम-मंडलों के सुभग और पावन वायु-मंडल में तथा उनके निष्पाप निवासियों—प्रौढ़ा मुनि-पत्नियों एवं मुग्धा बालिकाओं—की सन्निधि में सीता की वनवास की मनोकामना पूर्णतया संतुष्ट हुई। प्रकृति, प्रेम और नूतन संस्कारों द्वारा प्रभावित सीता के नारीत्व का यह एक विलक्षण और अभिनव परिष्कार था।

बारह वर्षों के आश्रम-वास के पश्चात चौंतीस वर्ष की आयु तक सीता 'पंडिता' बन चुकी थीं, यद्यपि रावण की दृष्टि में वह 'पंडितमानिनी' ही नहीं, अपितु 'मूढा' भी थीं, क्योंकि उन्होंने राक्षसराज की राजमहिषी बनने के प्रस्ताव को ठुकरा दिया था।[1] हनुमान के साथ वार्तालाप में सीता ने स्त्रियों के गर्भाशय की शल्य-क्रिया किये जाने की ओर संकेत किया था (५।२८।६)। अवश्य ही हनुमान को सीता एक सुशिक्षित पंडित महिला प्रतीत हुई होंगी। इसीलिए उन्हें देखते ही हनुमान के मन में शिक्षा-संबंधी उपमाओं का स्रोत फूट पड़ा—सीता उन्हें धूमिल स्मृति के समान, अभ्यास न करने के कारण शिथिल पड़ी विद्या के समान, व्याकरण के नियमों से रहित दुर्बोध वाक्यार्थ के समान तथा प्रतिपदा को पाठ करनेवाले की क्षीण हुई विद्या के समान प्रतीत हुईं।[2] सीता स्वयं एक पंडिता के अनुरूप

---

१. राज्याच्च्युतमसिद्धार्थं रामं परिमितायुषम्। कैर्गुणैरनुरक्तासि मूढे पण्डित-मानिनि॥३।४९।१३-४

२. स्मृतोमिव संदिग्धाम् ।५।१५।२३; आम्नायानामयोगेन विद्यां प्रशिथिलामिव

भाषा का प्रयोग करती हैं—"जिस प्रकार वेद-विद्या आत्मज्ञानी स्नातक ब्राह्मण की संपत्ति होती है, उसी प्रकार मैं केवल धरापति राम की धर्मपत्नी हूं।"[1] "जिस प्रकार ब्राह्मण शूद्र को मंत्र-ज्ञान नहीं दे सकता, वैसे ही मैं भी रावण को अपना अनुराग नहीं दे सकती।"[2] यही नहीं, सीता उच्च शिक्षा की बारीकियों से सुपरिचित रही होंगी, तभी वह हनुमान द्वारा किये गए अपने पति की शिक्षा और उनके अंगों के शास्त्रीय वर्णन को ठीक तरह से आंक सकीं (५।३५)। जब हनुमान ने आकर सीता को लंका-विजय और रावण-वध का समाचार सुनाया, तब सीता ने उनकी विशेषताओं की तथा उनके अष्टगुणभूषित आदर्श भाषण की जो प्रशंसा की, उससे ज्ञात होता है कि पैंतीस वर्ष की अवस्था में वह एक सामान्य छात्रा के स्तर से बहुत ऊपर उठ चुकी थीं और उन्हें अपने समकालीन आचार्यों के विशिष्ट ज्ञान का सम्यक परिज्ञान हो गया था।

एक वर्ष के दुःखद वियोग के बाद सीता अपने विजयी पति के साथ अयोध्या लौटीं और पुनः वधू-रूप में प्रतिष्ठित हुईं। छत्तीस वर्ष की आयु में वह पति-प्रेम से विभूषित हो राजरानी के पद पर अभिषिक्त हुईं तथा प्रेम, यौवन, वैभव और विवाहित सौख्यों का अनुभव करने लगीं। किंतु यह सुखमय स्थिति अल्प समय तक ही रही। राज्याभिषेक का समारोह समाप्त हुआ और वह गर्भवती बनीं। दोहद-अभिलाषा के रूप में उनके मन में गंगा-तट-वासी तपोनिष्ठ ऋषियों के पवित्र आश्रमों को देखने और उनमें रात-भर निवास करने की इच्छा जागृत हुई। पति की अनुमति से वह लक्ष्मण के साथ गंगा-तट पर गईं, जहां उन्हें मालूम हुआ कि उनका सदा के लिए परित्याग कर दिया गया है। लक्ष्मण ने उनको निकटवर्ती वाल्मीकि-आश्रम में अपना निर्वासन-काल बिताने का परामर्श दिया। उनके चले जाने पर आश्रम के कुछ मुनि-बालकों ने सीता को रोते देखकर वाल्मीकि को सूचना पहुंचाई। वाल्मीकि सीता को आश्वस्त कर अपने आश्रम में ले गए

५।१५।३८; संस्कारेण यथा हीनां वाचमर्थान्तरं गताम् ।५।१५।३९; प्रतिपत्पाठशीलस्य विद्येव तनुतां गताम् ।५।१५।३९

१. अहमौपयिकी भार्या तस्यैव च धरापतेः। व्रतस्नातस्य विद्येव विप्रस्य विदितात्मनः ।।५।२१।१७

२. भावं न चास्याहमनुप्रदातुमलं द्विजो मन्त्रमिवाद्विजाय ।५।२८।५

और समीप ही तप करनेवाली तापसियों को सौंपकर उन्होंने स्नेहपूर्वक उनकी देखभाल करने का आदेश दिया।

इस प्रकार दो-तीन उथल-पुथल-भरे वर्षों के बाद सीता को चिर-अभिलषित आश्रम-जीवन व्यतीत करने का पुनः अवसर मिला। पर इस बार पति का प्रेम कहां था और उसे पुनः पाने की आशा भी कहां थी! वाल्मीकि-आश्रम में सेवा, सहानुभूति और समादर की उनके लिए कमी नहीं थी। लगभग सोलह वर्षों तक सीता इसी आश्रम में बनी रहीं। इस दीर्घ काल में उनका जीवन किस प्रकार बीता, इस पर रामायण में प्रकाश नहीं डाला गया है। अपने पुत्रों के लालन-पालन, व्रत-उपवासों के अनुष्ठान तथा पूर्व पति-प्रेम एवं संमान की स्मृति में विषाद करते रहने में उनका अधिकांश समय चला जाता होगा। पुत्र-प्रसव के समय आश्रम की वृद्धा स्त्रियों ने राम के वंश का संकीर्तन करके सीता को प्रसन्न करने की चेष्टा की थी।[1] इस घटना के बारह वर्ष बाद जब एक बार शत्रुघ्न वाल्मीकि-आश्रम में आये, तब वह लव-कुश के मुख से रामचरित का शास्त्रीय गायन सुनकर आत्म-विभोर हो गए थे। इस रामचरित में श्री राम के पूर्व-चरित्र काव्यबद्ध किये गए थे। यह बहुत संभव जान पड़ता है कि सीता के दुःखांत जीवन ने ही वाल्मीकि को रामायण की रचना करने की प्रेरणा दी तथा सीता ने उनको राम के व्यक्तिगत जीवन और चरित्र की सभी मार्मिक बातें बताईं। इस प्रकार अपने इस अंतिम दीर्घ आश्रम-प्रवास में सीता एक अत्यंत उदात्त एवं मर्मस्पर्शी महाकाव्य की रचना में वाल्मीकि की सहयोगिनी बनीं और अपने पति की स्मृति को, उनके लोकोत्तर चरित्र को, चिरस्थायी बनाने का हार्दिक संतोष पा सकीं। वाल्मीकि-रामायण के अपूर्व करुण रस का संभवतः यही रहस्य है।

अपने जीवन के इस अंतिम चरण में सीता को आश्रमवासियों के बीच अद्भुत लोकप्रियता प्राप्त हुई। उन्हें ऋषि-मुनियों का कितना समर्थन प्राप्त था, इसका प्रमाण राम के अश्वमेध-समारोह से मिलता है, जहां वाल्मीकि तथा उनके आश्रम के आचार्यों और शिष्यों के साथ सीता भी उपस्थित थीं। जिस परिषद में वह अपनी पवित्रता की शपथ लेने आईं, उसमें प्रख्यात ऋषि-मुनि एवं विद्वान मौजूद

---

१. तथा तां क्रियमाणां च वृद्धाभिर्गोत्रनाम च। संकीर्तनं च रामस्य सीतायाः प्रसवौ शुभौ॥७।६६।११

थे। ब्रह्म का अनुगमन करनेवाली श्रुति की भांति जब सीता वाल्मीकि के पीछे-पीछे सभा-भवन में प्रविष्ट हुईं, तब उन्हें देखकर परिषद ने महान जय-घोष किया। वाल्मीकि ने राम को तथा समस्त परिषद को संबोधित करते हुए बड़े भावोद्रेक के साथ सीता के प्रति किये गए अन्याय को दर्शाया, उन्हें पुनः महिषी-पद पर प्रतिष्ठित करने का प्रस्ताव किया तथा सीता के शपथ ग्रहण करने की विधि पर प्रकाश डाला। समस्त उपस्थित मुनि-समुदाय ने इसका हार्दिक अनुमोदन किया। अपनी इहलीला समाप्त करने से पूर्व सीता ने भली भांति जान लिया कि पति और आश्रमों की दृष्टि में मैं निष्पाप हूं; और इन दो के प्रति अनन्य अनुराग ही तो उनके जीवन का अथ और इति था। सीता ने सफल-काम होकर इस लोक से प्रयाण किया।

उपर्युक्त समस्त विवेचन से रामायणकालीन शिक्षा के लक्ष्य और आदर्श स्पष्ट हो जाते हैं। शारीरिक शक्ति का पर्याप्त अर्जन उस समय की शिक्षा का सर्वप्रथम उद्देश्य था। प्राचीन आर्यों ने सदैव स्वस्थ मन में स्वस्थ तन का आग्रह किया है। हमें अपने शरीर की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि स्वास्थ्य और शक्ति के अभाव में कर्तव्यों का पालन कैसे हो सकेगा?[1] विद्यार्थी को हृष्ट-पुष्ट और बलवान होकर अपनी और अपनी संस्कृति की रक्षा करने में समर्थ बनना चाहिए। राम, अपने बाहुबल और सैनिक प्रशिक्षण के कारण, जहां सीता को रावण के पंजे से छुड़ाकर अपने कुल-गौरव की रक्षा कर सके, वहां आर्य-धर्म और संस्कृति के संरक्षक और उन्नायक बनने में भी समर्थ हुए।

शिक्षा का दूसरा आदर्श यह था कि छात्र को एक ही विषय या शास्त्र में पारंगत बनाने की अपेक्षा उसे नाना-विध शास्त्रों का व्यापक ज्ञान कराया जाय। बहुज्ञता ही शिक्षित व्यक्ति की सच्ची कसौटी है, किसी शास्त्र-विशेष में एकांगी प्रवीणता-मात्र नहीं। जीवन की एकदेशीयता का नहीं, वरन उसकी समग्रता का बोध करानेवाली शिक्षा ही सच्ची शिक्षा है। यह आदर्श राम की सर्वांगपूर्ण शिक्षा में प्रतिबिंबित हुआ है। राक्षसों की शिक्षा-व्यवस्था में भी इस आदर्श को पर्याप्त क्रियान्वित किया गया था। इंद्रजित की प्रशंसा करते हुए रावण ने कहा था

---

१. तुलना कीजिए—सर्वेषां देहहीनानां महद्दुःखं भविष्यति। लुप्यन्ते सर्वकार्याणि हीनदेहस्य वै प्रभो॥ देहस्यान्यस्य सद्भावे प्रसादं कर्तुमर्हसि। ७।५६।८-९

कि तुम अपने वाहु-वीर्य के साथ-साथ अपनी तपस्या (वौद्धिक अनुशासन) द्वारा भी सुरक्षित हो; युद्ध-विद्या या कूटनीति का कोई भी विवेकपूर्ण कार्य या सिद्धांत ऐसा नहीं, जो तुम्हारी पहुंच के वाहर हो।[1] रावण के अन्यान्य पुत्र और वांधव भी, जो लंका-युद्ध में राम से जूझने के लिए एक-साथ गए थे, अस्त्र-विद्या के ज्ञाता, माया-विशारद, युद्ध-निपुण और सर्वोच्च दर्शन-शास्त्र के पंडित थे।[2] रावण अपने पुत्रों में वौद्धिक ज्ञान और सक्रिय वीरत्व के उभय आदर्शों का संयोग देखना चाहता था। उसके अनुसार क्षत्रिय राजाओं का कर्तव्य है कि वे विद्या के विभिन्न अंगों तथा युद्ध की कला दोनों में समान रूप से विशारद हों; विद्वत्ता के साथ-साथ युद्ध में सफलता भी नितांत अपेक्षित है।[3]

शिक्षा का अभिप्राय शास्त्रीय ज्ञान या विद्वत्ता-मात्र नहीं था। यदि विद्यार्थी ग्रंथों के अध्ययन से अपने को 'तत्वज्ञ' न वना सका, अध्ययनजन्य व्युत्पत्ति या प्रतिभा न प्राप्त कर सका तो उसका कोरा पांडित्य व्यर्थ ही है। राम को 'सार-ग्राही' कहा गया है (३।६७।१)। रावण ने अपने गुप्तचर शुक और सारण की असफलता पर उनकी भर्त्सना करते हुए कहा था—

आचार्यो गुरवो वृद्धा वृथा वां पर्युपासिताः।
सारं यद्राजशास्त्राणामनुजीव्यं न गृह्यते॥
गृहीतो वा न विज्ञातो भारोऽज्ञानस्य वाह्यते।
ईदृशैः सचिवैर्युक्तो मूर्खैर्दिष्ट्या धराम्यहम् ॥६।२९।६-१०

'तुम लोगों ने गुरुओं, माता-पिता तथा वृद्धजनों की व्यर्थ ही सेवा की है, तभी तो तुम राज-शास्त्र के सारभूत ज्ञान को ग्रहण करने में सर्वथा असमर्थ रहे हो। यदि उस ज्ञान को तुमने प्राप्त कर लिया हो तो भी उसके सम्यक वोध से तुम वंचित ही

---

१. भुजवीर्याभिगुप्तश्च तपसा चाभिरक्षितः।५।४८।३; न तेऽस्त्यशक्यं समरेषु कर्मणां न तेऽस्त्यकार्यं मतिपूर्वमन्त्रणे ॥५।४८।५

२. सर्वे मायाविशारदाः। सर्वेऽस्त्रविदुषो वीराः सर्वे युद्धविशारदाः। सर्वे प्रवर-विज्ञानाः॥६।६९।११-३

३. इयं च राजधर्माणां क्षत्रस्य च मतिर्मता। नानाशास्त्रेषु संग्रामे वैशारद्यमरिन्दम। अवश्यमेव वोद्धव्यं काम्यश्च विजयो रणे॥५।४८।१३-४

हो या उसे भूल गए हो और अज्ञान का बोझा ढो रहे हो। मेरा यह सौभाग्य है कि तुम-जैसे मूर्ख मंत्रियों के रहते हुए भी मैं अब तक जीवित हूं।' इस प्रकार रावण ने व्यावहारिक योग्यता या पटुता के अभाव में शास्त्रीय ज्ञान को स्पष्टतः अज्ञान के तुल्य माना है।

वाल्मीकि ने कर्मशूरता को ही सफल व्यक्ति की सच्ची पहचान बताया है। इसीलिए उनके चरितनायक कर्मशूर हैं, वाक्शूर नहीं। खर-पुत्र मकराक्ष को राम ने यह कहकर लताड़ा था कि बड़ी-बड़ी बातें बघारने से क्या लाभ, विजय-श्री वाग्बल से नहीं प्राप्त होती, वह तो युद्धोचित शूरता से ही वरण की जा सकती है। लक्ष्मण भी राम के ही समान कर्मशूर थे। रावण-पुत्र अतिकाय और इंद्रजित की गर्वोक्तियों का उन्होंने अपने पौरुष द्वारा ही प्रतिवाद किया।[१]

प्राचीन भारत में शिक्षा का उद्देश्य समाज को साक्षर ही नहीं, सुसंस्कृत भी बनाना था। छात्र को स्वच्छता और शिष्टाचार, विनम्रता और सुशीलता की भावनाओं से प्रेरित कर उसे एक सुयोग्य नागरिक बनाना उसका यथार्थ लक्ष्य था। सच्ची शिक्षा विद्यार्थी को सभ्य, शिष्ट, संवेदनशील, दूसरों के दृष्टिकोण को समझनेवाला, हठधर्मी से दूर और तर्कसंगत बात को तुरंत स्वीकार करनेवाला बनाती है। जब राम चित्रकूट पर भरत से पूछते हैं—**कच्चित्ते सफलं श्रुतम्** (२।१००।७२)—क्या तुम्हारा अध्ययन, शास्त्र-ज्ञान सफल है?—तब उनका अभिप्राय यही है कि तुम विद्या के 'शील' और 'वृत्त' (सुशीलता और विनम्रता) गुणों का अभ्यास करते हो? उनको तुमने आत्मसात कर लिया है?[२]

रामायण में 'विनय' शब्द विद्याजन्य आत्मसंयम के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। दशरथ के मंत्री 'विद्याविनीत' थे (१।७।६)। राम का परिचय देते हुए हनुमान ने सीता से कहा था—**रामो विद्याविनीतश्च विनेता च परान् रणे**, अर्थात राम विद्या के कारण नमे हुए हैं और युद्ध में शत्रुओं को नमानेवाले हैं। सच्ची शिक्षा नूतन दृष्टि प्रदान कर हृदय की उदारता और स्वभाव की नम्रता में जाकर

---

१. ६।७९।१८; ६।७१।५८-९; ६।८८।१३-६

२. तुलना कीजिए—अग्निहोत्रफला वेदा दत्तभुक्तफलं धनम्। रतिपुत्रफला दाराः शीलवृत्तफलं श्रुतम्॥ महाभारत

परिणत होती है; **विद्या ददाति विनयम्**—यह संस्कृत साहित्य की परम प्राचीन उक्ति है।

शिक्षा विचारों के निर्विरोध आदान-प्रदान की पोषक है। सुशिक्षित राष्ट्र में व्यक्तियों का दृष्टिकोण शासक-वर्ग में प्रचलित मतों, रूढ़ मान्यताओं या सिद्धांतों से नियंत्रित नहीं रहता। व्यक्ति-मात्र के लिए समाज में अपने मतों और विचारों को, चाहे वे कितने ही अप्रिय या रूढ़ि-विरोधी क्यों न हों, व्यक्त करने का मुक्त वातावरण प्रस्तुत करना सच्ची शिक्षा का ही काम है। वैदिक धर्म के अनुयायी राम के संमुख ऋषि जावालि ने चार्वाकों के नास्तिकवाद का समर्थन और प्रचार किया तथा राम से उसे अपनाने का आग्रह किया। किंतु राम जावालि से रुष्ट नहीं हुए और न उन्हें एक धर्म-विरोधी मत का प्रतिपादन करने पर दंडित ही किया। उन्होंने ऋषि के तर्कों का तर्क-सम्मत उत्तर द्वारा ही शांतिपूर्वक प्रतिवाद किया—**उवाच परया सूक्त्या बुद्ध्या विप्रतिपन्नया** (२।१०९।१)।

राम के वन-गमन पर वसिष्ठ, सुमंत्र और सिद्धार्थ-जैसे मंत्रियों ने कैकेयी की स्वार्थपरायणता और अर्थलोलुपता की भरपूर निंदा की थी। दशरथ के बाद भरत के राजा बनने की स्पष्ट संभावना होते हुए भी उन्होंने अपने भावों को निर्भय होकर प्रकट किया, यह उनके बौद्धिक साहस का सूचक है। रावण-जैसे हठी और अभिमानी राजा की सभा में भी स्वतंत्र विचार-प्रकाशन पर प्रतिबंध नहीं था। विभीषण और कुंभकर्ण दोनों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से सीता के प्रति रावण के आचरण की खरी आलोचना की थी। रावण के मातामह माल्यवान ने भी लंका की सभा में निष्पक्ष भाषण देकर उसके कर्तव्य-विरोध, विषय-भोगों में लिप्सा तथा पापाचरण की तीव्र भर्त्सना की थी।

भारतीय विचार-धारा के मूल में जो धार्मिक और नैतिक भावनाएं निहित हैं, वे विद्या के क्षेत्र में सर्वाधिक परिलक्षित होती हैं। रामायणकालीन शिक्षा-व्यवस्था में वेद-वेदांग और कर्मकांड के ज्ञान का अनिवार्य स्थान था। विद्यार्थी के नैतिक अनुशासन पर पूरा ध्यान दिया जाता था। संयम और सदाचार, सत्य, दया और धर्मपरायणता की भावना का छात्र के मन में संचार करना शिक्षा का मौलिक लक्ष्य था। इसका उत्तरदायित्व समाज ने उन ऋषि-मुनियों के हाथों सौंप रखा था, जो स्वयं अरण्यों में रहकर त्याग और धार्मिक अनुशासन का जीवन व्यतीत करते थे। इस प्रकार धर्म और सदाचार की शिक्षा केवल उपदेशों द्वारा

नहीं, वरन क्रियात्मक जीवन के उदाहरण के रूप में उपस्थित की जाती थी। यदि शक्ति का धर्म से और बौद्धिक उन्नति का नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धांतों से संबंध-विच्छेद कर दिया जाय तो परिणाम होगा रावण-जैसे तत्वों की सृष्टि। क्या धार्मिक विवादों में, क्या व्यावहारिक क्षेत्र में और क्या शास्त्रों के सार-तत्व को ग्रहण करने में रावण की समता करनेवाला कोई नहीं था—

न धर्मवादे न च लोकवृत्ते
न शास्त्रबुद्धिग्रहणेषु वापि।
विद्येत कश्चित्तव वीर तुल्य-
स्त्वं ह्युत्तमः सर्वसुरासुराणाम् ॥५।५२।१७

किंतु था वह अधर्म का अनुयायी और धर्म का द्वेषी, अतः उसकी विद्वत्ता एवं भौतिक सफलता का कोई कल्याणकारी प्रभाव न पड़ सका।

अतएव यदि शिक्षित होने पर भी हमारा स्वभाव और आचरण सात्विक और निर्मल नहीं बन सका तो हमारा अध्ययन निष्फल ही माना जायगा। हनुमान के वध के लिए उद्यत रावण को उसके मंत्री सुपार्श्व ने कहा—

कथं च धर्मार्थविनीतबुद्धिः
परावरप्रत्ययनिश्चितार्थः।
भवद्विधः कोपवशं हि तिष्ठेत्
कोपं न गच्छन्ति हि सत्त्ववन्तः ॥५।५२।१६

'धर्म और अर्थ द्वारा शिक्षित बुद्धिवाले तथा अच्छे-बुरे का समझ-बूझकर निश्चय करनेवाले आप-जैसे लोग किस प्रकार क्रोध के वशीभूत हो जाते हैं? सात्विक गुणोंवाले व्यक्ति क्रोध नहीं किया करते।'

छात्रों को धार्मिक अनुष्ठान, व्रत, नियम, गुरु-सेवा और स्वाध्याय में संलग्न रखकर प्राचीन शिक्षा-शास्त्रियों ने इस सत्य का आग्रह किया कि ब्रह्मचर्याश्रम मानव-जीवन का अत्यंत पवित्र सोपान है और उसके आदर्शों की सिद्धि वे ही कर सकते हैं, जो कर्तव्यपरायणता के कठोर और संकुचित मार्ग से भ्रष्ट नहीं होते। विद्यार्थी की नैतिक शक्तियों और धार्मिक प्रवृत्तियों को विकसित करके उसके चरित्र को परिपुष्ट किया जाता था, जिसके बल पर वह विषय-वासनाओं, काम-क्रोधादि विकारों और जीवन की उथल-पुथलों के बीच समुद्र और

हिमालय के समान वीर-गंभीर बना रहे—समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव (१।१।१७)।

रामायण के प्रारंभिक श्लोकों में वाल्मीकि नारद से ऐसे चरितनायक का परिचय पाना चाहते हैं, जिसमें शरीर, मन और आत्मा के सभी परिष्कृत गुण नीर-क्षीर के समान घुले-मिले एकत्र वास करते हों। वाल्मीकि के अनुसार आदर्श चरित्र वही है, जो गुणवान, पराक्रमी, धर्मज्ञ, उपकार माननेवाला, सत्यवक्ता, दृढ़-प्रतिज्ञ, सदाचार से युक्त, समस्त प्राणियों का हित-साधक, विद्वान, सामर्थ्यशाली, प्रियदर्शन, मन पर अधिकार रखनेवाला, क्रोध को जीतनेवाला, कांतिमान, किसी की निंदा न करनेवाला तथा संग्राम में अजेय योद्धा है (१।१।२-४)। नारद के अनुसार राम ही ऐसे विशिष्ट चरित्र से संपन्न हैं। वाल्मीकि ने अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण से यह सिद्ध किया है कि व्यक्तित्व की सर्वांगीण उन्नति धार्मिक अनुष्ठानों के संपादन से, दान, कर्तव्य-पालन और स्वाध्याय से तथा वैराग्य और नीतिपूर्ण सदाचरण से ही संभव है।

शिक्षा-समाप्ति के बाद स्नातक को चाहिए कि वह अपने कार्य-कलाप को अपने ही स्वार्थों तक सीमित न रखे, अपितु समाज-कल्याण में भी यथाशक्ति योग दे। राम अपने युग के सर्वोत्तम शिक्षा-प्राप्त राजकुमार थे। किंतु इस कारण उनके और उनके सामान्य अनुयायियों के बीच कोई खाई पैदा नहीं हो गई। उनमें कोई उच्चता का अभिमान या अन्य लोगों को हीन समझने की प्रवृत्ति नहीं थी। उनकी शिक्षा का नैसर्गिक प्रभाव उनके संपर्क में आनेवाले सभी व्यक्तियों पर पड़ता था। विद्याध्ययन और विवाह के पश्चात राम जहां अपने माता-पिता की आज्ञाओं का नियमपूर्वक पालन करते थे, वहां 'पौर-कार्यों' (नगर-व्यवस्था) का भी संचालन करते और प्रजाजनों के सुख-दुःख में हाथ बंटाते थे।[1] पारिवारिक अनुशासन और राजकीय उत्तरदायित्व के इस दोहरे नियंत्रण ने उनके उदीयमान व्यक्तित्व को बहुमुखी विकास का अवसर मिला।

स्नातक से सामाजिक कर्तव्यों का पालन कराने के लिए तत्कालीन शिक्षा-शास्त्रियों ने 'ऋणानि त्रीणि' के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इसके अनुसार संसार में उत्पन्न होनेवाले प्रत्येक व्यक्ति पर देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-

---

१. १।७७।२१-२; २।२।४०-४१

ऋण इन तीन ऋणों का भार आ पड़ता है। यज्ञों के अनुष्ठान, शास्त्रों के स्वाध्याय तथा संतानोत्पादन से मनुष्य इन ऋणों से मुक्त हो सकता है। स्नातक में सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न करने के लिए यह सिद्धांत बड़ा उपादेय था।

यदि इस रामायणकालीन शिक्षा की तुलना पांचवीं शताब्दी ई० पू० के एथेंस (यूनान) में प्रचलित शिक्षा-व्यवस्था से करें तो कुछ समानताओं के अतिरिक्त आदर्शों में कई मौलिक भेद भी दृष्टिगोचर होंगे। यूनानी शिक्षा-प्रणाली में शास्त्रीय या धार्मिक ज्ञान के लिए व्यवस्था नहीं थी। भारतीय शिक्षा में आत्मसंयम द्वारा प्राप्त होनेवाली धीरता एवं गंभीरता को बड़ा महत्व दिया गया और उसके अनुसार मानव-जीवन का लक्ष्य पूर्वार्जित कर्मों का क्षय है। इन सिद्धांतों का प्राचीन यूनानी शिक्षा-व्यवस्था में स्थान नहीं था। रामायण-युग की शिक्षा में एक तारतम्य था—आदर्शों का समान और संतुलित विभाजन था। विद्यार्थी के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना, उसके शारीरिक और मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक, धार्मिक और व्यावहारिक, व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को समुन्नत करना उसका मूलभूत आदर्श था। उस समय के आदर्श राजा, सुसंस्कृत प्रजा, कर्तव्यनिष्ठ अधिकारिगण और संघर्ष-रहित समाज इसी सांस्कृतिक शिक्षा की देन थे।

: ७ :

साहित्य

किसी युग का साहित्य तत्कालीन समाज का दर्पण है। इससे भी कहीं अधिक वह समस्त राष्ट्र की आशाओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति है। प्रत्येक पीढ़ी के अपने विशिष्ट भाव या विचार होते हैं और उसकी अभिव्यक्ति-प्रणाली भी विशिष्ट होती है। ये भाव या विचार परंपरागत होने पर भी नवीनता लिये हो सकते हैं, जिसका कारण या तो यह हो कि पीढ़ी नई है अथवा यह कि कथन-भंगिमा नूतन है। वाल्मीकि-रामायण में वैदिक विचारों का ही 'उपबृंहण' है,[1] उसमें वेदार्थ का ही विस्तार के साथ ज्ञान कराया गया है, पर वह एक नवीन रूप में सजाया गया है और एक अपूर्व शैली में अभिव्यक्त हुआ है। प्राचीन आर्यों के साहसिक एवं गौरवशाली जीवन को एक अनूठी, संगीतमय, छंदोबद्ध एवं संवेदनशील शैली में चित्रित कर वाल्मीकि ने साहित्य को कला का भव्य स्वरूप प्रदान कर दिया। सजीव घटनाओं और भावनाओं के अंकन से तथा कवि के मानवीय दृष्टिकोण एवं विवेचन से यह साहित्य सामान्य जन के लिए भी रस और आनंद का स्रोत बन गया।

रामायण मुख्यतः एक आख्यान है, जो संस्कृत के लोक-साहित्य की श्रेणी में आता है। वाल्मीकि ने उसे विशेष रूप से जनसाधारण के लिए लिखा था, इसके कई संकेत मिलते हैं।[2] श्रोताओं और पाठकों के लिए उसका बड़ा माहात्म्य बताया गया है।[3] उसकी कथा-वस्तु सामान्य-बुद्धि पाठक के लिए भी अत्यंत हृदयग्राही

---

१. वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः।१।४।६, टीका देखिए।

२. ऋषीणां च द्विजातीनां साधूनां च समागमे। यथोपदेशं तत्त्वज्ञौ जगतुः सुसमाहितौ॥१।४।१३; ७।९३।५ भी देखिए।

३. देखिए १।१।९८-१००; ६।१२८।११६-९

है। उसकी शैली सुबोध और प्रासादिक है—वह आलंकारिक या कृत्रिम कम तथा लौकिक और मुहावरेदार अधिक है। इस मूलतः लौकिक दृष्टिकोण से ही वाल्मीकि अपने महाकाव्य में कला और जीवन, नैतिकता और सुंदरता का अनुपम समन्वय स्थापित कर सके।

प्राचीन भारत के साहित्यिक इतिवृत्त में रामायण-काल ही ऐसा समय था, जब वास्तविक अर्थ में साहित्य का सर्जन हुआ और इस साहित्य का चरम निदर्शन वाल्मीकि-रामायण ही है। यदि साहित्य में जीवन की अभिव्यक्ति, जीवन का विश्लेषण, जीवन की महत्ता का प्रतिपादन और जीवन का सजीवीकरण होता है तो रामायण निश्चय ही श्रेष्ठ साहित्य है। जब कोई कलाकार जीवन को एक अभिव्यक्ति, एक समन्वय या एक समझौते के रूप में देखता है, तब वह कवि बन जाता है, और यह कवि तब कलाकार हो जाता है, जब वह अपने इस दर्शन को सहृदयों के समक्ष एक दर्पण की तरह उपस्थित करता है। एक क्रांतदर्शी कवि द्वारा अपने अनुभवों को औरों तक दर्पणवत पहुंचाने का यह प्रयत्न[1] ही रामायण को वास्तविक साहित्य बना देता है। साहित्यिक मानदंडों में इस प्रकार एक नवीन आदर्श की प्रस्थापना करने के कारण वाल्मीकि की कृति संस्कृत साहित्य में एक महत्वपूर्ण मोड़ है। जिसे हम आज साहित्यिक कला कहते हैं, भारत में उसका प्रारंभ रामायण की रचना से ही हुआ। वेदों के पुरातनवाद, ब्राह्मणों के रहस्यवाद, उपनिषदों के अध्यात्मवाद और सूत्रों के संक्षेपवाद के अनंतर लोगों ने रामायण-जैसे साहित्य का सोल्लास स्वागत किया होगा—एक ऐसे साहित्य का, जिसमें सुबोध कथा-प्रवाह, भावों का मार्मिक प्रकाशन तथा संगीत का चारु निदर्शन, तीनों का मनोरम समावेश किया गया था। रहस्यमयी शक्तियों से अपने को अभिभूत माननेवाले जनसामान्य के लिए इससे बढ़कर सुखद और प्रेरणादायक कृति और क्या रही होगी, जिसमें मानव को दुष्ट और पाशविक शक्तियों पर विजेता बनाया गया हो? साहित्य भी इतना स्वस्थ, इतना कमनीय और इतना उत्प्रेरक बन सकता है, यह उस समय के समाज के लिए एक सर्वथा नूतन अनुभव रहा होगा।

रामायणकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण करने से पूर्व संस्कृत भाषा की तत्कालीन स्थिति पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है।

---

१. चिरनिर्वृत्तमप्येतत्प्रत्यक्षमिव दर्शितम्।१।४।१८

रामायण के युग में संस्कृत के बोलचाल की भाषा होने के कई संकेत मिलते हैं। निश्चय ही वाल्मीकि अपना लोकप्रिय काव्य किसी मृत भाषा में न रचकर ऐसी भाषा में लिखने को प्रेरित हुए होंगे, जो लोक में प्रचलित रही हो। जिस प्रकार बुद्ध और अशोक ने अपने समय की लोक-भाषाओं—पाली और प्राकृत—में जनता को संबोधित किया, उसी प्रकार वाल्मीकि ने अपनी रामायण (जो नगरों और जनपदों में सार्वजनिक रूप से गाकर सुनाने के उद्देश्य से रची गई थी) ऐसी भाषा (संस्कृत) में लिखी, जो व्यापक रूप से बोली-समझी जाती थी। वाल्मीकि ने लव-कुश को यह निर्देश दिया था कि तुम दोनों भाई आश्रमों में, ब्राह्मणों के घरों में, राजमार्गों पर, यज्ञ-मंडपों में तथा प्रासादों में जाकर रामचरित का गान करो।[1] इससे स्पष्ट है कि रामायण की संस्कृत इन विभिन्न जन-स्थानों में अच्छी तरह समझी जाती होगी। बालकांड के प्रारंभिक सर्गों से यह विदित होता है कि रामायणी कथा के श्रवण से, उसके चित्ताकर्षक संगीत तथा श्लोकों के माधुर्य से, ऋषि-मुनियों ने विस्मय-विमुग्ध होकर लव-कुश को साधुवाद दिया था। यद्यपि इस काव्य में वर्णित घटना बहुत दिनों पहले हो चुकी थी, तथापि इसे सुनकर उन्हें ऐसा जान पड़ा मानो सब बातें अभी-अभी आंखों के सामने घटित हो रही हैं।[2] इससे संस्कृत भाषा की लोकप्रियता में कोई संदेह नहीं रह जाता।

यह तो हुआ बालकांड और उत्तरकांड का प्रमाण। मूल कांडों में भी संस्कृत के बोलचाल में प्रयुक्त होने के उदाहरण मिलते हैं। इल्वल असुर ब्राह्मण का रूप धारण करके संस्कृत बोलकर ही ब्राह्मणों को श्राद्ध में आमंत्रित करता था,[3] जिससे सिद्ध होता है कि संस्कृत ब्राह्मणों में दैनंदिन व्यवहार की भाषा थी। वास्तव में भाषा के अर्थ में 'संस्कृत' शब्द का पहले-पहल प्रयोग वाल्मीकि-रामायण में हीं हुआ है, जहां उसे 'संस्कृता' या 'संस्कृतम्' कहा गया है। टीकाकारों ने 'संस्कृता' का अर्थ 'व्याकरण-संस्कार-युक्ता' (व्याकरण के नियमों से शुद्ध

---

१. ऋषिवाटेषु पुण्येषु ब्राह्मणावसथेषु च। रथ्यासु राजमार्गेषु पार्थिवानां गृहेषु च ॥७।९३।५

२. देखिए टिप्पणी १, पृष्ठ १६०।

३. धारयन्ब्राह्मणं रूपमिल्वलः संस्कृतं वदन्। आमन्त्रयति विप्रान्स श्राद्धमुद्दिश्य निर्घृणः ॥३।११।५६

वनाई गई) किया है। सुंदरकांड में प्रहस्त के भाषण को 'सुसंस्कृत, तर्क-पुष्ट और सार्थक' (संस्कृतं हेतुसम्पन्नमर्थवच्च) वताया गया है। युद्धकांड में ब्रह्मा ने सुसंस्कृत, मधुर, विनम्र, हितकारी और धर्मानुकूल शब्दों में राम को संवोधित किया था (संस्कृतं मधुरं श्लक्ष्णमर्थवद्धर्मसंहितम्)। किंतु इन दोनों स्थलों से 'संस्कृत' शब्द के शास्त्रीय अर्थ पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। हां, सुंदरकांड में एक स्थान पर 'संस्कार' शब्द का प्रयोग 'संस्कृत' से ही मिलते-जुलते अर्थ में किया गया है, जिससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि इस शब्द को शास्त्रीय अर्थ में कैसे व्यवहृत किया जाने लगा। वह स्थल इस प्रकार है—

> दुःखेन वुवुधे सीतां हनुमाननलंकृताम्।
> संस्कारेण यथा हीनां वाचमर्थान्तरं गताम्॥५।१५।३९

अर्थात जिस प्रकार व्याकरण का शुद्ध प्रयोग न करने पर शब्द का अर्थ वदल जाता है, उसका सुगमता से वोध नहीं होता, उसी प्रकार हनुमान अलंकारों से हीन सीता को कठिनाई से पहचान सके। इस श्लोक पर टीका करते हुए तिलक टीकाकार ने लिखा है—"शरीर का संस्कार (अलंकरण) स्नान, अनुलेपन, आभूषण आदि से होता है तथा भाषा का संस्कार (शुद्धीकरण) व्याकरण-ज्ञान से। 'अर्थान्तरगता' का अर्थ सीता के संवंध में 'परदेश में गई हुई' है और वाणी के संवंध में 'इष्ट अर्थ से भिन्न अर्थ व्यंजित करनेवाली' है। परिश्रमपूर्वक व्याकरण सीखने के वाद ही जैसे भाषा का सही भाव समझा जा सकता है, वैसे ही हनुमान ने यत्नपूर्वक सीता को पहचाना।"[1]

व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध एवं परिष्कृत संस्कृत विशेष रूप से समाज के शिष्ट एवं शिक्षित वर्गों (द्विजों) में प्रचलित थी, जिन्हें वाद में पतंजलि ने 'शिष्टों' की संज्ञा दी। इसी द्विजाति-वर्ग में संस्कृत का विशुद्ध साहित्यिक स्वरूप सुरक्षित रहा। संस्कृत के इस द्विजाति-रूप के अतिरिक्त उसके ऐसे कुछ अन्य रूप भी

---

१. संस्कारेणेति स्नानानुलेपनादिरंगसंस्कारः। वाचो व्याकरणज्ञानादिजः संस्कारः। देव्या अर्थान्तरगतत्वं देशान्तरगतत्वम्। वाचस्तु विवक्षितार्थादन्यार्थवोधकत्वम्। वाचोऽर्थो यथा व्याकरणाद्यभ्यासदुःखेन व्युत्पत्तिं सम्पाद्य वुध्यते, तद्वत्सीतां कष्टेन वुवुधे।५।१५।३९ पर तिलक टीका।

समाज की निम्न श्रेणियों में प्रचलित थे, जिनमें व्याकरण की दृष्टि से कुछ त्रुटियां और स्थानीय विशेषताएं होती थीं। रामायण में संस्कृत के इन शुद्ध और ग्राम्य रूपों की ओर वहुत-से संकेत मिलते हैं। विभीषण ने रावण की सभा में जो भाषण दिया था, वह ग्राम्य दोषों से मुक्त एवं सार्थकता से परिपूर्ण था (वाक्यमग्राम्यपदवत् पुष्कलार्थं विभीषणः, ६।३७।६)। मुनिवर भरद्वाज की वाणी उच्चारण एवं स्वर की दृष्टि से निर्दोष थी—शिक्षास्वरसमायुक्तं सुव्रतश्चाब्रवीन्मुनिः (२।९१।२२)। जब राम को हनुमान ने सुग्रीव का संदेश सुनाया, तब वह उनकी भाषा की शुद्धता से वड़े विस्मित हुए और उन्होंने यह अनुमान लगाया कि अवश्य ही हनुमान ने वेदों का तथा संपूर्ण व्याकरण-शास्त्र का स्वाध्याय किया होगा (४।३।२८-९)। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वेद-पाठी और व्याकरण-ज्ञाता वर्ग अन्य वर्गों की अपेक्षा अधिक शुद्ध एवं सुसंस्कृत भाषा का प्रयोग करता था। पर अल्प-शिक्षित वर्गों की कोई अन्य भाषा रही होगी, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। शुद्धता की न्यूनाधिकता ही निम्न और उच्च वर्गों की भाषाओं का मुख्य अंतर थी। उच्च वर्गों की भाषा 'संस्कृता' कहलाती थी।

लंका में सीता के दर्शन होने पर हनुमान के मन में कई संकल्प-विकल्प उठे कि इनसे किस भाषा में वार्तालाप किया जाय। उन्होंने सोचा—"लघु आकार-वाले मुझ वानर को इनसे मनुष्यों की-सी संस्कृत वाणी ही वोलनी चाहिए। यदि मैं द्विजातियों-जैसी संस्कृत भाषा में इनसे वोलूंगा तो यह मुझे रावण समझकर डर जायंगी। इसलिए मुझे साधारण मनुष्यों की-सी वोली ही वोलनी चाहिए, तभी मैं अनिंदिता सीता को आश्वस्त कर सकूंगा।"[1]

इस स्थल से यह स्पष्ट होता है कि हनुमान ने सीता को द्विजातियों की-सी संस्कृत में इसलिए संवोधित नहीं किया कि वह इसे समझ नहीं पायंगी, वल्कि इसलिए कि ऐसी परिष्कृत भाषा वक्ता के लिए उपयुक्त नहीं समझी जायगी और इसे सुनकर श्रोता आशंकित हो जायगा। इससे भी यह सूचित होता है कि

---

१. अहं ह्यतितनुश्चैव वानरश्च विशेषतः। वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्॥ यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्। रावणं मन्यमानां मां सीता भीता भविष्यति॥ अवश्यमेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवत्। मया सान्त्वयितुं शक्या नान्यथेयमनिन्दिता॥५।३०।१७-९

साहित्यिक संस्कृत उच्चवर्गीय स्त्री-पुरुषों द्वारा यदि बोली न जाती हो तो कम-से-कम समझी अवश्य जाती थी तथा ब्राह्मणों और सुशिक्षितों द्वारा सामान्यतः बोली जाती थी। यहां हनुमान ने संस्कृत की तीन प्रचलित बोलियों की ओर भी स्पष्ट संकेत कर दिया है—'मानुषी संस्कृत' जो जनसाधारण की सामान्य बोल-चाल की भाषा थी, 'द्विजाति-संस्कृत' जो शिष्ट ब्राह्मणों की भाषा थी, तथा 'वानर-संस्कृत' या संस्कृत का अपभ्रंश दक्षिणी रूप। आर्यों के लिए यह वानरी संस्कृत दुर्बोध रही होगी। इसीलिए वानरों द्वारा किये गए मधुवन-भंग का जो वर्णन दधिमुख ने सुग्रीव के समक्ष किया था, उसे लक्ष्मण नहीं समझ सके।[1]

रामायण की भाषा मानुषी अथवा आर्ष संस्कृत है। उसमें पाणिनीय नियमों के विपरीत कई प्रयोग पाये जाते हैं। पाणिनि ने अपने व्याकरण में इन आर्ष प्रयोगों पर ध्यान नहीं दिया है, क्योंकि साहित्यिक संस्कृत ही उनका विवेच्य विषय थी। रामायण तो भ्रमणशील गायकों (कुशीलवों) की जन-भाषा में रची गई है। संभव है, मौर्य-काल तक इस (संस्कृत) जन-भाषा का स्वरूप भ्रष्ट होकर प्राकृतों के इतने निकट आ गया कि रामायण की भाषा, जो किसी समय जनसामान्य के समझने की चीज थी, अशोक के समय में जाकर दुर्बोध बन गई। तब संस्कृत की लोकप्रियता घट गई और पाली-प्राकृत ने जन-वाणी पर अधिकार जमा लिया।

संस्कृत की तरह 'प्राकृत' शब्द का रामायण में कहीं भाषा के अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है, यद्यपि 'प्राकृत नर' का कई जगह उल्लेख पाया जाता है। उपरिलिखित मानुषी बोली को भी प्राकृत भाषा समझना उचित न होगा, क्योंकि उसे स्पष्टतः 'संस्कृता' कहा गया है।

अब हम साहित्य के विभिन्न अंगों पर विचार करेंगे।

रामायण-काल में कविता साहित्यिक कला की अभिव्यक्ति का एक संमत माध्यम बन चुकी थी। इससे पूर्व ब्राह्मणों, आरण्यकों और सूत्रों का युग बीत चुका था, जिनके रचयिताओं के लिए वेदों की सरल और झिलमिल पद्य-शैली का आकर्षण समाप्त हो गया था और इसलिए जिन्होंने सरल और विशुद्ध गद्य तथा

---

१. किमयं वानरो राजन्वनपः प्रत्युपस्थितः । किं चार्थमभिनिर्दिश्य दुःखितो वाक्यमब्रवीत् ॥५।६३।१४

संक्षिप्त सूत्र-शैली को साहित्यिक रचना का साधन बनाया। वाल्मीकि का युग कविता के पुनर्जागरण का युग था। उन्होंने वैदिक छंदों को नवीन, परिष्कृत एवं सुनियोजित रूप में प्रस्तुत कर काव्य-सर्जन को नई दिशा दी। वाल्मीकि संभवतः सर्वप्रथम ऋषि थे, जिन्होंने वैदिक छंदों का लौकिक संस्कृत में काव्य-रचना के लिए उपयोग किया। वैदिक अनुष्टुप में चार पाद होते थे और प्रत्येक पाद में आठ अक्षर, जबकि वाल्मीकि द्वारा प्रचारित लौकिक अनुष्टुप में दो यतियां होती हैं— उसमें पहले और तीसरे पादों में पांचवां अक्षर दीर्घ होता है तथा दूसरे और चौथे पादों में सातवां अक्षर ह्रस्व। इस तरह लौकिक अनुष्टुप में वैदिक छंदों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और नियमित ताल का संचार किया गया। वैदिक अनुष्टुप को इस प्रकार लौकिक संस्कृत के अनुरूप ढालकर वाल्मीकि संस्कृत कविता के जनक के रूप में प्रतिष्ठित हो गए।

साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए काव्य का माध्यम स्वीकृत किये जाने में एक और कारण सहायक हुआ। यह हम देख ही चुके हैं कि उन दिनों लेखन का अधिक प्रचार नहीं हुआ था, इसलिए साहित्य का अधिकतर प्रचलन मौखिक रूप से ही होता था। यह मौखिक अध्ययन-अध्यापन भी गुरु-शिष्य के लिए कम आयास-जनक नहीं रहा होगा। अनुभव ने यह बताया होगा कि कविता अपने निर्धारित आकार-प्रकार, अक्षर तथा यमक-प्रयोग के कारण कंठस्थ करने में, अनियंत्रित गद्य की अपेक्षा, अधिक सुगम होती है। इस वास्तविकता का वाल्मीकि ने साहसपूर्वक सामना किया और, एक कुशल कलाकार की भांति, उसे साकार रूप दिया। अपने रामचरित के लिए उन्होंने पद्यात्मक अथवा छंदोबद्ध शैली अपनाकर साहित्यिक अभिव्यक्ति के क्षेत्र में एक नवीन, क्रांतिकारी तथा साथ-ही-साथ अत्यंत रुचिकर परिवर्तन उपस्थित किया। उनकी कथा-वस्तु यों ही श्रोताओं के लिए अतीव मनोरम एवं हृदयस्पर्शी सिद्ध होती; श्लोकबद्ध आख्यान-शैली में पिरोकर उन्होंने उसकी मर्मग्राहिता और बढ़ा दी। इस प्रकार लौकिक साहित्य में काव्यात्मक माध्यम उनके हाथों स्थिर एवं सर्वमान्य हो गया। रामायण महाकाव्य का तत्कालीन समाज ने हार्दिक स्वागत किया। रामायण-गान उसके लिए एक चमत्कारी और अभूतपूर्व अनुभव सिद्ध हुआ।

वाल्मीकि के समय में रस-सिद्धांत स्वीकृत एवं परिपुष्ट हो चुका था। अलंकार-शास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य आनंदवर्धन के अनुसार साहित्य में रस-सिद्धांत की सर्व-

प्रथम उद्भावना करने का श्रेय वाल्मीकि को ही प्राप्त है। अपने कथन की पुष्टि में आनंदवर्धन ने बालकांड के दूसरे सर्ग में वर्णित क्रौंच-वध की घटना का उल्लेख किया है। एक बार वाल्मीकि तमसा-तटवर्ती वन में शांत चित्त से भ्रमण कर रहे थे। एक पेड़ की शाखा पर उन्हें क्रौंच-पक्षियों का एक जोड़ा क्रीड़ा करते हुए दिखाई पड़ा। इतने में किसी व्याध के बाण ने क्रौंच को घायल कर दिया और उसका मृत कलेवर खून से लथपथ हो पृथ्वी पर गिर पड़ा। इस दृश्य से मुनि की सुप्त करुणा बलात जग पड़ी; क्रौंची के करुण विलाप-स्वर ने ऋषि के कोमल चित्त में नैसर्गिक करुणा का स्रोत प्रवाहित कर दिया। अकस्मात उनके कंठ से यह श्लोकात्मक वाग्वैखरी प्रस्खलित हुई—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥[1] १।२।१५

भारतीय साहित्य के इतिहास में यह क्षण चिरस्मरणीय रहेगा, जब समाक्षर-युक्त, चार पादों से मंडित श्लोक का जन्म हुआ। 'संस्कृत काव्य-कुमार का यही उदय था, महाकाव्य की भाविनी परंपरा का मूल स्रोत।' इस श्लोक को उच्चारित कर महर्षि करुणा के सौख्य से आप्लावित हो गए। बाद में कवि ने इस करुण भाव के उदय से लेकर उसमें पूर्णतया निमज्जित हो जाने की घड़ी तक की अपनी संपूर्ण मनःस्थिति का विश्लेषण किया और वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि मेरे हृदय का शोक ही श्लोक के रूप में छलक पड़ा है—**शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा** (१।२।१८)।[2] कवि के हृदय का करुण रस ही काव्य का रूप धारण कर बैठा। यही रस की प्रथम उद्भूति थी—वह रस, जो काव्य का जीवन है, उसकी आत्मा है। बारंबार प्रीयमाण तथा नितांत विस्मित वाल्मीकि-शिष्यों ने आश्चर्य-भरे शब्दों में इस रहस्यभूत तत्व को पहचाना—

---

१. अर्थात हे निषाद, तुझे शाश्वत काल तक कभी प्रतिष्ठा नहीं मिलेगी, क्योंकि तूने इस क्रौंच-जोड़े में से एक को, जो काम से मोहित हो रहा था, हत्या कर डाली है।

२. तुलना कीजिए—निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः। रघुवंश १४।७०; क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः। ध्वन्यालोक १।५

समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा।
सोऽनुव्याहरणाद्भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः॥१।२।४०

आनंदवर्धन के अनुसार वाल्मीकि को ताल-लय-युक्त पद्योक्ति में प्रेरित करने में कई उत्तरोत्तर विकासशील परिस्थितियों ने योग दिया। सबसे पहले उन्हें क्रौंच-वध का दृश्य प्रत्यक्ष दिखाई पड़ा; यह प्रत्यक्ष अनुभव हृदय-पटल पर अंकित होकर करुणा का जनक बना; यह करुणा हठात काव्य-रूप में प्रस्फुटित हो गई और अंततः चरम संतुष्टि या सौख्य के रूप में परिणत हुई। आनंदवर्धन ने इस अंतिम सौख्य या रस-भाव को सहृदयों के चित्त में उत्पन्न करना ही काव्य का चरम लक्ष्य माना। वाल्मीकि ने अपने अंतर के कारुण्य-रस का इस प्रकार विश्लेपण कर उस काव्य-शास्त्र की नींव डाल दी, जो बाद में विकसित होकर साहित्य-शास्त्र या अलंकार-शास्त्र के नाम से अभिहित हुआ।

क्रौंच-वध से करुणाभिभूत हो वाल्मीकि का पद्य-रचना कर बैठना इस आधुनिक सिद्धांत से भी मेल खाता है कि कविता मूलतः किसी भाव-विशेष की प्रगाढ़ता से ही निःसृत होती है। अंग्रेज आलोचक हैजलिट ने कविता की परिभाषा करते हुए लिखा है कि 'जब कोई मार्मिक वस्तु या घटना मानव-मन पर अपनी नैसर्गिक प्रतिक्रिया छोड़ जाती है, और इस प्रतिक्रिया से कल्पना या भाव-लोक में स्वतः एक सहानुभूतिजन्य हलचल पैदा होने लगती है, और यह हलचल वाणी को संचारित या उसे प्रकट करनेवाली ध्वनियों को उत्पन्न कर देती है, तब उसे काव्य की संज्ञा दी जाती है।"[1] करुणा को 'कविता की जननी'[2] कहकर इसी सिद्धांत की पुष्टि की गई है।

आद्य-कवि की प्रथम काव्योक्ति का देवों और ऋषियों ने सोत्साह स्वागत किया। स्वयं ब्रह्मा स्वर्ग से उतरकर उनका अभिनंदन करने आये और बोले कि

---

१. Poetry is "the natural impression of any object or event, exciting by its vividness an involuntary movement of imagination or passion and producing by sympathy a certain modulation of the voice or sounds expressing it." (चि० वि० वैद्य की 'दि रिडिल आफ दि रामायण' में उद्धृत)

२. Poesy is the child of pity.

तुम्हारे मुख से छंद का आविर्भाव हुआ है, तुम नारद से सुनी राम-कथा को इसी छंद में श्लोकवद्ध करो। वाल्मीकि अपने ही समय में आदि-कवि के पद पर आसीन कर दिये गए और उनका काव्य आदि-काव्य के रूप में समादृत होने लगा।

वाल्मीकि किसी अन्य समकालीन काव्य-रचना की ओर संकेत नहीं करते। उन्होंने अपनी रचना को काव्य और गीत की संज्ञा दी है। उसे उन्होंने अपने शिष्यों, कुश और लव, को वीणा की लय-ताल पर गाना सिखलाया था। इस गेयता के अतिरिक्त रामायण में एक महान वीर की साहसिक कृतियों का धारा-प्रवाह वर्णन भावपूर्ण छंदों में किया गया है। इसी कारण रामायण में वीर-काव्य और गीति-काव्य दोनों का मिला-जुला रूप देखा जा सकता है।

वाल्मीकि की कृति के सूक्ष्म अध्ययन से पता चलता है कि काव्य-कला का उनके समय में, विशेष कर उनके हाथों, परम उत्कर्ष एवं परिपाक हो चुका था। रामायण एक कवि-कलाकार की मनोहर रचना है। काव्य और नैतिकता का ऐसा मनोमोहक समन्वय अन्यत्र दुर्लभ है। विषय की उत्कृष्टता, घटनाओं का वैचित्र्यपूर्ण विन्यास, भाषा का सौष्ठव, छंदों का संगीतमय प्रवाह, सर्गों का सुसंवद्ध संगठन, प्रकृति का अत्यंत सजीव रूप में उपस्थापन, पात्रों का मर्यादित विकास और मानवीय मनोभावों का उदात्तीकरण—जिस दृष्टि से देखिए रामायण एक निपुण कवि की रचना है। इस कवि को छंदों पर पूरा अधिकार था, वर्ण्य-विषय के सभी पहलू उसके लिए हस्तामलक की भांति स्पष्ट थे और मनुष्य के चित्त को मथित कर देनेवाली घटनाओं का उसे पूर्ण ज्ञान था। जहां परवर्ती कवियों की रचनाएं गढ़ी हुई, अलंकारों से वोझिल और रूढ़ि-समर्थक हैं, वहां रामायण सहज स्वाभाविकता, भाव-प्रवणता एवं सौंदर्य-चेतना से ओत-प्रोत है। रस, गुण, अलंकार तथा ध्वनि के सभी भेद-प्रभेदों के उदाहरण रामायण में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो सकते हैं। रस-पेशल वर्णन रामायण का हृदय है। महा-काव्य का सर्वप्रथम निदर्शन वाल्मीकि-रामायण ही है। इसीका विश्लेपण कर आलंकारिकों ने महाकाव्य के लक्षण प्रस्तुत किये हैं। कथानक, चरित्र-चित्रण, भाव और भाषा, महाकाव्य की इन चारों कसौटियों पर वाल्मीकि की कृति खरी उतरती है। उनकी वाणी गंभीर एवं व्यंग्यार्थपूर्ण है। मानव-मनोवृत्तियों का भी व्यापक और विशद विश्लेपण रामायण में हुआ है। वाल्मीकि सकल कवि-समाज के उपजीव्य हैं।

प्रकृति की विविध दशाओं का अंकन करने की कला वाल्मीकि द्वारा ही सर्वप्रथम प्रतिष्ठित हुई। प्रकृति का चित्रण करते समय वाल्मीकि का आग्रह उसके वास्तविक पक्ष पर ही अधिक रहा है; मानव के लिए उसकी उपयोगिता का पक्ष उनके हाथों कम उद्‌घाटित हुआ है। सीता के वियोग में राम लक्ष्मण से कहते हैं—"देखो, एक तो मेरी स्त्री हर ली गई और दूसरे मैं राज्य से भ्रष्ट हूं, इसलिए मैं नदी के भीगे और फटनेवाले कगारे की तरह दुःख पा रहा हूं। जैसे वर्षा आने-जाने के मार्गों को अत्यंत दुर्गम बना देती है, वैसे ही मेरा शोक बढ़ रहा है और मेरा महान शत्रु रावण मुझे अजेय जान पड़ रहा है" (४।२८।५८-९)। काले-काले मेघों में चमकती बिजली उन्हें रावण की गोद में तड़पती वैदेही का स्मरण दिलाती है।[1] वर्षा की नई फुहारों से भीगकर भाप छोड़ती हुई पृथ्वी आंसू बहाती हुई शोक-संतप्त सीता के समान है।[2] इस प्रकार प्रकृति मानवीय परि-स्थितियों की सूचक हो जाती है—यहां वर्षा-विषयक कोई सूक्ष्म, कल्पना-मंडित, कवि-चातुर्य-पूर्ण वर्णन खोजना अनावश्यक है। हां, प्रकृति पर मानवीय उपमाओं या समानताओं का आरोप प्रचुर मात्रा में मिलेगा। राम को मेघाच्छादित पर्वत कृष्ण मृग-चर्म धारण किये हुए वटु, जल की धारा यज्ञोपवीत तथा वर्षा की ध्वनि वेदों का घोष जान पड़ती है (४।२८।१०)। इन मानवीय कल्पनाओं का उपयोग करने के अतिरिक्त वाल्मीकि-कृत प्रकृति-वर्णन रूपयोजनात्मक ही अधिक होते हैं—उनमें पुष्पों, फलों, पशु-पक्षियों, पंकिल मार्गों, आर्द्र समीर आदि की ही यथावत नैसर्गिक सुषमा उद्‌घाटित की गई है। उन पर कल्पना का पुट चढ़ाकर उन्हें रंगीन बनाने की कोई चेष्टा नहीं की गई है। प्रकृति का स्वाभाविक और बिंबग्राही वर्णन करने की यह वाल्मीकीय प्रवृत्ति बाद में भवभूति ने खूब अपनाई।

रामायण-काल में पूर्वयुगीन महान स्त्री-पुरुषों की कथाएं बहुत प्रचलित थीं। वाल्मीकि ने अपने काव्य को 'आख्यान' की संज्ञा दी है। केंद्रीय राम-कथा के

---

१. नीलमेघाश्रिता विद्युत्स्फुरन्ती प्रतिभाति मे। स्फुरन्ती रावणस्यांके वैदेहीव तपस्विनी ॥४।२८।१२

२. एषा घर्मपरिक्लिष्टा नववारिपरिप्लुता। सीतेव शोकसन्तप्ता मही बाष्पं विमुञ्चति ॥४।२८।७

अतिरिक्त उसमें ऐसे भी कई उपाख्यान हैं, जिन्हें ऋषि-मुनि अपने शिष्यों के ज्ञान-वर्धन एवं मनोरंजन के लिए सुनाया करते थे। वालकांड में विश्वामित्र ने राजकुमार राम और लक्ष्मण को उनके पूर्वजों के चरित्र तथा पावन गंगा को भू-लोक पर लानेवाले भगीरथ के पराक्रम की गाथाएं सुनाकर उनका पर्याप्त अनुरंजन तो किया ही, साथ-साथ इन तरुण कुमारों को उनका अनुकरण करने के लिए भी प्रोत्साहित किया। ऐसे उपाख्यानों की सबसे अधिक संख्या उत्तर-कांड में पाई जाती है।

रामायण के मौलिक भागों में आख्यान वहुत कम आये हैं, पर सुप्रसिद्ध आख्यानों की ओर अनेक उपमापूर्ण संकेत अवश्य मिलते हैं। ऐसा तव होता है जब वाल्मीकि अपने पात्रों की तुलना प्राचीन वीरों से करते हैं। कुछ उदाहरण देखिए। राम के वाण से घायल होकर गिर पड़नेवाला वाली स्वर्ग-लोक से च्युत होनेवाले ययाति के समान है।[1] पितृ-शोक में डूबे भरत को अमात्यों ने वैसे ही घेर लिया, जैसे स्वर्ग से पतित होने पर ययाति को ऋषियों ने।[2] समुद्र लांघने के लिए जव हनुमान विशालकाय वन गए, तव वह ऐसे प्रतीत होते थे मानो विष्णु ने, वलि द्वारा दी गई तीन पग भूमि को नापने के लिए, अपना विश्व-रूप धारण कर लिया हो।[3] सीता ने रावण को फटकारते हुए कहा था कि यदि तुम्हें कहीं राम अपने क्रोध से जलते नेत्र से देख लें तो तुम वैसे ही भस्म हो जाओगे जैसे रुद्र के तृतीय नेत्र से मन्मथ भस्म हो गया था।[4] इस प्रकार की पौराणिक उपमाएं आदि-काव्य में सर्वत्र छिटकी पड़ी हैं। इससे अनुमान होता है कि काव्य-रचना करते समय कवि को आख्यानों

---

१. तं तथा पतितं संख्ये गतार्चिषमिवानलम्। ययातिमिव पुण्यान्ते देवलोकादिह च्युतम् ॥४।१७।९

२. अभिपेतुस्ततः सर्वे तस्यामात्याः शुचिव्रतम्। अन्तकाले निपतितं ययातिमषयो यथा ॥२।७७।१०

३. त्रिविक्रमं कृतोत्साहं नारायणमिव प्रजाः। संस्तूयमानो हनुमान् व्यवर्धत महा-वलः ॥४।६७।३-४

४. यदि पश्येत्स रामस्त्वां रोषदीप्तेन चक्षुषा। रक्षस्त्वमद्य निर्दग्धो यथा रुद्रेण मन्मथः ॥३।५६।१०

का कोई ऐसा वृहद संग्रह उपलब्ध था, जिससे वह, अपने पात्रों को अधिक प्रभावोत्पादक बनाने के हेतु, उपमाएं लेता रहता था।

परंपरा से प्राप्त होनेवाली कथाओं का वर्णन और श्रवण उन दिनों मनोरंजन का एक लोकप्रिय प्रकार था।[1] कैकेयी, तारा, राम, सुमंत्र तथा वनवासी ऋषि-मुनि अपने कथनों की पुष्टि में प्रायः प्राचीन वीरों के आख्यान कहते या उनके चरित्र की ओर प्रासंगिक संकेत करते हुए पाये जाते हैं। इन कथाओं का मूल स्रोत 'पुराण' कहलाता था। क्योंकि वर्तमान पुराणों में से किसीका भी कवि ने नामोल्लेख नहीं किया है, इसलिए प्रतीत होता है कि पुराण की संज्ञा उस समस्त परंपरागत, पौराणिक या ऐतिहासिक आख्यान-साहित्य को दी जाती थी, जो वाल्मीकि के समय में रूढ़ हो गया था। पुराण-प्रवीण व्यक्तियों का रामायण में कई बार उल्लेख हुआ है और अनेक स्थलों पर पुराण में से कथाएं भी वर्णित हुई हैं।[2] सुमंत्र को 'पुराणवित्' कहा गया है (२।१५।१८)। किष्किंधाकांड में यह संकेत मिलता है कि पुराण शब्द का अर्थ 'प्राचीन काल में की गई भविष्यवाणी' है।[3] श्री वी० आर० रामचंद्र दीक्षितार[4] ने इससे यह तात्पर्य ग्रहण किया है कि ईसा की निकटवर्ती शताब्दियों में रचे जाने पर भी पुराणों की सामग्री अत्यंत प्राचीन काल की है।

वाल्मीकि ने अपने काव्य को 'पुरातन इतिहास' भी कहा है (६।११७।३२)। राजनीतिक इतिवृत्त की दृष्टि से वह एक अत्यधिक महत्वपूर्ण कृति है। वाल्मीकि का युग आर्य-जाति के प्राचीन इतिहास का एक स्मरणीय अध्याय था। उनका काव्य विंध्य-पर्वतमाला के दक्षिण में आर्यों के प्रसार का प्रथम प्रामाणिक किंतु

---

१. कथाभिरभिरज्यन्ते कथाशीलाः कथाप्रियैः।२।६७।१६

२. जटायु को 'पुराणे सत्यसंश्रवः' कहा गया है (३।५०।३)। अयं व्याघ्रसमीपे तु पुराणो धर्मसंहितः। ऋक्षेण गीतः श्लोकोऽस्ति तन्निबोध प्लवंगम॥ ६।११३।४१

३. पुराणे सुमहत्कार्यं भविष्यति मया श्रुतम्। दृष्टं मे तपसा चैव श्रुत्वा च विदितं मम॥४।६२।३

४. 'पुराणाज, देअर हिस्टारिकल वेल्यू' ('पूना ओरिएंटलिस्ट', जिल्द २, पृष्ठ ७७)।

कवित्वपूर्ण विवेचन है। उसमें दक्षिण भारत में बसी हुई समृद्ध अनार्य-जातियां का ऐतिहासिक वृत्तांत उपलब्ध होता है। उत्तर भारत के राजाओं ने इन जातियों को जीतकर आर्य-सभ्यता में दीक्षित करने के जो प्रयास किये, उनका भी ब्योरा रामायणकार ने प्रस्तुत किया है। तत्कालीन आर्यों की प्रशासनिक संस्थाओं का संयोजन कैसे होता था, राजतंत्र का आदर्श क्या था, शासन-व्यवस्था कैसी थी, उसमें लोकतंत्रीय पुट कितना था, मंत्रिमंडल का गठन तथा केंद्रीय और स्थानीय सरकार का स्वरूप कैसा था, सैन्य-संचालन कैसे होता था इत्यादि प्रश्नों पर रामायण के चौबीस हजार श्लोकों में यत्र-तत्र, सांकेतिक रूप में अथवा विस्तार के साथ, प्रकाश डाला गया है। यह सत्य है कि सभी राष्ट्रों के प्राचीन ग्रंथों की तरह रामायण के ऐतिहासिक वृत्तांत पर भी कहीं पौराणिकता का आवरण पड़ा हुआ है तो कहीं कल्पना का रंगीन पुट। मूलतः एक कवि-कर्म होने के कारण उसमें ऐतिहासिक दृष्टिकोण प्रायः काव्यालंकारों से अभिभूत हो जाता है। तथ्य को कल्पना तथा इतिहास को आख्यान से पृथक करने के लिए हमें आदि-काव्य की अनेकानेक कथाओं-उपकथाओं-गाथाओं का धैर्य के साथ सूक्ष्म विश्लेषण करना होगा।

रामायण में अयोध्या के सूर्यवंशी राजाओं की राम के समय तक दो वंशावलियां दी गई हैं।[1] पुराणों में भी अयोध्या के राजाओं की संपूर्ण वंशावली पाई जाती है। महाभारत में उसका राजा दृढ़ाश्व तक का प्रारंभिक अंश तथा कुछ अन्य अंश दिये गए हैं। 'रघुवंश' में दिलीप द्वितीय से लेकर अग्निवर्ण तक का उत्तर अंश दिया गया है। जहां तक वंशावली के क्रमिक ब्योरे का प्रश्न है, ये सब प्रमाण-स्रोत एकमत हैं, पर रामायण की वंशावली इनसे मेल नहीं खाती। उसकी दोनों वंशावलियां परस्पर प्रायः समान होने पर भी अन्यों से बहुत भिन्न हैं। पुराण-विशेषज्ञ पार्जिटर महोदय[2] इन वंशावलियों का अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि पुराणों की वंशावली सही है और रामायण की वंशावली गलत। रामायण की वंशावली को चाहे समूहशः देखिए चाहे व्यक्तिशः, वह पूर्णतः विश्वसनीय नहीं है। एक तो उसकी राजाओं की नामावली में कई नाम छोड़ दिये गए हैं; उसमें राम के समय तक पैंतीस राजाओं के नाम गिनाये गए हैं, जबकि पुराणों में उसी

---

१. १।७०।२१-४४; २।११०।६-३५

२. देखिए—'एन्श्यंट हिस्टारिकल ट्रेडिशन', पृष्ठ ९०-३।

अवधि में तिरेसठ नाम आये हैं। दूसरे, कई राजाओं के पदों और पारस्परिक संबंधों में अनेक असंगतियां भी दृष्टिगोचर होती हैं। बहुत बाद में रचित 'रघुवंश' में रामायण की वंशावली को स्वीकार न कर पुराणों की वंशावली को ही प्रमाणभूत माना गया है। इससे भी प्राचीन भारतीय राजवंशों के इतिवृत्त-निर्माण में रामायण अप्रामाणिक सिद्ध होती है।

किंतु प्राचीन आर्यों ने इतिहास का आधुनिक अर्थ में कभी अनुशीलन नहीं किया। उनके लिए तो इतिहास उनकी संस्कृति का वाहक था। अपने ग्रंथों की रचना करते समय उनका उद्देश्य पाठकों को अपनी संस्कृति की, अपने सामाजिक और राजनीतिक संगठनों की, उनके आरंभ और विकास की जानकारी देना था, तिथियों की संकुचित सीमा में कतिपय घटनावलियों और राजवंशों का विवरण-मात्र देना नहीं। वाल्मीकि यह बताना चाहते थे कि मानवीय घटनाओं और कृत्यों का मानवीय आचरण पर क्या प्रभाव पड़ता है और उससे भावी पीढ़ियों का किस प्रकार मार्ग-दर्शन किया जा सकता है। उनमें प्रातिभ चक्षु का उन्मेष हो गया था। वह नेत्रों के व्यापार से दूर रहनेवाले अतीत एवं भविष्य के पदार्थों को यथार्थ रूप से देखनेवाले पुण्यात्मा पुरुष थे। वह ऋषि और कवि दोनों थे—वस्तु-तत्व के दर्शन या अनुभव के साथ-साथ उसे शब्दों द्वारा व्यक्त करने की भी उनमें अद्भुत क्षमता थी। इसीलिए वह भारतीय इतिहास के एक समुज्ज्वल युग का अनुपम रस-माधुर्य के साथ वर्णन करने में समर्थ हो सके।

धार्मिक कर्मकांड का प्राचुर्य होने पर भी रामायण में बौद्धिक दार्शनिकता की छटा दिखाई दे जाती है। वाल्मीकि ने 'दर्शन' (२।२१।६४) शब्द का 'जीवन के प्रति दृष्टिकोण' के अर्थ में प्रयोग किया है। 'प्रदर्शन' शब्द ६।५०।४० में प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ तिलक टीकाकार के अनुसार **शब्दानुमानाभ्यां परोक्षार्थनिश्चयः** (शब्द और अनुमान प्रमाणों से अप्रत्यक्ष वस्तु के तत्व का निश्चय) है। दर्शन-शास्त्र के अनेक प्रचलित शब्द[1] रामायण में स्थल-स्थल पर आये हैं, जिनसे दार्शनिक ऊहापोह की व्यापकता सूचित होती है। फिर भी गूढ़ या जटिल दार्शनिक

---

१. यथा, अनुपपन्न (६।६४।११), अनुमान (४।६।९), अव्यक्त (१।७०।१९), आकाश (१।३४।४), इन्द्रिय (५।९।२९), इन्द्रियार्थ (५।९।२९), उपपत्ति (५।९।३९), उपपन्न (२।११८।१५), तत्त्व (२।७७।२४), तमस् (२।१०९।

सिद्धांतों का विवेचन करने का कवि को अवकाश नहीं था। उसकी समस्त कृति एक उदात्त कर्तव्य-भावना तथा सत्य और न्याय में प्रगाढ़ आस्था के भावों से अनुप्राणित है। उसमें धर्मपरायणता और नैतिकता पर आधारित एक व्यावहारिक दर्शन को कमनीय काव्य-कथा के कलेवर में प्रस्तुत किया गया है। केवल सांस्कृतिक उत्कर्ष के लिए कहीं-कहीं ऊंचे दार्शनिक सिद्धांतों का प्रासंगिक संकेत कर दिया गया है। रामायण के दर्शन में एक व्यवहार-वुद्धि मनीषी का कट्टरता से रहित, प्रसन्न दृष्टिकोण व्याप्त है। विभिन्न देवताओं के प्रति भक्ति-भाव का आग्रह करने पर भी उसमें कहीं सांप्रदायिकता का प्रचार दृष्टिगोचर नहीं होता। आध्यात्मिक विषयों में प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाणों की अपेक्षा ऋषि-मुनि-संमत शास्त्रीय प्रमाणों पर ही जन-मन की अधिक श्रद्धा थी। फिर भी लोकायतिकों या भौतिकतावादियों की संख्या नगण्य नहीं थी। अपने निर्मम, सूक्ष्म तर्कों (आन्वीक्षिकी) की लपेट में वे किसी भी श्रद्धाजन्य भावना को लेने से चूकते नहीं थे। उन्हें रामायण में नास्तिक कहा गया है। उनसे सचेत रहने के लिए राम ने भरत को चित्रकूट पर उपदेश दिया था। उनके मुख्य तर्कों का सार राम के प्रति जावालि की वक्तृता में मिल जाता है; यही रामायण में विशुद्ध दार्शनिक विवेचन का एक स्थल है। राम से अयोध्या लौट चलने और परंपरागत राज्य का सुख-वैभव भोगने का आग्रह करते हुए जावालि ने कहा—"संसार में प्राणी अकेला ही उत्पन्न होता और अकेला ही नष्ट होता है। वास्तव में कोई किसीका नहीं

---

१७), तर्क (४।३२।९), त्रिवर्ग (४।३८।२३), निःश्रेयस् (६।६४।८), निसर्ग (४।५८।३०), न्याय (३।५०।२२), पञ्चत्व (४।११।४६), पञ्चवर्ग (२।१०९।२७), पुरुषार्थ (४।६४।१०), ब्रह्मभूत (१।३३।१६), भाव (२।९४।१८), भूत (३।६४।७५), भूतात्मन् (६।९३।२२), मर्यादा (२।३५।११), माया (५।५४।३७), मायायोग (१।२९।९), मोह (२।५४। ३०), सम्मोह (७।८४।९), योग (२।२०।४८), राग (२।२।४४), राजस (५।५५।१६), रूप (६।११६।३०), लक्षण (६।६४।६), वाद (१।१४।१९), विपाक (५।६८।४), व्याविद्ध (३।९।२७), व्याहृत (२।१०६।१८), संग (३।३७।२), सत्त्व (२।३९।३२), समाधि (४।३०।१६), स्वभाव (६।२२।२३), इत्यादि।

है। वह पुरुष उन्मत्त है, जो मानता है कि यह मेरा पिता और यह मेरी माता है। माता-पिता, घर या धन तो यात्रा के बीच पड़नेवाले विश्राम-स्थलों की तरह हैं, उनमें आसक्त होना बुद्धिमानी नहीं है। राजा दशरथ आपके कोई नहीं थे और आप भी उनके लिए कोई नहीं हैं। पिता जीव के जन्म में निमित्त-मात्र होता है। वास्तव में ऋतुमती माता द्वारा गर्भ में धारण किये हुए वीर्य और रज के संयोग से ही पुरुष का जन्म होता है। राजा को जहां जाना था, वहां वह चले गए; यह प्राणियों के लिए स्वाभाविक बात है। आप तो व्यर्थ ही कष्ट उठा रहे हैं। जो लोग शरीर को कष्ट देकर अर्थ और धर्म के उपार्जन में लगे रहते हैं, वे सचमुच शोचनीय हैं। श्राद्ध का दान पितरों को मिलता है, यही सोचकर लोग श्राद्ध में प्रवृत्त होते हैं, किंतु विचार करके देखें तो इसमें अन्न का नाश ही होता है। भला, मरा हुआ मनुष्य क्या खाएगा! यदि दूसरे का खाया हुआ अन्न किसी और के शरीर में चला जाता हो तो परदेश में जानेवालों के लिए भी श्राद्ध ही करना चाहिए; उनको रास्ते के लिए भोजन बांधने की कोई जरूरत नहीं। 'देवताओं की पूजा करो, दान दो, यज्ञ की दीक्षा ग्रहण करो, तपस्या करो और घर छोड़कर संन्यासी बनो', इत्यादि बातें बतलानेवाले ग्रंथ बुद्धिमानों ने लोगों को दान की ओर प्रवृत्त करने के लिए बनाये हैं। इस लोक के सिवा कोई दूसरा लोक नहीं है। जो प्रत्यक्ष है, उसीका आश्रय लीजिए, परोक्ष पर विश्वास न कीजिए और भरत के अनुरोध से अयोध्या का राज्य ग्रहण कीजिए" (२।१०८)।

जाबालि के ये तर्क चार्वाक मुनि के विचारों से बिलकुल मेल खाते हैं, यद्यपि उनका कहीं नामोल्लेख नहीं हुआ है। जैसाकि राम ने भरत से कहा था, ये उन नास्तिक लोकायतिकों के रूढ़ तर्क थे, जो 'बुद्धि को परमार्थ की ओर से विचलित करने में पटु होते हैं तथा वास्तव में अज्ञानी होते हुए भी अपने को बहुत बड़ा पंडित समझते हैं। उनका ज्ञान वेद के विरुद्ध होने के कारण दूषित होता है और वे प्रमाणभूत प्रधान-प्रधान धर्मशास्त्रों के होते हुए भी कोरी तार्किक बुद्धि का आश्रय लेकर व्यर्थ बकवाद किया करते हैं।'[1] राम ने जाबालि से सत्य-पालन तथा धर्म एवं

---

१. कच्चिन्न लोकायतिकान्ब्राह्मणांस्तात सेवसे। अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः॥ धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः। बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते॥२।१००।३८-९

वेद-विहित कर्मों के आचरण का ही आग्रह किया और कहा—"यदि मैं वेदोक्त शुभ कर्मों का अनुष्ठान छोड़ दूं और विधिहीन कर्मों में लग जाऊं तो सारा संसार स्वेच्छाचारी हो जायगा, क्योंकि राजाओं के जैसे आचरण होते हैं, प्रजा भी वैसा ही आचरण करने लगती है। मैं सत्य-प्रतिज्ञ हूं और सत्य की शपथ खाकर पिता का आदेश स्वीकार कर चुका हूं। अब उनकी आज्ञा का उल्लंघन करके मैं भरत की बात कैसे मान लूं? आपकी बुद्धि विषम मार्ग में स्थित है, वेद-विरुद्ध पथ का आश्रय लिये हुए है। जो पुरुष धर्म अथवा वेद की मर्यादा को त्याग बैठता है, उसके आचार-विचार दोनों भ्रष्ट हो जाते हैं" (२।१०९)।

: ८ :

विज्ञान

साहित्य की भांति विज्ञान का भी रामायणकालीन वौद्धिक प्रवृत्तियों में प्रमुख स्थान था। खगोल अथवा नक्षत्र-शास्त्र का पर्याप्त अनुशीलन होता था। वाल्मीकि ने तत्संवंधी प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की है। दिन, रात, मास और वर्प के चक्र की लोगों को वहुत पहले ही वैज्ञानिक जानकारी हो चुकी थी और कवि उनका स्थल-स्थल पर उल्लेख करता है। दिन, तिथि और नक्षत्र, पंचांग के ये तीनों मुख्य लक्षण भली भांति ज्ञात थे। सप्ताह के दिनों में गुरुवार का संकेत हुआ है। राम का यौवराज्याभिपेक इसी दिन प्रस्तावित हुआ था, जव पुष्य-नक्षत्र से युक्त चंद्रमा के अविपति वृहस्पति थे।[1] लंका से अयोध्या लौटते हुए राम ने पंचमी तिथि को महर्पि भरद्वाज के दर्शन किये थे। पौर्णमासी और शारदीय पौर्णमासी का भी उल्लेख हुआ है। सुपार्श्व ने रावण को उपदेश देते समय कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी और अमावस्या के नाम लिये थे।[2] वन में स्वर्ण-मृग को देखकर राम ने उसे तारा-मृग (मृगशिरा नक्षत्र-मंडल) की तरह दिव्य माना था।[3] राम-जन्म के दिन चैत्र-मास के शुक्ल पक्ष की नवमी तिथि और पुनर्वसु नक्षत्र था; उस समय सूर्य, मंगल, शनि, गुरु और शुक्र अपने-अपने उच्च स्थानों में

---

१. अद्य वार्हस्पतः श्रीमान्युक्तः पुष्येण राघव। प्रोच्यते ब्राह्मणैः प्राज्ञैः..॥ २।२६।९

२. अभ्युत्थानं त्वमद्यैव कृष्णपक्षचतुर्दशी। कृत्वा निर्याह्यमावास्यां विजयाय वलैर्वृतः॥६।९२।६२

३. एष चैव मृगः श्रीमान्यश्च दिव्यो नभश्चरः। उभावेतौ मृगौ दिव्यौ तारामृगमहीमृगौ॥३।४३।४७

(क्रमशः मेष, मकर, तुला, कर्कट और मीन राशियों में) विद्यमान थे, चंद्रमा के साथ वृहस्पति विराजमान थे तथा कर्क लग्न का उदय हो रहा था। भरत का जन्म पुष्य नक्षत्र और मीन लग्न में हुआ था। सुमित्रा के दोनों पुत्र आश्लेषा नक्षत्र और कर्क लग्न में उत्पन्न हुए थे; उस समय सूर्य अपने उच्च स्थान में विराजमान थे (१।१८।८-९, १५)।

रामायण में अनेक नक्षत्र-विषयक उपमाएं व्यवहृत हुई हैं। वाली और सुग्रीव का तुमुल युद्ध आकाश में वुध और अंगारक ग्रहों के घोर संघर्ष के समान था—**गगने ग्रहयोर्घोरं वुधांगारकयोरिव** (४।१२।१७)। राम-लक्ष्मण की अनुपस्थिति में दुरात्मा रावण यशस्विनी सीता के पास वैसे ही आया, जैसे दारुण राहु चंद्रहीन रोहिणी को ग्रस लेता है—**रोहिणीं शशिना हीनां ग्रहवद् भृशदारुणः** (३।४६।६)। क्रोध में भरकर रावण सीता को मारने के लिए वैसे ही लपका था जैसे आकाश में कोई क्रुद्ध ग्रह रोहिणी तारे पर झपटता है—**अभ्यधावत संक्रुद्धः खे ग्रहो रोहिणीमिव** (६।९२।४२)। चंद्रमा और रोहिणी के संयोग को वाल्मीकि ने प्रगाढ़ दांपत्य प्रेम का आदर्श माना है। एक नक्षत्र का दूसरे ग्रह से आक्रांत होना, ग्रहों का परस्पर संघर्ष-रत होना, सूर्य और चंद्र पर ग्रहों का आक्रमण करना और परिणामस्वरूप महासागरों का विक्षुब्ध हो जाना—खगोल-जगत की ये घटनाएं सुविदित थीं। काल-पाश में जकड़े हुए लोगों के नक्षत्र ग्रह-पीड़ित होते हैं—**काले कालगृहीतानां नक्षत्रं ग्रहपीडितम्** (६।४।५२)।

सूर्य और चंद्र-ग्रहण के अनेक संकेत आये हैं। हेमंत-ऋतु के वर्णन में लक्ष्मण ने सूर्यनारायण के दक्षिणायन हो जाने की चर्चा की है (३।१६।८)। अनेकानेक नक्षत्रों, ग्रहों और राशियों का उल्लेख हुआ है। विशाखा इक्ष्वाकुओं का वंशगत नक्षत्र था।

नक्षत्र-जगत की निम्नलिखित घटनाएं अशुभ मानी जाती थीं—सूर्य और चंद्र का राहु-ग्रस्त हो जाना; रोहिणी नक्षत्र का वुध, राहु या अंगारक द्वारा अथवा चित्रा का शनि द्वारा आक्रांत होना; तारों का यथावत अभिक्रमण न करना, अथवा ग्रहों का एक-दूसरे के प्रति क्रुद्ध रूप धारण कर निस्तेज हो जाना; धूम्रकेतु का नैर्ऋत नक्षत्र को अभिभूत कर लेना; चंद्रमा का हस्त ग्रह से संयुक्त होना (उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र से हस्त ग्रह का संयोग रावण के लिए मृत्यु-सूचक था); त्रिशंकु, लोहितांग, वृहस्पति, वुध आदि क्रूर ग्रहों का चंद्रमा को घेर लेना;

नक्षत्रों का प्रभाहीन और ग्रहों का तेजहीन होकर विपथ में धूमयुक्त प्रकाश करना; दसों दिशाओं का अंधकार से छा जाना और आकाश में ग्रहों या नक्षत्रों का न दीख पड़ना; दिन रहते भी सूर्य का अंतर्धान हो जाना या पर्व के विना ही राहु-ग्रस्त हो जाना, इत्यादि ।

इसके विपरीत, शुक्र तारे का निर्मल और कांतिमान दिखाई पड़ना; प्रभा-युक्त सप्तर्षियों का उज्ज्वल ध्रुव की प्रदक्षिणा करना; विशाखा नक्षत्र के दोनों तारों का उपद्रव-रहित होकर प्रकाशित होना; चंद्रमा का पुष्य नक्षत्र से संयुक्त होना; उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र का उच्च स्थान में होना (यह सीता का जन्म-नक्षत्र था; रावण के विरुद्ध राम का अभियान इसी नक्षत्र में प्रारंभ होने के कारण सीता के लिए मुक्ति का सूचक था) इत्यादि लक्षण शुभ माने जाते थे।

फल-ज्योतिष और सामुद्रिक-शास्त्र का काफी प्रचार था। इनमें लोगों की बड़ी श्रद्धा थी। ज्योतिषी को 'लाक्षणिक', 'लक्षणी', 'कार्तांतिक', 'गणक' या 'दैवज्ञ' कहते थे। मुहूर्त-ज्योतिष-विद्या ब्राह्मणों की थाती मानी जाती थी। राजदरबारों में उनकी नियुक्ति होती थी। महाराज दशरथ को उनके ज्योतिषियों ने बताया था कि आपके जन्म-नक्षत्र को सूर्य, मंगल और राहु, इन दारुण ग्रहों ने घेर लिया है; ऐसे निमित्तों से राजा बहुधा विपत्ति में पड़कर प्राणों से हाथ धो बैठता है (२।४।१८-२०)। सीता के वनवास की पूर्व-घोषणा ज्योतिषियों ने उनके पितृ-गृह में कर दी थी।[1] राम की तथाकथित मृत्यु पर विलाप करते हुए उन्होंने कहा था कि ज्योतिषियों ने मेरे और आपके बारे में क्रमशः सौभाग्य और दीर्घायु का जो भविष्य-कथन किया था, वह आपकी मृत्यु से असिद्ध हो गया है।[2] राम **राज-लक्षण-संयुक्तः**, सभी राजोचित लक्षणों से युक्त थे। सीता सौभाग्य, मातृत्व तथा राजमहिषी के सुलक्षणों से संपन्न थीं (६।४८।२-१४)।

तत्कालीन चिकित्सा-विज्ञान समुन्नत था। रामायण में आयुर्वेद, आयुर्वेद

---

१. पुरा पितृगृहे सत्यं वस्तव्यं किल मे वने। लक्षणिभ्यो द्विजातिभ्यः श्रुत्वाहं वचनं गृहे॥२।२९।९

२. ऊचुर्लाक्षणिका ये मां पुत्रिण्यविधवेति च । तेऽद्य सर्वे हते रामे ज्ञानिनोऽनृत-वादिनः॥ ६।४८।२; उद्दिष्टं दीर्घमायुस्ते दैवज्ञैरपि राघव । अनृतं वचनं तेषामल्पायुरसि राघव ॥६।३२।१२

के जनक धन्वंतरि तथा त्रिदोष (वात-पित्त-कफ) का उल्लेख हुआ है।[1] अयोध्या-नगरी 'वैद्यजनाकुला', वैद्यों से भरपूर थी (२।१००।४२)। राजा लोग वैद्यों के प्रति संमानपूर्ण व्यवहार करते थे। चित्रकूट पर राम ने भरत से पूछा था कि तुम प्रमुख वैद्यों का दान, आंतरिक अनुराग और मधुर वचनों से स्वागत तो करते हो।[2] राजाओं की सेवा में कुशल वैद्य नियत रहते थे। कोप-भवन में पड़ी हुई कैकेयी की चाटुकारी करते हुए दशरथ ने कहा था—"बोलो, तुम्हें किस व्याधि से पीड़ा हो रही है? मेरे वैद्य रोग-निवारण में कुशल हैं तथा दान-मान की प्राप्ति के कारण मुझसे पूर्णतया संतुष्ट हैं; वे तुम्हें शीघ्र ही स्वस्थ कर देंगे—

सन्ति मे कुशला वैद्यास्त्वभितुष्टाश्च सर्वशः।
सुखितां त्वां करिष्यन्ति व्याधिमाचक्ष्व भामिनि ॥२।१०।३०-१

उस युग में यह मान्यता प्रचलित थी कि मनुष्य को किसी दैवी प्रकोप के कारण ही रोगों का शिकार होना पड़ता है।[3] ननिहाल से लौटने पर जब भरत को पिता की मृत्यु की सूचना मिली, तव उन्होंने कैकेयी से पूछा—"मा, महाराज को ऐसा क्या रोग हो गया था जिससे वह मेरे आने से पहले ही चल बसे?"[4] रोग के लिए रामायण में 'व्याधि' और 'आमय' शब्द भी आये हैं। 'आतुर' का अर्थ रोगी होता था। 'व्याधित' दीर्घकालीन दुष्ट रोगों से पीड़ित व्यक्ति था। जबड़ा टूट जाने को **हनुरभज्यत** कहते थे। चिकित्सा-निदान 'विधान' कहलाता था। रामायण में उल्लिखित कुछ अन्य रोगों के नाम ये हैं—**उन्मादः** (पागलपन), **कुब्जः** (कूबड़वाला व्यक्ति), **गर्भ-परिस्रवः** (गर्भ-पात), **चित्तमोहः** (मन की विक्षिप्त दशा), **नेत्रातुरः** (नेत्र-रोग, जिसमें दीपक की ज्योति नहीं सुहाती), **महोदरः** (जलोदर), **मृगतृष्णिका** (भ्रम-रोग), **व्रण** (फोड़ा), **वात-गतिः** (वात-रोग) तथा **विण्मूत्राशयावरणः** (मल-मूत्र का अवरोध)।

---

१. १।४५।३१-२; ७।५।७

२. कच्चित्...वैद्यान्...चाभिमन्यसे।२।१००।१३; कच्चित्...वैद्यान् मुख्यांश्च राघव। दानेन मनसा वाचा त्रिभिरेतैर्बुभूषसे ॥२।१००।६०

३. 'हुताशनो जलं व्याधिर्दुर्भिक्षो मरकस्तथा।' इत्येतद्दैवम् (दैवमानुषम्, २।१००।६९, पर तिलक की टीका)

४. अम्ब केनात्यगाद्राजा व्याधिना मय्यनागते।२।७२।२९

उत्तरकांड में महोदर रोग के व्यापक दुष्प्रभावों का विस्तृत वर्णन हुआ है। कहा जाता है कि एक बार वायु देवता के प्रकोप से सभी प्राणियों का मल-मूत्र रुक गया, उनके लिए सांस लेना कठिन हो गया, उनके जोड़ टूटने और पेट फूलने लगे तथा वे काठ और दीवार की तरह निश्चेष्ट हो गए। वायु के निरोध से सारी प्रजा को वर्णनातीत कष्ट उठाना पड़ा। इस व्यापक रोग के शमन के लिए राज्य की ओर से क्या राहत दी गई अथवा वैद्यों ने क्या और कैसे चिकित्सा की, इस पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। केवल यह कहा गया है कि वायुदेव की प्रसन्नता के लिए सामूहिक प्रार्थनाएं की गईं, जिससे वह पहले की तरह सब प्राणियों में संचार करने लगे; वायु के अवरोध से मुक्त होकर सारी प्रजा प्रसन्न हो गई (७।३५।५०-६५)। इससे यह सूचित होता है कि प्रार्थना द्वारा रोग-निवारण में लोगों का विश्वास था।

उस समय की चिकित्सा-प्रणाली में मुख्यतः 'ओषधियों' (जड़ी-बूटियों) का प्रयोग होता था। वनों और पर्वतों में इनकी खोज की जाती थी (६।७४। २९-३२)। ये ओषधियां अपनी प्रभा से आसपास के प्रदेश को आलोकित करती रहती थीं।[१] चित्रकूट पर्वत पर ऐसी हजारों ओषधियां उत्पन्न होती थीं, जो रात के समय चमकती रहती थीं; उनका प्रकाश आग की लपटों-जैसा प्रतीत होता था, जिससे वे दूर से ही पहचानी जा सकती थीं।[२] महेंद्र पर्वत पर सर्प-विष-प्रतिरोधक ओषधियां पाई जाती थीं।[३] वानरों-जैसी वनचर जातियों को ओषधियों के प्राप्ति-स्थान का पता रहता था।[४] प्राचीन भारतीयों को वनस्पति-विज्ञान का प्रचुर व्यावहारिक ज्ञान था और उनकी जड़ी-बूटियां नानाविध एवं प्रभावोत्पादक होती थीं।

जड़ी-बूटी का प्रभाव बढ़ाने के लिए जादू-टोने का भी प्रयोग किया जाता था।

---

१. द्रक्षस्योषधयो दीप्ता दीपयन्तीर्दिशो दश।६।७४।३२

२. निशि भान्त्यचलेन्द्रस्य हुताशनशिखा इव। ओषध्यः स्वप्रभालक्ष्म्या भ्राजमानाः सहस्रशः॥२।९४।२१

३. यानि त्वौषधजालानि तस्मिञ्जातानि पर्वते। विषघ्नान्यपि नागानां...॥ ५।१।२१

४. तुलना कीजिए—हरयस्तु विजानन्ति पार्वती ते महौषधी।६।५०।३०

एक बार बृहस्पति ने घायल देवताओं के औषधोपचार में मंत्रों और रहस्यमयी विद्याओं का प्रयोग किया था—**विद्याभिर्मन्त्रयुक्ताभिरोषधीभिश्चिकित्सति** (६।५०।२८)।

कुछ ओषधियां ऐसी प्रतिरोधात्मक (एंटीसेप्टिक) होती थीं कि उनको शरीर पर लगा लेने से घातक शस्त्रास्त्रों के प्रभाव से बचा जा सकता था। त्रिशिरा आदि राक्षस-वीरों ने रण-क्षेत्र में जाने से पूर्व ओषधियों और गंधों का अपने शरीर पर लेप कर लिया था।[1]

बेहोश व्यक्तियों को होश में लाने के लिए सुगंधयुक्त जल का प्रयोग किया जाता था। जब राम (माया-) सीता की हत्या कर दिये जाने का संवाद सुनकर मूर्च्छित हो गए, तब वानर सेनानायक उन पर कमलों और उत्पलों की गंध से सुवासित जल छिड़कने लगे।[2] कामोद्विग्न व्यक्ति को शीतलता प्रदान करने के लिए चंदन का लेप लगाया जाता था।[3] शराब का नशा उतारने के लिए रोगी को काफी मात्रा में पेशाब करवाया जाता था।[4]

निरंतर विलाप और अश्रु-पात करते रहने से नेत्रों की ज्योति चले जाने का भय रहता है। वन में जाने के बाद राम को यह आशंका बनी रहती थी कि कहीं मेरे माता-पिता मेरे वियोग में निरंतर रो-रोकर अंधे न हो जायं—**अपि नान्धौ भवेतां नौ रुदन्तौ तावभीक्ष्णशः** (२।४६।६)।

रामायण-काल में युद्धों का बाहुल्य था। अतः रण-क्षेत्र में घायल हुए सैनिकों की चिकित्सा का विशेष प्रबंध रहता था। सेनाओं के साथ वैद्यगण जाया करते थे। भरत की सेना के साथ वैद्य भी राम को लौटा लाने के लिए चित्रकूट गए थे (२।८३।१४)। सुग्रीव के श्वसुर सुषेण एक निपुण चिकित्सक थे। उनकी समयोचित चिकित्सा से वानर-सेना को लंका-युद्ध में बड़ा सहारा मिला था। जब-जब वानर-सैनिक युद्ध में लगातार संलग्न रहने के कारण बहुत थक जाते या

---

१. **सर्वौषधीभिर्गन्धैश्च समालभ्य महाबलाः। निर्जग्मुः...** ॥६।६९।१८

२. **आसिञ्चन्सलिलैश्चैनं पद्मोत्पलसुगन्धिभिः** ।६।८३।१२

३. तुलना कीजिए—**विभ्रमोत्सिक्तमनसः सांगरागा नरा इव** ।४।१।६०

४. तुलना कीजिए—**स प्रविष्टो मधुवनं ददर्श हरियूथपान्। विमदानुद्धतान् सर्वान्मेहमानान्मधूदकम्** ॥५।६४।४, टीका देखिए।

घायल हो जाते, तब सुषेण उन्हें शक्तिवर्धक जड़ी-बूटियों और रसों का सेवन कराकर उनमें नवीन बल एवं उत्साह का संचार कर देते थे। लंका-युद्ध में ऐसे अनेक अवसर आये, जब राम और लक्ष्मण तथा अन्य वानरों का जीवन ही सुषेण की चिकित्सा पर निर्भर था। उन्हें सभी ओषधियों के गुणावगुण का तो पता था ही, उनका प्राप्ति-स्थान भी वह भली भांति जानते थे। उनकी चिकित्सा-पद्धति की यह विशेषता थी कि वह शल्य-क्रिया से दूर होनेवाले रोगों का भी ओषधि द्वारा सफल उपचार कर देते थे। वह नासिका के मार्ग से शक्तिशाली ओषधियों का प्रभाव सारे शरीर में पहुंचाकर रोगी को तत्काल नीरोग कर देते थे।

जब इंद्रजित ने राम-लक्ष्मण को घायल कर दिया, तब सुषेण ने हनुमान को हिमालय पर्वत से मृतसंजीवनी, विशल्यकरणी, सुवर्णकरणी और संधानी नाम की चार महौषधियां लाने की आज्ञा दी। मृतसंजीवनी मूर्च्छा दूर करके चेतना प्रदान करनेवाली, विशल्यकरणी शरीर में धंसे हुए बाण आदि को निकालकर घाव भरने और पीड़ा दूर करनेवाली, सुवर्णकरणी शरीर में पहले की-सी रंगत लानेवाली तथा संधानी टूटी हुई हड्डियों को जोड़नेवाली ओषधि थी। इन महौषधियों की गंध लेकर दोनों राजकुमार स्वस्थ हो गए, उनके शरीर के घाव भर गए। यही नहीं, जितने भी वानर-वीर मूर्च्छित हुए थे, वे सभी उन ओषधियों की गंध से नीरोग हो गए। ऐसा जान पड़ता था मानो वे रात में आराम से सोकर उठे हों। इसी प्रकार जब रावण की शक्ति लग जाने पर लक्ष्मण मूर्च्छित हो गए तब सुषेण ने उपर्युक्त चारों ओषधियां हनुमान द्वारा महोदय गिरि से मंगाकर उन्हें पीसा और लक्ष्मण की नाक में सुंघाया। उस गंध को सूंघते ही लक्ष्मण की सारी पीड़ा दूर हो गई और वह **विशल्यो विरुजः शीघ्रमुदतिष्ठन्महीतलात्**, नीरोग होकर पृथ्वी से उठ खड़े हुए (६।१०१।४४)।

राम की सेना में घायल सैनिकों की युद्ध-क्षेत्र में तत्काल मरहमपट्टी कर दी जाती थी। जब वानर-सेना इंद्रजित के ब्रह्मास्त्र के प्रभाव से निष्प्राण हो गई, तब हनुमान और विभीषण हाथ में मशाल लिये रण-भूमि में विचरने लगे और घायल सैनिकों को आश्वासन देकर प्राथमिक सहायता पहुंचाने लगे (६।७४।६-७)। सुग्रीव ने सुषेण को आज्ञा दी कि आप घायल राम-लक्ष्मण को उपचार

के लिए किष्किंधा ले जायं।[1] इंद्रजित के वध के पश्चात सुषेण ने राम की आज्ञानुसार लक्ष्मण की नाक में उत्तम ओषधि डाली, जिसकी गंध सूंघते ही लक्ष्मण के शरीर से बाण निकल गए, उनकी पीड़ा और वेदना जाती रही तथा उनके घाव भर गए। तब सुषेण ने विभीषण तथा समस्त वानर-सेनापतियों की भी चिकित्सा की, जिससे ये फिर से युद्ध करने के लिए पूर्ण स्वस्थ और अक्लांत हो गए।

तत्कालीन वैद्य शल्य-चिकित्सा से भी अनभिज्ञ नहीं थे। शल्य-चिकित्सक (सर्जन) 'शल्यकृत्' कहलाते थे। उन्हें गर्भाशय की शल्य-क्रिया (आपरेशन) करने का ज्ञान था। यह अनुमान सीता की एक उक्ति से लगाया जाता है। लंका में उन्होंने अपनी असहाय अवस्था पर विलाप करते हुए कहा था—

तस्मिन्ननागच्छति लोकनाथे
गर्भस्थजन्तोरिह शल्यकृन्तः।
नूनं ममांगान्यचिरादनार्यः
शरैः शितैश्छेत्स्यति राक्षसेन्द्रः॥५।२८।६

अर्थात यदि राम समय पर आकर मेरी रक्षा नहीं करेंगे तो अनार्य रावण मेरे अंगों को शीघ्र पैने बाणों से वैसे ही काट डालेगा, जैसे शल्य-चिकित्सक गर्भ-स्थित बालक को निकालने के लिए गर्भ को तेज औजारों से काट डालते हैं। इससे ध्वनित होता है कि कठिन प्रसव की दशा में शल्य-चिकित्सक गर्भाशय की शल्य-क्रिया किया करते थे।

कैकेयी ने दशरथ से विवाद करते समय राजा अलर्क का दृष्टांत दिया था, जिन्होंने वेदों में पारंगत एक ब्राह्मण की याचना पर प्रसन्न मन से अपनी आंखें निकालकर उसे दे दी थीं (**याचमाने स्वके नेत्रे उद्धृत्याविमना ददौ**, २।१४।५)। इस घटना से कुछ लोग यह संकेत ग्रहण करते हैं कि अंधे व्यक्ति को दूसरे की आंखें लगाकर दृष्टि प्रदान करने की नेत्र-शल्य-चिकित्सा उस समय प्रचलित थी।

अहल्या से व्यभिचार करने पर इंद्र को गौतम ऋषि ने पुरुषत्वहीन हो जाने का शाप दिया था, जिससे इंद्र के अंडकोश कटकर गिर पड़े थे। फलस्वरूप इंद्र प्रजनन-शक्ति से रहित हो गए। इस पर वहां एकत्र हुए पितृदेवों ने एक मेढ़े के

---

१. **सहशूरैर्हरिगणैर्लब्धसंज्ञावरिन्दमौ। गच्छ त्वं भ्रातरौ गृह्य किष्किन्धां रामलक्ष्मणौ॥६।५०।२४**

अंडकोश उखाड़कर इंद्र के लगा दिये,[1] जिससे उनका पुरुषत्व लौट आया। इस घटना से पेचीदी शल्य-क्रिया में चिकित्सकों की प्रवीणता सूचित होती है।

रामायण में रोगी पशुओं और उनके उपचार का उल्लेख हुआ है। अनेक स्थलों पर उपमा के रूप में ज्वर-ग्रस्त हाथियों का वर्णन मिलता है।[2] लंका में होनेवाले अपशकुनों का वर्णन करते हुए विभीषण ने रावण से कहा था कि आपके गधे, खच्चर और ऊंट बीमार पड़ गए हैं तथा चिकित्सा करने पर भी स्वस्थ नहीं होते।[3] इस आधार पर पशु-चिकित्सा और पशु-चिकित्सकों का अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है।

राम-राज्य के वर्णन में वाल्मीकि ने कहा है कि उस समय स्त्रियां बिना किसी खतरे के संतान-प्रसव किया करती थीं—अरोगप्रसवा नार्यः (७।४१।१९)। इससे प्रसव-विज्ञान की प्रगति का आभास होता है। धाय को 'धात्री' कहा जाता था। समय से पूर्व हो जानेवाले बच्चों को धायें घी के घड़ों में रखकर सेती थीं। सगर के राजमहल की धायें कच्चे बच्चों को सेने की कला से परिचित थीं। कहा जाता है कि सगर की छोटी रानी सुमति ने एक मांस-पिंड को प्रसव किया था, जिसमें से अनेक लघुकाय अर्धजीवित जीव निकल पड़े। धायों ने घी से भरे घड़ों में उनका तब तक सावधानी से पोषण एवं संवर्धन किया, जब तक वे परि-पुष्ट न हो गए—घृतपूर्णेषु कुम्भेषु धात्र्यस्तान् समवर्धयन् (१।३८।१८)। घी एक ऐसा पदार्थ है, जिसमें शैत्य अथवा उष्णता का प्रसरण शीघ्रता से नहीं होता। इस कारण समान तापमान पर शिशु को सेने के लिए वह एक उपयुक्त माध्यम था।

प्राचीन मिस्र-निवासियों की भांति रामायणकालीन भारतीय शव-संरक्षण की क्रिया में सिद्धहस्त थे। शव को सड़ने न देने के लिए वे विशेष प्रकार के तेलों और लेपों का प्रयोग करते थे। राजा दशरथ की मृत्यु हो जाने पर पुत्र के बिना उनका दाह-संस्कार करना उचित नहीं समझा गया, अतः उनके मंत्रियों ने राजा के शरीर को तैलपूर्ण कड़ाह में सुलाकर भरत के आने तक सुरक्षित रखा—तैल-

---

१. उत्पाटच मेषवृषणौ सहस्राक्षं न्यवेशयन् ।१।४९।९

२. अस्वस्थमिव कुञ्जरम् ।२।५८।३; ज्वरातुरो नाग इव व्यथातुरः ।२।५१।२७

३. खरोष्ट्राश्वतरा राजन् भिन्नरोमाः स्रवन्ति च। न स्वभावेऽवतिष्ठन्ते विधा-नैरपि चिन्तिता ॥६।१०।१८

द्रोण्यां तदामात्याः संवेश्य जगतीपतिम् (२।६६।१४)। उत्तरकांड में भी शव सुरक्षित रखने की घटनाएं वर्णित हुई हैं। एक वार राम के दरवार में एक ब्राह्मण अपने असमय में मरे हुए वालक को लेकर उपस्थित हुआ और उसे पुनर्जीवित करने का हठ करने लगा। राम ने मृत्यु के कारण की जांच हो जाने तक उसका शव सुरक्षित रखने के लिए लक्ष्मण को आदेश दिया कि इस ब्राह्मण-पुत्र का शरीर तैल-पात्र में डुवोकर रखवा दो, तेज मसालों और सुगंवयुक्त तेलों का प्रयोग करके ऐसी व्यवस्था करो कि इसका शव क्षीण या विकृत न होने पाये, इसके अंगों के जोड़ ढीले न पड़ें और न इसके वाल ही टूटकर गिरने पायें (७।७५। २-४)। इसी प्रकार राजा निमि के शव को ब्राह्मणों ने, उनके यज्ञ की समाप्ति तक, वस्त्रों, मालाओं तथा सुगंधित पदार्थों से सुरक्षित रखा था।[1]

चिकित्सा में पथ्य अर्थात स्वास्थ्यकर संयत भोजन का वड़ा महत्व था। रोग के आक्रमण को रोकने तथा रोग का उपचार करने, दोनों दृष्टियों से रोगी के लिए पथ्य आवश्यक है। अनजाने में भी लिया हुआ कुपथ्य रोग को न्योता देता है।[2] सदा ऐसा ही भोजन करना चाहिए, जिसे खाने से मनुष्य वीमार न पड़े।[3] मरनेवाला व्यक्ति न ओषधि का सेवन करता है और न उसे पथ्य ही रुचिकर लगता है।[4]

शारीर-स्थान (मानव-शरीर-रचना) का चिकित्सकों को सम्यक ज्ञान था। शारीरिक अंगों-उपांगों का वाल्मीकि ने यथातथ्य उल्लेख किया है। रोगी में प्राण अवशेष हैं या नहीं, इसका निदान करने में उसकी आकृति एवं भंगिमा पर ध्यान दिया जाता था। रावण की शक्ति से घायल लक्ष्मण को राम ने मृत समझ लिया था, पर वैद्य सुषेण ने सही निदान करते हुए कहा—"नरश्रेष्ठ, आपके भाई

---

१. तं च देहं नरेन्द्रस्य रक्षन्ति स्म द्विजोत्तमाः। गन्धैर्माल्यैश्च वस्त्रैश्च पौर-भृत्यसमन्विताः॥७।५७।११

२. अपथ्यैः सह संभुक्ते व्याधिरन्नरसे यथा।२।६४।५९; अपथ्यव्यंजनोपेतं भुक्तमन्नमिवातुरम्।२।१२।७१

३. तदन्नमपि भोक्तव्यं जीर्यते यदनामयम्।३।५०।१८

४. न प्रतिजग्राह मर्तुकाम इवौषधम्।३।४०।१; विपरीत इवौषधम्।६।१७।१५; मुमूर्षूणां तु सर्वेषां यत्पथ्यं तन्न रोचते।३।५३।१७

लक्ष्मण मरे नहीं हैं। देखिए, इनके मुख की आकृति अभी विगड़ी नहीं है। चेहरे परं कालापन भी नहीं आया है। इनका मुख प्रसन्न एवं कांतिमान दिखाई दे रहा है। हाथ कमल-जैसे कोमल हैं, आंखें स्वच्छ हैं। मरे हुए प्राणियों का ऐसा रूप नहीं देखा जाता, अतः आप विषाद न करें। इनके शरीर में प्राण हैं, हृदय की गति वंद नहीं हुई है। उसमें वारंवार कंप हो रहा है। ये सब वातें इनके जीवित होने की सूचना दे रही हैं" (६।१०१।२४-८)।

जरा, व्याधि और मृत्यु से मनुष्य की रक्षा करना ही चिकित्सा-शास्त्र का सदा से लक्ष्य रहा है। प्रत्येक युग में चिकित्सकों ने इस दिशा में एक-से-एक वढ़-कर प्रयोग किये हैं, जिनमें उन्हें न्यूनाधिक सफलता मिलती रही है। रामायण में भी अमरत्व की प्राप्ति के इच्छुक मानव के प्रयत्न अंकित हैं। **अजरा विजराश्चैव कथं स्यामो निरामयाः**—जरा-व्याधि से मुक्त होकर हम कैसे अमर वनें, इसी अभिलाषा से प्रेरित होकर देवों और दानवों ने अमृत प्राप्त करने के लिए समुद्र-मंथन किया था (१।४५।१६)। इसी उद्देश्य की सिद्धि के हेतु मृतसंजीवनी और रसायन-जैसी आयुवर्धक ओषधियों का आविष्कार किया गया। साम्राज्यवादी आकांक्षाओं से अभिभूत राक्षसों के लिए मृत्यु के सिवा और कोई भय नहीं था, अतः अमरत्व की प्राप्ति के लिए उन्होंने कठोर तपस्याएं कीं।[1] किंतु सभी प्राणियों की अंतिम गति एक ही है और वह टाले टल नहीं सकती।[2] काल-धर्म का नियम संसारी प्राणियों को देर-सवेर अपनी लपेट में निर्ममता से कस ही लेता है।

विभिन्न पशुओं और उनकी विशेषताओं का भी रामायण में स्थल-स्थल पर उल्लेख हुआ है। पशुओं की दो प्रमुख श्रेणियां थीं—'नगरजम्' (नगरों में पाये जानेवाले) और 'राष्ट्रजम्' (देहातों में पाये जानेवाले)। पशुओं के शरीर या व्यवहार पर परिस्थितियों का असर पड़ता है, यह सुविदित था। संपाति ने अपनी दूर दृष्टि से आश्चर्यचकित हुए वानरों को वताया था कि किस प्रकार विभिन्न प्रकार के पक्षी, अपना-अपना शिकार खोजने के लिए, वैसी ही स्थूल या

---

१. तुलना कीजिए—भगवन्प्राणिनां नित्यं नान्यत्र मरणाद् भयम्। नास्ति मृत्युसमः शत्रुरमरत्वमहं वृणे॥७।१०।१६

२. याः गतिः सर्वभूतानां तां गतिं ते पिता गतः।२।७२।१५

सूक्ष्म दृष्टि पा जाते हैं—"जिस पक्षी को अपना भोजन जितना दूर खोजना पड़ता है, उसकी दृष्टि उतनी ही तीव्र होती है और उसे उतना ही ऊंचा उड़ना पड़ता है। गौरैया, कबूतर आदि अन्न-भक्षी पक्षी अपना भोजन पृथ्वी पर पा लेते हैं, अतः वे आकाश के पहले अर्थात सबसे नीचे के मार्ग से ही उड़ते हैं। उससे ऊपर का दूसरा मार्ग कौओं तथा वृक्षों के फल खाकर रहनेवाले अन्य पक्षियों का है। उससे भी ऊंचा जो आकाश का तीसरा मार्ग है, उससे चील, क्रौंच, कुरर आदि पक्षी जाते हैं। बाज चौथे और गृध्र पांचवें मार्ग से उड़ते हैं। रूप, बल और पराक्रम से संपन्न हंसों का छठा मार्ग है और उससे भी ऊंची उड़ान गरुड़ की है। हम लोगों का जन्म गरुड़ से हुआ है, अतः उसकी भांति हममें भी दूर तक देखने की दिव्य शक्ति है। हम स्वभाव से ही सौ योजन या उससे भी आगे देख सकते हैं" (४।५८।२४-७)।

मानव-प्रवृत्तियों से घनिष्ठ रूप से संबद्ध होने के कारण हाथी और घोड़ों का भी सूक्ष्म अवलोकन करने के प्रमाण मिलते हैं। उनके विषय की अनेक रोचक बातें रामायण में निर्दिष्ट हैं। उन दिनों मुख्यतः सात प्रकार की नस्लों के हाथी काम में लिये जाते थे—(१) भद्र, जिनके अंग-प्रत्यंग संक्षिप्त या लघु हों, (२) मंद्र, जो लंबे-चौड़े, स्थूल और शिथिल हों, (३) मृग, जिनके शरीर विशाल किंतु तनु हों, (४),(५),(६) 'भद्र-मंद्र', 'भद्र-मृग', 'मृग-मंद्र', जो उपर्युक्त तीन नस्लों में से किन्हीं दो के संयोग से उत्पन्न हों, तथा (७) भद्र-मंद्र-मृग, जो प्रथम तीन नस्लों के परस्पर संयोग से उत्पन्न हों। हाथी समाज-प्रिय पशु है, वह सदा अपने मुखिया के अधीन समूहों में विचरण करता है। अपने गिरोह से बिछुड़ी हथिनियों की दुर्दशा की ओर कई संकेत मिलते हैं।[1] असहाय नारियों की उपमा कवि प्रायः समूह से विलग हुई हथिनियों से देता है (५।१९।१८)।

हाथियों को शिक्षित और पालतू बनाने का शास्त्र 'गज-शिक्षा' कहलाता था। रावण के महल के हाथी 'कुलीन, रूप-संपन्न, शत्रु-पक्ष के हाथियों से जूझने-वाले, युद्ध में ऐरावत के समान स्थिर तथा गज-शिक्षा में सुशिक्षित' थे।[2] हाथियों

---

१. वियूथां सिंहसंरुद्धां बद्धां गजवधूमिव ।५।१७।२२; २।६६।२० भी देखिए।

२. कुलीनान्रूपसम्पन्नान्गजान्परगजारुजान्। शिक्षितान् गजशिक्षायामैरावतसमान्युधि ॥५।६।३२

र वंदरों में जन्मजात शत्रुता मानी जाती थी।[1] मंत्र-वल से हाथियों को वशीभूत रने की विद्या प्रचलित थी।

कई प्रकार के घोड़ों और हरिणों का वर्णन आता है। अपने पिता के घोड़ों के प्रति राम का गहरा ममत्व था।[2] इंद्र-सारथी मातलि, इंद्रजित और रावण का सारथी अश्व-संचालन में प्रवीण थे। हरिणों के विविध प्रकारों में ये उल्लेखनीय हैं—(१) सृमर, जिसके घनी, काली, वालोंवाली पूंछ होती है, (२) चमर, जिसके घनी सफेद पूंछ होती है, (३) पृषत, जो धब्बेदार होता है, (४) कदली, जिसके रोएं कोमल, वड़े-वड़े, चिकने और नीलाग्र होते हैं, (५) प्रियकी जिसके रोएं खड़े, चिकने और घने होते हैं तथा (६) गोकर्ण, जिसके गाय-जै वड़े-वड़े कान होते हैं। पंचवटी में राम के आश्रम के आसपास विभिन्न प्रकार मृग देखे गए थे। अश्वतरी (खच्चरी) गधे और घोड़ी के संयोग से उत्पन्न हो वाली एक मिश्र नस्ल थी। यह मान्यता थी कि उसकी गर्भस्थ संतान गर्भ को चीरे विना वाहर नहीं आ सकती, और इस क्रिया में अश्वतरी की ही मृत्यु हो जाती है। इसीलिए यह कहावत चल पड़ी कि अश्वतरी अपने ही गर्भ से मारी जाती है।[3] एक और मान्यता यह थी कि सिंह अपनी पूंछ का किसी और से मरोड़ा जाना सहन नहीं कर सकता,[4] तथा वाघ दूसरे का मारा हुआ शिकार नहीं खाता।[5] गोमायु (गीदड़), शिवा (लोमड़ी), गृध्र, विड़ाल, सरीसृप (पहाड़ी सांप) और कपोत अशुभ पशु-पक्षी माने जाते थे। वाल्मीकि ने समुद्र में से उछलती महाझषों (वड़ी मछलियों), तीन और पांच फनवाले सांपों तथा केंचुली छोड़नेवाली सांपिनों का कई जगह उल्लेख किया है।[6]

---

१. तुलना कीजिए—हस्तिनां वानराणां च पूर्ववैरमनुस्मरन् ।६।२७।२५

२. एते हि दयिता राज्ञः पितुर्दशरथस्य मे। एते सुविहितैरश्वैर्भविष्याम्य-
हमर्चितः ।।२।५०।४७

३. तुलना कीजिए—उदरस्थो द्विजान्हन्ति स्वगर्भोऽश्वतरीमिव ।३।४३।४

४. वलवानिव शार्दूलो वालवेरभिमर्शनम् ।२।६१।१९

५. न परेणाहृतं भक्ष्यं व्याघ्रः खादितुमिच्छति ।२।६१।१६

६. व्यदारयद्वानरसागरौघं महाझषः पूर्णमिवार्णवौघम् ।।६।५९।३५; त्रिशीर्षा-
विव पन्नगौ ।१।२२।७; पंचास्याविव पन्नगौ ।।५।१।५४; मोक्ष्यसे शोकजं
वारि निर्मोकमिव पन्नगी ।६।३३।३२

औषध तथा जादू-टोनों से सांप को वश में कर लेने में लोगों का विश्वास था।[1]

रेखा-गणित (ज्यामिति) के प्रचलन के भी प्रमाण मिलते हैं। वेदांग की एक शाखा 'कल्प' अथवा कर्मकांड है। 'कल्पसूत्र' (१।१४।४०) में कर्मकांड के अतिरिक्त यज्ञ-वेदी के निर्माण के नियम भी पाये जाते हैं। इसी प्रसंग में प्राचीन भारत में ज्यामिति का अनुशीलन प्रारंभ हुआ। सच पूछा जाय तो उस समय रेखा-गणित वेदी-निर्माण का ही शास्त्र था। लोगों के धार्मिक जीवन में यज्ञों का वाहुल्य था और इनके संचालन में रेखा-गणित के ज्ञान की अनिवार्यतः आवश्यकता पड़ती थी। सावधानी से नापी गई यज्ञ-भूमि पर वेदी की प्रतिष्ठा यज्ञ-संमारोह का सवसे महत्वपूर्ण अंग थी; यज्ञ के अधिष्ठाता देवता के अनुकूल उसका सूक्ष्म नियोजन एवं संस्थापन किया जाता था।[2] इसमें निर्माण और आयोजन के विधि-नियमों की जानकारी अपेक्षित थी, जिसके लिए समकोण, वर्ग, वृत्त आदि का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था। नगर-रचना, भवन-निर्माण तथा स्थापत्य-कला की उन्नति भी रेखा-गणित में कलाकारों की दक्षता सूचित करती है। ईंटों (इष्टकाः) का प्रयोग भी रेखा-गणित की प्रगति सूचित करता है,[3] क्योंकि लंवाई, क्षेत्रफल, आयतन आदि के पारस्परिक संवंध, गुणितों में गिनी जानेवाली ईंटों की वनी दीवारों, घनों, वेदियों और शंकुओं (पिरामिडों) से वड़ी सरलता से स्पष्ट हो जाते हैं। अव तो पाश्चात्य विद्वान भी रेखा-गणित के विकास में भारतीयों का योग-दान स्वीकार करने लगे हैं।

---

१. मन्त्रौषधिवलैर्व्यालीव विनिपातिता।३।२९।२८; मण्डले पन्नगो रुद्धो मन्त्रैरिव महाविषः।२।१२।५

२. तुलना कीजिए—वेदिस्थलविधानानि चैत्यान्यायतनानि च। आश्रमस्यानुरूपाणि स्थापयामास राघवः॥२।५६।३३

३. तुलना कीजिए—इष्टकाश्च यथान्यायं कारिताश्च प्रमाणतः। चितोऽग्निर्ब्राह्मणैस्तत्र कुशलैः शिल्पकर्मभिः।१।१४।२८

: ९ :

कला-कौशल

रामायणकालीन आर्य कलात्मक अभिरुचि-संपन्न लोग थे। सभ्यता और संस्कृति के परिचायक कला-कौशलों में वे निपुण थे। उनके दैनिक जीवन की घटनाओं से उनकी कलाप्रियता परिलक्षित होती है। सौंदर्य-चेतना उनके रग-रग में व्याप्त थी। सुंदरता के पारखी तो वे थे ही, स्वयं अपने सौंदर्य की अभिवृद्धि करने में भी वे सचेष्ट रहते थे। बालकांड के छठे सर्ग में वाल्मीकि ने अयोध्या के नागरिकों का जो वर्णन किया है, वह इस बात का सूचक है कि वे कितने सुसंस्कृत, कलाभिज्ञ, सौंदर्य-प्रिय एवं सहृदय नर-नारी थे। तत्कालीन नगर उस युग के कला-केंद्र थे, जहां राजाओं की छत्रछाया में सौंदर्य-अभिव्यंजक कलाएं पुष्पित एवं पल्लवित होती थीं। वनचर वानर और नर-भक्षी राक्षस भी कला और सहृदयता की दृष्टि से पर्याप्त समुन्नत थे। समस्त रामायण का एक कवि-मनीषी के हाथों जिस प्रकार सर्जन एवं प्रकाशन हुआ है, और अंततः जिस प्रकार उसका कथानक शनैः-शनैः रसाभिव्यक्ति की चरम सीमा तक पहुंचा दिया गया है, उसके कारण सारा महाकाव्य एक उत्कृष्ट साहित्यिक चमत्कार एवं सौंदर्य-मूलक चेतना से अनुप्राणित हो उठा है। जिन घटनाओं और चरित्रों की आदि-कवि ने सृष्टि की है, वे उसके अपने कला-वैशिष्ट्य एवं अपनी भाव-प्रवणता से ओत-प्रोत हैं। लव-कुश के मुख से रामायण-गान का श्रवण करनेवाले ऋषि-मुनि शास्त्रीय अर्थ में सहृदय पुरुष थे—उनका मस्तिष्क इतना संवेदनशील एवं सहानुभूतिपरक था, उनकी अभिरुचि इतनी परिमार्जित एवं कलात्मक थी कि वे अपनी श्रवणगोचर अनुभूतियों से एकाकार हो जाते थे।

सौंदर्य-प्रसाधनों के रूप में पुष्पों का प्रचुर प्रयोग, केशों का आकर्षक शृंगार; अंगराग, प्रलेपन तथा चित्र-विचित्र वस्त्रों का व्यवहार, पैरों में अलक्तक-रस

तथा मस्तक पर तिलक का प्रयोग, स्त्रियों के कपोलों पर पत्रावली का अंकन; राजप्रासादों, गृहों, रथों और पशुओं का अलंकरण, नगरों और उद्यानों की कलापूर्ण रचना, तथा संगीत, नृत्य, स्थापत्य आदि ललित कलाओं का परिशीलन—ये सब परिष्कृत जन-रुचि एवं कला-भावना के व्यापक प्रसार की ओर इंगित करते हैं।

वैदिक युग की सरल एवं प्रारंभिक कलात्मक प्रवृत्तियां रामायण-काल में आकर असंदिग्ध रूप से एक उच्चतर स्तर तक पहुंच गईं। खगोल-विज्ञान और रेखा-गणित-जैसे शुष्क शास्त्रों को प्रोत्साहित करनेवाला वैदिक धर्म कला की उन्नति में सहायक नहीं था। निस्संदेह वह भी देव-पूजा का प्रतिपादक था, पर यह पूजा मंदिरों में प्रतिष्ठित मूर्तियों की न होकर सीधे-सादे मंडपों में स्थापित यज्ञाग्नि की होती थी। उपनिषदों का अध्यात्मवाद एवं रहस्यवाद तो कला की प्रगति में बाधक ही सिद्ध हुआ; उन्होंने कला को भौतिक और वैषयिक मानकर उसे मानव-जीवन की आध्यात्मिक लक्ष्य-सिद्धि में एक महान विघ्न समझा। किंतु रामायण-महाभारत-काल में उपनिषदों का कठोर बुद्धिवाद भक्ति की भाव-प्रवण धारा से परिप्लावित हो गया और इस प्रकार मानव की अंतरात्मा से प्रवाहित होनेवाली रसानुभूतियों ने कला की अभिव्यक्ति, कला के सर्जन को प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया।

कला कोई सस्ता विनोद या मनोरंजन का साधन न मानी जाकर एक सात्विक अनुष्ठान समझी जाती थी; उसके सेवन के लिए पर्याप्त साधना एवं एकाग्रता अपेक्षित थी। कलाकारों द्वारा अपनी इष्ट-प्राप्ति के लिए भक्ति और योग के साधन-द्वय का आश्रय लिया जाता था। इनका प्रयोग वे साधारण भक्तों की ही भांति करते थे। भक्ति के द्वारा कलाकार अपने आदर्श के प्रति सर्वतोभावेन आत्म-निवेदन करता तथा योग द्वारा उससे तादात्म्य स्थापित करता, उसके दुरूह पटलों को हृदयंगम करता और उन्हें मूर्त रूप देने की पृष्ठ-भूमि का निर्माण करता। तूलिका या लेखनी उठाने से पूर्व कलाकार या कवि, इसी भक्ति-योग का संबल लेकर, प्रतिपाद्य विषय से तदाकार होता और अंतश्चक्षुओं के समक्ष उसका एक भव्य रूप अंकित कर लेता था।

साहित्य-साधना में योग का अवलंबन किस प्रकार लिया जाता था, इसका उदाहरण रामायण-रचना के प्रसंग में मिलता है। जब वाल्मीकि रामचरित का

संक्षिप्त रूप में नारद से श्रवण कर चुके, तब वह उसे विस्तार से जानने का उद्योग करने लगे। एतदर्थ वह 'पूर्वाभिमुख कुशों पर बैठ गए और विधिवत आचमन करके योग (समाधि) द्वारा राम आदि के चरित्रों का ध्यान करने लगे। राम, लक्ष्मण, सीता, राज्य-सहित राजा दशरथ तथा उनकी कौसल्या आदि रानियों से संबंध रखनेवाली जितनी बातें थीं—हँसना, बोलना और चलना आदि जितनी चेष्टाएं हुईं—उन सबका उन्होंने अपने योग के प्रभाव से भली भांति साक्षात्कार किया। सत्य-प्रतिज्ञ राम ने सीता और लक्ष्मण के साथ वन में विचरते समय जो-जो लीलाएं कीं, वे सब उनकी दृष्टि में आ गईं। योग का आश्रय लेनेवाले उन धर्मात्मा महर्षि ने पूर्व-काल की सभी घटनाओं को हाथ पर रखे हुए आंवले की तरह प्रत्यक्ष देखा। मनोहर रामचरित का इस प्रकार यथार्थ रूप से निरीक्षण करके महर्षि वाल्मीकि उसे महाकाव्य का रूप देने को उद्यत हुए' (१।३।२-७)।

यहां पर यह दर्शनीय है कि कला का अंकन आरंभ करने से पूर्व कला-कृति का निर्माण संपूर्ण हो जाता है। वाल्मीकि का स्थान उन कलाकारों में शीर्ष-स्थानीय है, जो चित्रित की जानेवाली वस्तु की एक भी रेखा अपनी तूलिका से तब तक नहीं खींचते जब तक उन्होंने उसे अपने कल्पना-चक्षुओं से न देख लिया हो। किसी कला-कृति को साकार रूप प्रदान करने के पीछे एक परम जागरूक इच्छा-शक्ति का प्रभाव होता है, जो तत्संबंधी प्रत्येक प्रकार की विशिष्ट प्रेरणा, सहज बोध अथवा आभास को नष्ट नहीं होने देता।

कला की साधना में प्रयुक्त यह यौगिक प्रक्रिया एक मानसिक व्यायाम या धार्मिक अनुशासन-मात्र नहीं थी; यह तो किसी भी कार्य को प्रारंभ करने से पूर्व की जानेवाली व्यावहारिक तैयारी थी। उदाहरणार्थ, लंका में सीता की खोज करते समय हनुमान ने पहले देवताओं की स्तुति की, एक मुहूर्त-भर ध्यान किया, मन से संपूर्ण अशोकवाटिका में भ्रमण किया और सीता को पा लिया; इसके बाद ही वह सशरीर परकोटे को लांघकर, धनुष से छूटे हुए बाण के समान, वाटिका में प्रविष्ट हुए।[1] भारत में सदा से यह मान्यता प्रचलित रही है कि एकाग्र और

---

१. स मुहूर्तमिव ध्यात्वा...स गत्वा मनसा पूर्वमशोकवनिकां शुभाम्। उत्तरं चिन्तयामास वानरो मारुतात्मजः॥५।१३।५६, ५९; स मुहूर्तमिव ध्यात्वा मनसा चाधिगम्यताम्। अवप्लुतो महातेजाः प्राकारं तस्य वेश्मनः॥५।१४।१

ध्यानस्थ चित्त के लिए, कर्मेंद्रियों के प्रयोग बिना ही, समस्त ज्ञान प्रत्यक्ष हो जाता है। सभी आविष्कारकों, कलाकारों और गणितज्ञों के लिए यह एक व्यक्तिगत अनुभव की चीज है।

रामायण में कला के अर्थ में 'शिल्प' शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है। उसके अंतर्गत गीत, नृत्य, वाद्य, चित्र-कर्म आदि ललित कलाएं समाहित थीं। कला का अनुशीलन मनोरंजन तथा व्यवसाय दोनों दृष्टियों से किया जाता था। व्यावसायिक कलाकार को 'शिल्पकार' कहते थे। राम **वैहारिकाणां शिल्पानां ज्ञाता** थे, अर्थात मनोरंजन के उपयोग में आनेवाले संगीत, वाद्य, चित्रकारी आदि शिल्पों के जानकार थे।

वाल्मीकि ने चित्र-कला, वास्तु-कला, संगीत, रंगमंच, नृत्य और स्थापत्य-कला के विषय की पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की है। वास्तव में रामायण का प्रत्येक कांड भारतीय कला के इतिहास के अध्येता के लिए बहुमूल्य है।[1]

परंपरानुसार चित्र-कला प्राचीन भारत में अनुशीलन की जानेवाली चौंसठ कलाओं के अंतर्गत थी और रामायण में उसका स्थल-स्थल पर उल्लेख हुआ है। जिन चित्रों का वाल्मीकि ने वर्णन किया है, वे अपने-आपमें कोई स्वतंत्र कलाकृतियां नहीं थे; उनका उपयोग प्रायः दीवारों, कक्षों, रथों और भवनों के अलंकरण के रूप में ही अधिक हुआ है। रावण के पुष्पक-विमान में स्वर्ण-खचित चित्रकारी की गई थी (**काञ्चनचित्रांगम्**, ६।१२१।२४)। उसकी भूमि पर पर्वत-माला चित्रित की गई थी, पर्वतों पर वृक्षावली सुशोभित थी, वृक्ष पुष्पोंवाले बनाये गए थे तथा पुष्पों को केसर और पंखुड़ियों से युक्त बनाया गया था।[2] उत्तरकांड में बताया गया है कि उसमें दृष्टि और मन को सुख प्रदान करनेवाले

इसी प्रकार जब दशरथ ने ऋष्यश्रृंग से प्रार्थना की कि आप मेरे कुल को बढ़ानेवाले कर्म का अनुष्ठान करें, तब ऋष्यश्रृंग ने थोड़ी देर तक ध्यान लगाकर अपने कर्तव्य का निश्चय किया था—'मेधावी तु ततो ध्यात्वा...' (१।१५।१)।

१. जार्ज सी० एम० बर्डवुड—'दि इंडस्ट्रियल आर्ट्स आफ इंडिया', भाग १, पृष्ठ २५।

२. मही कृता पर्वतराजिपूर्णा शैलाः कृता वृक्षवितानपूर्णाः। वृक्षाः कृताः पुष्पवितानपूर्णाः पुष्पं कृतं केसरपत्रपूर्णम्॥५।७।९

अनेक प्रकार के आश्चर्यजनक दृश्य थे, उसकी दीवारों पर वेल-बूटे (भक्ति-चित्र) वने हुए थे, जिनसे उसकी विचित्र शोभा हो रही थी।[1] रावण के राजमहल के वर्णन में चित्रशाला का भी उल्लेख हुआ है। वस्तुतः साहित्य में चित्रशाला का प्रथम उल्लेख वाल्मीकि-रामायण में ही हुआ है। वाल्मीकि ने चित्रशालाओं का जो वहुवचन में प्रयोग किया है (**चित्रशालागृहाणि**, ५। ६। ३६), उससे अनेक प्रकार की चित्रशालाओं का संकेत मिलता है, यथा, राजमहलों में स्थित चित्रशाला, निजी चित्रशाला तथा नगर के मध्य स्थित सार्वजनिक चित्रशाला। कैकेयी का राजप्रासाद चित्र-गृहों से सुशोभित था (२। १०। १३)। जिस शिविका या पालकी में वाली का शव श्मशान-भूमि में ले जाया गया था, वह पक्षियों, वृक्षों तथा अद्भुत पदातियों के चित्रों से चित्रित थी। चतुर शिल्पियों ने उस पालकी को वहुत सुंदर वनाने का प्रयत्न किया था—उसमें सिद्धों के विमान-जैसी जालियां और झरोखे वने थे; उसका प्रत्येक भाग वड़ा सुघड़ वनाया गया था; काष्ठ के क्रीड़ा-पर्वत की भांति वह विशाल और रमणीय थी (४। २५। २२-४)। रावण का शव भी एक ऐसी पालकी में ले जाया गया था, जिसमें सुंदर पुष्प चित्रित थे।[2] हाथियों के मस्तक[3] तथा रमणियों के कपोलों[4] पर सुंदर चित्रकारी की जाती थी। योद्धाओं की पताकाओं पर तरह-तरह की आकृतियां अंकित रहती थीं। धूम्राक्ष के रथ में मृगों और सिंहों के मुख वने हुए थे (**मृगसिंहमुखैर्युक्तम्**, ६। ५१। २८)। इंद्रजित का रथ स्वर्ण-विभूषित एवं अर्धचंद्रों और मृगों से समलंकृत था। रावण के रथ में पिशाच-वदन चित्रित थे। राम के प्रासाद में भित्ति-चित्र उत्कीर्ण थे (**सूत्कीर्णं भक्तिभिः**, २। १५। ३५)। लंका नगरी के तोरण वेल-बूटों से सुशोभित थे (**लतापंक्तिविराजितैः**, ५। २। १८)।

अशोक के भव्य पाषाण-स्तंभों और उनके अलंकरणों से यह निश्चित जान पड़ता है कि उनके पहले शताब्दियों तक पाषाण-शिल्प एवं तक्षण-कला का व्यापक अभ्यास किया जाता होगा। इसका समर्थन रामायण से होता है, जिसमें पाषाण

---

१. सदा दृष्टिमनःसुखम्। वह्वाश्चर्यं भक्तिचित्रं ब्रह्मणा परिनिर्मितम् ॥७।१५।३८

२. पताकाभिश्च चित्राभिः सुमनोभिश्च चित्रिताम् ।६।१११।१०९

३. गवाक्षिता इवाभान्ति गजाः परमभक्तिभिः ।३।१५।१५

४. सपत्ररेखाणि सरोचनानि वधूमुखानीव नदीमुखानि ।४।३०।५५

एवं धातु-निर्मित कला-कृतियों के कई उल्लेख मिलते हैं। तक्षण-कला और स्थापत्य-कला का अन्योन्याश्रित संबंध था। वाल्मीकि के समय तक मूर्तियों का निर्माण होने लगा था। तन्वंगी, पृथुश्रोणी तथा चंद्रमुखी सीता की तुलना कवि ने मय-निर्मित किसी अद्भुत सुवर्ण-मूर्ति से की है।[1] यह तो सुविदित ही है कि राम ने यज्ञ-दीक्षा के निमित्त सीता की एक सोने की प्रतिमा निर्मित करवाई थी (**यज्ञे यज्ञे च पत्न्यर्थं जानकी काञ्चनी भवत्**, ७।९९।७)। यह प्रतिमा अवश्य ही वास्तविक एवं सजीव रही होगी, क्योंकि इसका मूर्तिकार सीता का समकालीन था। चित्रकूट के मार्ग में भरत की सेना के लिए जो विश्राम-स्थल बने थे, वे इंद्रनील मणि की प्रतिमाओं से खचित थे (२।८०।१८)। रावण का शयनागार हाथीदांत, सोने, चांदी, मणि, मुक्ता और प्रवाल की मूर्तियों से सुसज्जित था।[2] राम के प्रासाद के शिखर पर मोती-मूंगे के तोरण तथा सुवर्ण-प्रतिमाएं बनी थीं (**कांचनप्रतिमैकाग्रं मणिविद्रुमतोरणम्**, २।१५।३२)। सोने की कारीगरी में शिल्पियों को बड़ी दक्षता प्राप्त थी। हेम-विभूषित रथों के अनेक उल्लेख मिलते हैं।

रावण के सुविख्यात पुष्पक-विमान को तत्कालीन कला-कौशल का सर्वोत्कृष्ट नमूना माना जा सकता है। वास्तु-सौंदर्य की दृष्टि से वह बेजोड़ था। रत्नों की प्रभा से देदीप्यमान एवं हेम-पद्मों से विभूषित उस विमान-श्रेष्ठ में वैदूर्य-मणि, चांदी और मूंगे के पक्षी बनाये गए थे, तरह-तरह के रत्नों से सर्पों की रचना की गई थी और सुंदर घोड़े निर्मित थे।[3] उसके खंभे मणिमय, सीधे, चिकने और ऊंचे थे, उनमें मोती, हीरे, मूंगे, चांदी और सोने का काम किया हुआ था, तथा उन्हें 'ईहामृग' (विचित्र जंतु अथवा शिल्पकार की स्वेच्छानुसार चित्रित प्राणी)

---

१. **तनुमध्या पृथुश्रोणी शरदिन्दुशुभानना। हेमबिम्बनिभा सौम्या मायेव मय-निर्मिता।।६।१२।१४**

२. **स्फाटिकैरावृततलां दन्तान्तरितरूपिकाम्। मुक्तावज्रप्रवालैश्च रूप्यचामीकरैरपि।।५।९।२३**

३. **रत्नप्रभाभिश्च विघूर्णमानम् ।५।७।११, हेमपद्मविभूषितम् ।६।१२१।२५; कृताश्च वैदूर्यमया विहंगा रूप्यप्रवालैश्च तथा विहंगाः। चित्राश्च नाना-वसुभिर्भुजंगा जात्यानुरूपास्तुरगाः शुभांगाः।।५।७।१२**

अलंकृत कर रहे थे (चित्र २७)।[1] विश्वकर्मा ने उसमें सोने की सीढ़ियां बनाई थीं, सोने और स्फटिक की जालियां और खिड़कियां लगाई थीं तथा इंद्रनील और
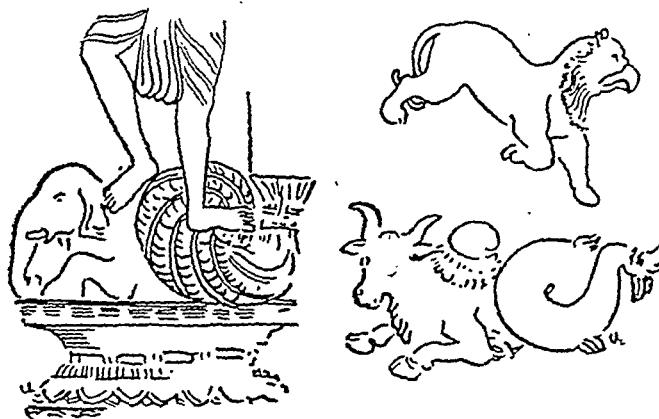
चित्र २७—ईहामृग (भरहुत, अमरावती तथा जगय्यपेट्ट)

महानील मणियों की वेदियां रची थीं।[2] उसका फर्श मूंगों, महामूल्य मणियों और अनुपम मोतियों से जड़ा था।[3] विमान में सुंदर मुखवाले अद्भुत पक्षी बनाये गए थे; मूंगों और सुवर्ण-पुष्पों से जड़े उनके पंख जब लीलापूर्वक सिकोड़े और मोड़े जाते, तब जान पड़ता मानो वे साक्षात कामदेव के ही पक्ष हों।[4] कमल-

---

१. ईहामृगसमायुक्तैः कार्तस्वरहिरण्मयैः। सुकृतैराचितं स्तम्भैः प्रदीप्तमिव च श्रिया ॥५।९।१३

२. हेमसोपानयुक्तं च चारुप्रवरवेदिकम्। जालवातायनैर्युक्तं काञ्चनैः स्फाटिकैरपि। इन्द्रनीलमहानीलमणिप्रवरवेदिकम् ॥५।९।१५-६

३. विद्रुमेण विचित्रेण मणिभिश्च महाघनैः। निस्तुलाभिश्च मुक्ताभिस्तलेनाभिविराजितम् ॥५।९।१७

४. प्रवालजाम्बूनदपुष्पपक्षाः सलीलमावर्जितजिह्मपक्षाः। कामस्य साक्षादिव भान्ति पक्षाः कृता विहंगाः सुमुखाः सुपक्षाः ॥५।७।१३

युक्त सरोवर का आभास देकर कमलासन पर बैठी लक्ष्मी की एक सुंदर मूर्ति बनाई गई थी, जिसके हाथ में कमल शोभित थे और जिसके दोनों ओर सूंड़ों में केसर-युक्त कमल लिये हाथी अंकित थे (चित्र २८)।[1] पुष्पक-निर्माता ने ऐसे
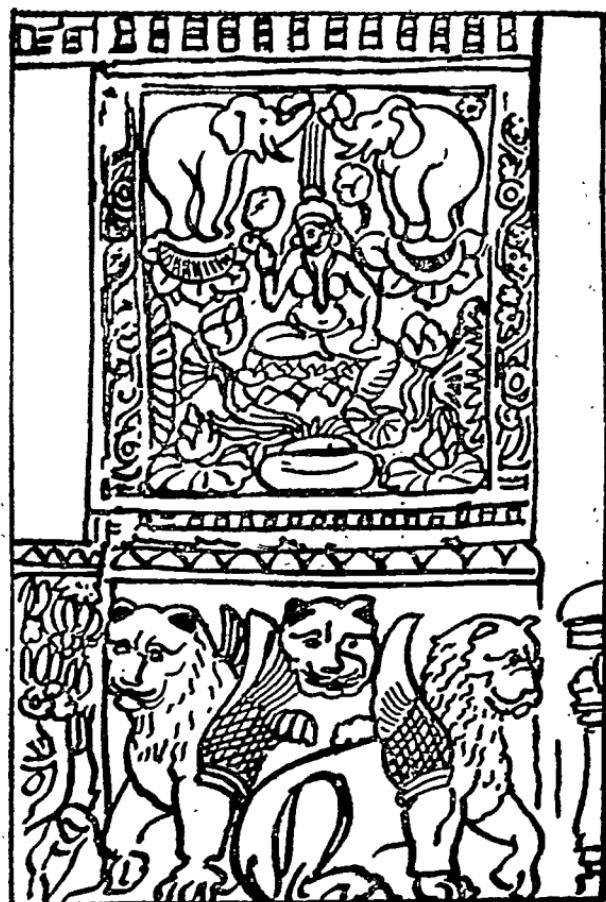
चित्र २८—गज-लक्ष्मी (सांची, सातवाहन, पहली शताब्दी ई० पू०)

कुंडलधारी और बड़े पेटवाले निशाचर भी बनाये थे, जो विमान को आकाश में

---

१. नियुज्यमानाश्च गजाः सुहस्ताः सकेसराश्चोत्पलपत्रहस्ताः। बभूव देवी च कृता सुहस्ता लक्ष्मीस्तथा पद्मिनि पद्महस्ता ॥५।७।१४

ढोते हुए प्रतीत हो रहे थे (चित्र २९)।[1] स्तंभों पर अंकित श्रेष्ठ नारियों के

चित्र २९—प्रासाद का भार ढोते हुए बौने (सांची)

चित्रों से वह जैसे जगमगा रहा था और उनके नीचे बनी हंसों की पांत से लगता था मानो ये उसे उड़ा लिये जा रहे हों—

नारीप्रवेकैरिव दीप्यमानम्।...
हंसप्रवेकैरिव वाह्यमानम्॥५।७।७

एक शास्त्रीय कला के रूप में संगीत की प्रगति पर भी वाल्मीकि-रामायण से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। वाल्मीकि ने अपनी कृति को 'गीत' की शास्त्रीय संज्ञा प्रदान की है (१।४।१७); अर्थात उन्हें अपनी रचना को पाठ्य ही नहीं, गेय

---

१. वहन्ति यं कुण्डलशोभितानना महाशना व्योमचरा निशाचराः ।५।८।७

भी मनवाना इष्ट था। रामायण अपने युग की एक अद्‌भुत संगीत-प्रधान काव्य-कृति थी—शरीर के छहों स्थानों से निकलनेवाली ध्वनियों से समवेत, श्रेष्ठ छंद में प्रणीत, विचित्र पद और अर्थ से युक्त तथा द्रुत-मध्य-विलंबित इन तीनों प्रमाणों (गतियों) से समन्वित।[१] आयु और पुष्टि प्रदान करनेवाला तथा सबके कान और मन को मोहनेवाला यह गीतिमय महाकाव्य समकालीन रसिक मंडलियों में भरपूर समादृत हुआ; उसका गीति-माधुर्य आश्रमों के सरल मुनि-समाज तथा नगरों के रसज्ञ पौर-समाज दोनों को समान रूप से आप्यायित करता था।[२]

किसी काव्य-रचना को मनोरम गीति-रूप प्रदान करने के लिए कतिपय आवश्यक नियम होते थे। वाल्मीकि ने इनका प्रसंगतः उल्लेख करके भारतीय संगीत की काव्य पर निर्भरता को भी स्वीकार कर लिया है। उनके अनुसार संगीत-प्रधान काव्य में शब्दावली **पाठ्ये गेये च मधुरम्**, पढ़ने और गाने दोनों के अनुरूप मधुर होनी चाहिए, अर्थात वह ऐसी लचीली, अक्लिष्ट और प्रांजल होनी चाहिए कि पाठ और गान दोनों के अनुरूप उसे ढाला जा सके। काव्य का संगीत ध्वनि और ताल के अनुसार होना चाहिए, ऐसा कि सातों जातियों या स्वर-समूहों में उसे बांधा जा सके। एक गीतिमय काव्य की रचना में तत्पुरुष आदि समासों, दीर्घ-गुण आदि संधियों तथा प्रकृति-पर्यय के संबंध का यथायोग्य निर्वाह होना चाहिए; उसमें समता (पतत्-प्रकर्ष आदि दोषों का अभाव), पदों में माधुर्य तथा अर्थ में प्रसाद-गुण की अधिकता होनी चाहिए। वह वीणा बजाकर स्वर और ताल के साथ गाने योग्य तथा शृंगार, करुण, हास्य, रौद्र, भयानक, वीर आदि सभी रसों से ओत-प्रोत होना चाहिए (१।२,४)।

रामायण के अध्ययन से उस युग में प्रचलित संगीत के स्वर, वर्ण और ताल, इन तीनों रूपों का विशद परिचय मिलता है। स्वर-संगीत आलाप-प्रधान होता है, उसमें स्वर के नियंत्रण को महत्व दिया जाता है। लव-कुश को स्वर-ज्ञान से

---

१. अपूर्वां पाठ्यजातिं च गेयेन समलंकृताम्। प्रमाणैर्बहुभिर्बद्धां तन्त्रीलय-समन्विताम् ॥७।९४।२-३; विचित्रपदमर्थवत् ।१।४।१

२. तुलना कीजिए—अभिगीतमिदं गीतं सर्वगीतिषु कोविदौ। आयुष्यपुष्टिजननं सर्वश्रुतिमनोहरम् ॥१।४।२७-८; ह्लादयत्सर्वगात्राणि मनांसि हृदयानि च। १।४।३३

संपन्न (स्वर-सम्पन्नौ) बताकर वाल्मीकि ने स्वर-संगीत के प्रचलन की ओर इंगित किया है। गीतियों की गणना इसी संगीत के अंतर्गत की जाती थी। संगीत के इस रूप में एक या अनेक स्वरों में विभिन्न ध्वनियां उत्पन्न करने के हेतु वाणी या वाद्य का उतार-चढ़ाव किया जाता है। इस संगीत का प्रथम दर्शन ऋग्वेद के उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित स्वरों से युक्त मंत्रों में होता है और इसका सामवेदियों के हाथों बड़ा विकास हुआ। रामायण-काल में ये सामवेदी उन्नत स्थिति पर पहुंचे हुए थे। दशरथ की अंत्येष्टि के अवसर पर साम-गान करनेवाले विद्वान शास्त्रीय पद्धति से साम-श्रुतियों का गायन कर रहे थे।[1] दशरथ के अश्वमेध-यज्ञ में पुरोहितगण मंत्रों का शास्त्रीय उच्चारण से स्निग्ध और मधुर गान कर रहे थे।[2] उत्तरकांड में रावण को साम-स्तोत्रों से शंकर की स्तुति करते दिखाया गया है।[3] साम-गान की पद्धति के प्रचार से यह सूचित होता है कि प्राचीन काल से ही जनसामान्य की शास्त्रीय संगीत के प्रति प्रशिक्षित अभिरुचि थी। स्वर-संगीत में सात स्वर स्वस्थानों से निकलनेवाले तार, मध्य और मंद्र आलापों में अभिव्यक्त होते हैं। जहां स्वरों की पूर्णता होती है, उसे 'मूर्च्छना' कहते हैं। कालांतर में यह स्वर-संगीत विभिन्न प्रकार की जटिल राग-रागिनियों में परिणत हो गया, यद्यपि रामायण में किसी राग-रागिनी का उल्लेख नहीं है।

संगीत का दूसरा प्रकार वर्ण-संगीत था, जिसमें वर्णों की ध्वनि का प्राधान्य रहता है। यह संगीत मूलतः वर्ण-माला के लघु और दीर्घ अक्षरों में विद्यमान मात्रा, ध्वनि और उच्चारण-काल के भेद-त्रय पर आधारित है। वर्ण-संगीत का सबसे प्रारंभिक रूप रामायण का अनुष्टुप छंद है, जिसके जनक स्वयं महर्षि वाल्मीकि थे। अनुष्टुप छंद एक यमक-तालयुक्त पद्य है, जिसमें चार समान पादों में सजे, वीणा की लय के साथ गाये जाने-योग्य, सम स्वर और अक्षरवाले मधुर शब्दों की छटा देखी जा सकती है।[4] प्रायः समस्त रामायण इसी अनुष्टुप छंद में रचित

---

१. जगुश्च ते यथाशास्त्रं तत्र सामानि सामगाः ।२।७६।१८

२. ऋष्यशृंगादयो मन्त्रैः शिक्षाक्षरसमन्वितैः । गीतिभिर्मधुरैः स्निग्धैर्मन्त्राह्वानैर्यथार्हतः ॥१।१४।८-९

३. तुष्टाव वृषभध्वजम् । सामभिर्विविधैः स्तोत्रैः प्रणम्य स दशाननः ॥७।१६।३३

४. देखिए १।२।१८, ४०; १।२।४२; १।२।४३

है (श्लोकबद्धा), जिसमें लघु और दीर्घ अक्षरों का सुव्यक्त एवं नियमित आरोह-अवरोह एक विशिष्ट प्रकार के संगीत का सर्जन करता है। बालकांड के आरंभिक सर्गों में वाल्मीकि ने अनुष्टुप छंद की संगीतात्मकता पर बार-बार प्रकाश डाला है। उसे अकेले या सामूहिक रूप से भी गाया जा सकता था।

तीसरे प्रकार के संगीत—ताल-संगीत—में ताल दे-देकर गायन में गुरुत्व या आघात उत्पन्न किया जाता है। 'तालापचरा:' नामक संगीतज्ञ ताल-संगीत में विशेष दक्ष माने जाते थे। यह संगीत अधिकतर नृत्य-गान में प्रयुक्त होता था, क्योंकि इसमें शरीर के अंगांगों का ताल के अनुसार संचालन करना होता है। प्रत्येक ताल-गण को इंगित करने के लिए ताली बजानेवाले (पाणिवादका:) भी होते थे। करताल और स्वस्तिक-जैसे वाद्यों से भी तालें दी जाती थीं। वनवास से लौटने पर राम के राजकीय जुलूस में आगे-आगे स्वस्तिक और करताल बजानेवाले चल रहे थे।[1] महर्षि भरद्वाज ने भरत और उनकी सेना के स्वागत में जो संगीत-समारोह किया था, उसमें 'शम्य' या ताल देने के लिए संगीतज्ञों का एक अलग दल नियुक्त था (२।९१।४९)।

गायकों से कला के उच्च स्तर की अपेक्षा की जाती थी, जैसाकि लव-कुश की योग्यता के वर्णन से ज्ञात होता है। वे दोनों वाल्मीकि-शिष्य गांधर्व-विद्या के तत्वज्ञ,(स्वरों के उत्पत्ति-)स्थान और मूर्च्छना के जानकार, मधुर स्वर से संपन्न तथा गंधर्वों के समान सुंदर थे। उनकी धारणा-शक्ति अद्भुत थी और वे वेदों में पारंगत हो चुके थे। उनका उच्चारण इतना स्पष्ट था कि सुनते ही अर्थ का बोध हो जाता था। उनका रामायण-गान सुनकर श्रोताओं के समस्त शरीर में रोमांच हो जाता, सबके मन और हृदय में आनंद की तरंगें उठने लगतीं। वे दोनों भाई प्रसन्न और एकाग्र चित्त से वीणा के लय पर मधुर स्वर से रामायण का गान करते थे। उनका गान पूर्ववर्ती आचार्यों के बताये हुए नियमों के अनुकूल था। संगीत की विशेषताओं से युक्त स्वरों के अलापने की उनकी शैली अपूर्व थी। द्रुत, मध्य और विलंबित, इन तीन प्रकार की गतियों से बंधा और वीणा के स्वर से सामंजस्य रखता हुआ उन दोनों बालकों का गायन जब आरंभ होता,

---

१. स पुरोगामिभिस्तुल्यैस्तालस्वस्तिकपाणिभिः । प्रव्याहरद्भिर्मुदितैर्मंगलानि वृतो ययौ ॥६।१२८।३७

तब मधुर संगीत का तार बंध जाता। उसे सुनकर श्रोताओं की तृप्ति ही नहीं होती थी। जय-जयकार एवं उपहार देकर वे उन तरुण गायकों का उत्साह-वर्धन करते थे (१।४)।

वाल्मीकि के मतानुसार गायक की ही वाणी नहीं, वक्ता की भी वाणी अवसर के अनुकूल, उपयुक्त ध्वनि एवं स्वर से युक्त तथा इष्ट भावों को अभिव्यक्त करने में समर्थ होनी चाहिए। राम ने हनुमान के भाषण की प्रशंसा करते हुए एक आदर्श वाणी का सुंदर वर्णन किया है—"संभाषण के समय इनके मुख, नेत्र, ललाट, भौंह तथा अन्य अंगों से कोई दोष प्रकट नहीं हुआ। इन्होंने थोड़े में ही बड़ी स्पष्टता के साथ अपना अभिप्राय निवेदित कर दिया है। रुक-रुककर अथवा शब्दों या अक्षरों को तोड़-मरोड़कर किसी वाक्य का उच्चारण नहीं किया है। बोलते समय इनकी आवाज न बहुत धीमी रही है, न बहुत ऊंची। मध्यम स्वर में ही इन्होंने सब बातें कही हैं। यह संस्कार और क्रम से संपन्न, अद्भुत, अविलंबित तथा हृदय को आनंद प्रदान करनेवाली कल्याणमयी वाणी का उच्चारण करते हैं।[1] हृदय, कंठ और मूर्धा, इन तीनों स्थानों द्वारा स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होनेवाली इनकी इस विचित्र वाणी को सुनकर किसका चित्त प्रसन्न न होगा?" (४।३।२८-३३)। महाराज दशरथ की वाणी उनके राजकीय पद के अनुरूप (राजलक्षणयुक्त) थी। शासन-भार से निवृत्त होने के लिए उन्होंने अपनी राज्य-सभा के समक्ष जो भाषण दिया, उसका स्वर अनुपम, महान, सरस, मनोहर एवं मेघ-सदृश गंभीर था।[2] मतवाले हंस की ध्वनि पुरुषों के लिए आदर्श स्वर मानी जाती थी। राम और भरत की आवाज मत्त हंस की-सी बताई गई है (हंस-मत्तस्वरः, कलहंसस्वरः), जबकि दशरथ की बोली दुंदुभि की ध्वनि का स्मरण करा देती थी (दुन्दुभिस्वरकल्पेन)। बोलते समय सही स्वर का ध्यान रखा जाता था। केकय से लौटकर जब भरत अयोध्या में प्रवेश करने लगे, तब उन्हें लगा

---

१. व्याकरण के नियमानुकूल शुद्ध वाणी को 'संस्कार-संपन्न' (संस्कृत) कहते हैं। शब्दोच्चारण की शास्त्रीय परिपाटी का नाम 'क्रम' है। बिना रुके धारा-प्रवाह बोलना 'अविलंबित' कहलाता है।

२. स्वरेण महता राजा जीमूत इव नादयन्। राजलक्षणयुक्तेन कान्तेनानुपमेन च। उवाच रसयुक्तेन स्वरेण नृपतिर्नृपान ॥२।२।३-४

जैसे मेरी बोली स्वरहीन हो गई है (भ्रष्टश्च स्वरयोगो मे, २।६९।१९)। इसे उन्होंने अपशकुन माना था। वाल्मीकि ने दशरथ की विधवा रानियों को भी उपयुक्त स्वर में रोते हुए दिखाया है (रुरुदुः सुस्वरम्, २।८१।८)।

संगीत को 'गांधर्व' तथा संगीत-शास्त्र को 'गांधर्व-तत्व' कहते थे। उसके अंतर्गत गीत (मौखिक गान) तथा वादित्र (वाद्य गान) दोनों समाविष्ट थे। उस युग के गायक मार्ग-शैली का आश्रय लेकर अपनी कला का प्रदर्शन किया करते थे।[1]

संगीत के साहचर्य में नृत्य का भी पर्याप्त सेवन किया जाता था। भारत में शास्त्रीय अथवा लौकिक नृत्यों का उद्भव किसी देवता-विशेष की पूजा-अर्चना से हुआ बताया जाता है। इसका समर्थन उत्तरकांड से होता है, जहां रावण को नृत्य और गान के साथ भगवान शंकर की आराधना करते चित्रित किया गया है।[2]

नृत्य (२।२०।१०), नृत्त (४।५।१७) और लास्य (२।६९।४), इन तीनों प्रकारों का रामायण में उल्लेख है। नृत्य में विभिन्न भावों को मुद्राओं और अंग-विक्षेप या अभिनय के सहारे प्रकट किया जाता है। नृत्त में ताल और लय पर विशेष ध्यान दिया जाता है। लास्य एक प्रकार का सुकुमार नृत्य होता है, जिसमें गीत और वादित्र का प्रयोग होने के साथ-साथ नृत्त और नृत्य के भी लक्षण कार्यान्वित किये जाते हैं।

शोकाभिभूत कौसल्या के व्यवहार में नृत्य की कल्पना करके कवि ने यह बताया है कि नृत्य में अंग-प्रत्यंग का मृदु और गतिशील संचालन, मधुर और ऊंचे आलाप में गायन तथा भावों का वास्तविक प्रकटीकरण किया जाता है (२।४४।४४-५)।

---

१. गान दो प्रकार के होते हैं—मार्ग और देशी। भिन्न-भिन्न प्रदेशों की भाषाओं में गाये जानेवाले गान को 'देशी' कहते हैं और समूचे राष्ट्र में प्रचलित संस्कृत-जैसी भाषा का आश्रय लेकर गाया हुआ गान 'मार्ग' के नाम से पहचाना जाता है। कुश और लव संस्कृत भाषा का आश्रय लेकर उसीकी रीति से गा रहे थे। वर्तमान काल में गायन की मार्ग-पद्धति लुप्त हो चुकी है और देशी पद्धति का ही प्रचलन है।

२. ततः सतामार्तिहरं परं वरं वरप्रदं चन्द्रमयूखभूषणम्। समर्चयित्वा स निशाचरो जगौ प्रसार्य हस्तान्प्रणनर्त चाग्रतः ।।७।३१।४४

भारतीय नृत्य-कला में अंतर की भावनाओं और वासनाओं की कलात्मक ढंग से स्पष्ट एवं व्यावहारिक अभिव्यक्ति की जाती है।

'रंग' अथवा रंगमंच का उल्लेख रावण द्वारा प्रयुक्त एक रूपकात्मक वर्णन में आया है, जिससे ज्ञात होता है कि नट लोग रंगमंच पर अभिनय करते थे (६। २४।४२-३)। रामायण में 'व्यामिश्रकों' का भी उल्लेख आया है। यदि उनका अर्थ संस्कृत और प्राकृत में रचित नाटक है, तो यह सिद्ध है कि अभिनय मूक न होकर वाचिक होता था। 'समाज'[1] शब्द भी अनेक वार आया है और उससे नाटकों के दर्शकगण का भाव भी अभिप्रेत है।[2]

स्थापत्य के क्षेत्र में रामायणकालीन आर्यों ने आश्चर्यजनक प्रगति कर ली थी। वाल्मीकि-कृत नगरों, दुर्गों और प्रासादों के वर्णनों से यह स्पष्ट है कि स्थापत्य-विज्ञान का एक व्यवस्थित एवं उन्नत रूप स्थिर हो चुका था। किष्किंधाकांड (सर्ग ५१) में इस विषय की एक कथा आई है कि दानवों के स्थपति मय ने तपस्या करके ब्रह्मा से शुक्राचार्य की शिल्प-विद्या का समस्त ज्ञान प्राप्त किया था; साथ ही उसे शुक्र के सारे उपकरण या औजार (**औशनसं धनम्**) भी मिल गए थे। श्री तारापद भट्टाचार्य[3] के अनुसार इस कथा में मय और उशनस के शिल्प-शास्त्रों की ओर संकेत है। ये दोनों शास्त्र प्रायः एक-से रहे होंगे, पर आज ये अप्राप्य हैं। 'मत्स्य-पुराण' में वताया गया है कि मय और शुक्र किसी समय वास्तु-विद्या के अठारह आचार्यों में सुप्रसिद्ध थे। रामायण में मय और विश्वकर्मा के संबंध में जो उल्लेख आये हैं, उनसे ज्ञात होता है कि मय दक्षिण भारत का शिल्पी था और विश्वकर्मा उत्तरी, पूर्वी और पश्चिमी भारत तथा लंका का।

परवर्ती शिल्प-शास्त्रों में आनेवाले पारिभाषिक या शास्त्रीय शब्द रामायण में भी प्रयुक्त हैं। स्थपति, वर्धकी और तक्षक—ये शब्द रामायण में भवन-निर्माण का पेशा करनेवाले विभिन्न प्रकार के कारीगरों के लिए आये हैं। वाद के वास्तु-शास्त्रों में इनका इन्हीं अर्थों में व्यवहार किया गया है।

राजमहलों को प्रासाद, विमान, हर्म्य या सौध कहा जाता था। कुछ वर्ण-

---

१. २।६७।१५; २।१००।४४; ५।५७।१३

२. आर० वी० जागीरदार—'ड्रामा इन संस्कृत लिटरेचर', पृष्ठ ४३।

३. 'ए स्टडी आन वास्तुविद्या', पृष्ठ ३६।

नात्मक स्थलों में इन नामों का एक-साथ प्रयोग हुआ है, जिससे सूचित होता है कि ये नाम पर्यायवाची नहीं थे, प्रत्युत भिन्न-भिन्न प्रकार के भवनों के बोधक थे। प्रासादों को 'सप्तभौम', 'अष्टभौम', 'अनेकभौम' इत्यादि कहा गया है ('भौम' का अर्थ मंजिल या तल्ला है)। इससे यह ध्वनि निकलती है कि प्रासाद शब्द का प्रयोग अनेक मंजिलोंवाले महलों के लिए होता था। प्रासाद शिखरों या गुंबदों से अलंकृत होते थे, और एक विशिष्ट प्रकार के शिखर को 'विमान' कहा जाता था, जैसाकि **प्रासादाग्रेषु विमानेषु** से व्यंजित है (२।८८।५)। सुधा अर्थात चूने से लिपे रहने के कारण कुछ भवन 'सौध' कहलाते थे। हर्म्यों का ठीक-ठीक प्रकार रामायण से स्पष्ट नहीं होता, पर यह शब्द 'विनयपिटक' में भी आया है। महलों में कई स्तंभ हुआ करते थे। सहस्र स्तंभोंवाले प्रासादों का रामायण में दो स्थलों पर उल्लेख हुआ है (५।१५।१६; ६।३९।२२)। 'पद्म' नाम के भवन कमलाकार होते थे। जिन मकानों में पूर्व की ओर द्वार नहीं होता था, वे 'स्वस्तिक' कहलाते थे, और जिनमें दक्षिणाभिमुख द्वार नहीं होता था, वे 'वर्धमान' (५।४।७-८)। लंका में वज्र और अंकुश के आकार के भी गृह बने थे।

मकानों में तोरण और चौक बने होते थे। खिड़कियां या तो झरोखेदार (गवाक्ष) होती थीं या उन पर सोने-चांदी की जालियां पड़ी रहती थीं। इन खिड़कियों की सुंदरता अनेक स्थलों पर वर्णित है। भवनों के अलंकरण में इनका प्रमुख स्थान था। मकानों के ऊपर शिखरों और शृंगों के अतिरिक्त चंद्रशालाएं बनी होती थीं। रावण के महल में उनका आकार अर्धचंद्र या पूर्ण-चंद्र के समान था। छत के नीचे कबूतरों तथा अन्य पक्षियों के रहने के लिए बनाये गए स्थान 'विटंक' कहलाते थे। 'वलभी' गोल मुंडेर को कहते थे। चढ़ने की सीढ़ियां 'सोपान' कहलाती थीं। प्रासादों के स्तंभ मणि-मोतियों से अलंकृत रहते थे।

राजमहलों में द्वारयुक्त अनेक कक्ष्याएं (चौक) होती थीं। दशरथ का राज-भवन पांच कक्ष्याओंवाला था। इनमें से तीन कक्ष्याओं के भीतर राम रथ पर चढ़कर चले गए, फिर दो कक्ष्याओं तक पैदल गए।[1] दशरथ अपने प्रासाद के

---

१. स कक्ष्या धन्विभिर्गुप्तास्तिस्रोऽतिक्रम्य वाजिभिः। पदातिरपरे कक्ष्ये द्वे जगाम नरोत्तमः॥२।१७।२०

ऊपरी तल्ले में रहते थे। राम उनके दर्शनार्थ प्रासाद के ऊपरी भाग में चढ़े थे (**प्रासादमारुरोह,** २।३।३१-२)। इसी प्रकार वसिष्ठ भी प्रासाद पर चढ़कर ही राजा दशरथ से मिले थे। (**प्रासादमधिरुह्य,** २।५।२२)। युवराज राम का भवन दशरथ के राजभवन से अलग था, पर उसका संनिवेश भी बहुत-कुछ राजभवन के ढंग पर ही था।[1] उसमें तीन कक्ष्याएं थीं। राम के भवन में वसिष्ठ का रथ तीसरी कक्ष्या के भीतर तक चला गया था।[2] प्रथम कक्ष्या अथवा बाह्य कक्ष्या में सबसे आगे द्वारपद या प्रधान द्वार था। बीचवाली या मध्य कक्ष्या में राजा के प्रीति-पात्रों, अश्वों, गजों आदि के लिए स्थान थे। तीसरी कक्ष्या में राम-सीता का निजी वास-गृह था, जिसे 'प्रविविक्त कक्ष्या' कहा गया है (२।१६।१)। वहां बूढ़े 'स्त्र्यध्यक्ष' नामक प्रतीहार हाथ में वेत्र-दंड लिये तैनात थे और सेवासक्त युवक शस्त्र धारण किये उसकी रक्षा में नियुक्त थे।[3] कौसल्या के महल में सात कक्ष्याएं थीं। पांच कक्ष्याओं के बाद अंतःपुर आता था, जिसमें दो कक्ष्याएं और होती थीं। वन से लौटकर सुमंत्र को कौसल्या के महल में दशरथ से मिलने के लिए सात कक्ष्याएं पार करनी पड़ी थीं—**कक्ष्याः सप्ताभिचक्राम महाजनसमाकुलाः** (२।५७।१७)। इसी प्रकार सुग्रीव के राजमहल में लक्ष्मण सात कक्ष्याएं पार करने के बाद विस्तीर्ण अंतःपुर में पहुंचे थे।[4]

सुंदरकांड (सर्ग ६-७) में रावण के राजभवन का विस्तृत वर्णन है। उस समस्त राजकुल को 'आलय' कहा गया है। उसके मध्य भाग में रावण का भवन था। उसमें कई प्रासाद थे। रावण की निजी महाशाला भी सोपान से युक्त थी। उसके महानिवेशन में शृंगार-कल्लोल के सभी साधन समुपलब्ध थे। उसके ऊपर कई ताल ऊंची, बर्फ के समान सफेद अटारी थी, जिस पर से उसने

---

१. **राजभवनप्रख्यात् तस्माद्रामनिवेशनात्** ।२।५।१५

२. **स रामभवनं प्राप्य पाण्डुराभ्रघनप्रभम्। तिस्रः कक्ष्या रथेनैव विवेश मुनिसत्तमः ॥२।५।५**

३. **अत्र काषायिणो वृद्धान्वेत्रपाणीन्स्वलंकृतान्। ददर्श विष्ठितान्द्वारि स्त्र्यध्यक्षान्सुसमाहितान् ॥२।१६।३**

४. **स सप्त कक्ष्या धर्मात्मा यानासनसमावृताः। ददर्श सुमहद्गुप्तं ददर्शान्तःपुरं महत् ॥४।३३।१९**

वानरी सेना का निरीक्षण किया था।[1] अशोकवाटिका-स्थित रावण का चैत्य-प्रासाद 'गोलाकार और वहुत ऊंचा था। वह कैलास के समान श्वेत-वर्ण था। उसमें हजार खंभे थे, मूंगे की सीढ़ियां थीं तथा तपाये हुए सोने की वेदियां वनाई गई थीं। वह निर्मल प्रासाद अपनी शोभा से देदीप्यमान हो रहा था और दर्शक के नेत्रों को अपनी ओर खींच लेता था। वहुत ऊंचा होने के कारण वह मानो आकाश को छू रहा था' (५।१५।१६-८)। इस चैत्य-प्रासाद से हनुमान ने एक सुवर्ण-खचित सौ घुमावोंवाला खंभा उखाड़कर राक्षसों को भयभीत करने के लिए हवा में जोरों से घुमाया था।[2] उत्तरकांड में वर्णित कुंभकर्ण का महल 'एक योजन चौड़ा और दो योजन लंवा था। उसमें स्फटिक और सोने के खंभे, पन्नों की सीढ़ियां, हाथीदांत के तोरण तथा हीरों और स्फटिकों के चौतरे वने थे। वह वड़ा मनोहर, सवके लिए सुखदायी और सव ऋतुओं में रहने लायक ऐसा था मानो मेरु की कंदरा हो' (७।१३।३-६)।

धर्माचरण और कर्मकांड के निमित्त निर्मित भवन भी कलापूर्ण होते थे। इस प्रकार के भवनों में यज्ञ-शाला, अग्नि-शाला, देवायतन और चैत्यों के नाम उल्लेखनीय हैं। यज्ञ-शालाएं प्रायः अस्थायी रूप से वनाई जाती थीं, पर कभी-कभी वे ईंटों की भी वनी होती थीं। दशरथ के अश्वमेध-यज्ञ में अठारह-अठारह ईंटों से छः गरुड़ाकार त्रिगुण वेदियां वनाई गई थीं (१।१४।१८-९)। शुल्वसूत्रों में भी गरुड़ाकार वेदी वनाने का विधान है। उस समय के देवालय कैसे वनाये जाते थे, इसका कोई संकेत नहीं मिलता। यज्ञीय यूपों का शिल्पिगण कुशलता से निर्माण करते थे—उनके आठ पहलू (अष्टास्रयः) होते थे (१।१४।२६)। ब्राह्मण-ग्रंथों के समय से ही भारतीय स्थापत्य में अठपहलू यज्ञीय यूपों का निर्माण होता आ रहा है।

यद्यपि रामायण में स्थापत्य की अनेक श्रेष्ठ कला-कृतियों के वर्णन मिलते हैं, तथापि समृद्ध कवि-कल्पना में लिपटे होने के कारण उनसे यह पता नहीं चलता

---

१. आरुरोह ततः श्रीमान् प्रासादं हिमपाण्डुरम्। वहुतालसमुत्सेधं रावणोऽथ दिदृक्षया ॥६।२६।५

२. प्रासादस्य महांस्तस्य स्तम्भं हेमपरिष्कृतम्। उत्पाटयित्वा वेगेन हनुमान्मारुतात्मजः ॥ ततस्तं भ्रामयामास शतधारं महावलः ।५।४३।१७-८

कि इन भवनों में कैसी निर्माण-सामग्री प्रयुक्त होती थी। कवि सर्वत्र मणि-जटित वातायनों, सोपानों और शिखरों, स्फटिक के फर्शों तथा स्वर्ण-रजत की दीवारों की प्रशंसा में बह गया है। वस्तुतः सोने-चांदी का इतना प्रचुर उपयोग तब किया जाता था या नहीं, यह आज निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, पर पुरातत्व-विषयक खुदाई से प्रमाणित होता है कि स्वर्णकार और मणिकार की कलाओं में प्राचीन भारतीयों ने बहुत उन्नति कर ली थी। केवल दो-तीन स्थलों में अन्य निर्माण-सामग्री का उल्लेख हुआ है। भवनों और वेदियों के निर्माण में ईंटों (इष्टकाः) तथा सुधा या चूने के उपयोग की ओर संकेत किया जा चुका है।

पाश्चात्य कला-समीक्षक फर्गुसन का मत है कि भारत में अशोक से पहले केवल लकड़ी के मकान बनते थे। अब यह मत मोहंजोदड़ो की खुदाई और वैदिक साहित्य के आधार पर पूर्णतया धराशायी हो चुका है।[1] अशोक-पूर्व रचित रामायण भी फर्गुसन की मान्यता का खंडन करती है। पत्थर गढ़ने की कला, टंक और दात्र-जैसे पत्थर छेदने के औजारों का व्यवहार, खुदाई का व्यापक प्रचलन तथा आग लगाकर चट्टानों को फोड़ने का ज्ञान यह सिद्ध करते हैं कि विभिन्न निर्माण-कार्यों में पत्थरों का उपयोग होता था।[2] दशरथ के अश्वमेध-समारोह में हजारों ईंटों से राजोचित निवास-स्थान बनाये गए थे।[3] चित्रकूट जाने का मार्ग बनाते समय भरत के कारीगरों ने **ससुधाकुट्टिमतलः**, जमीन की सतह को कुटे पत्थरों से पाटकर मजबूत बनाया था (२।८०।१३)। बालकांड के आरंभ में तथा राम के यौवराज्याभिषेक की घड़ी में कवि ने, अयोध्या नगरी के वर्णन में, जिन अनेक तल्लोंवाली गगनचुंबी अट्टालिकाओं, रत्न-जटित भवनों, तोरणों, हर्म्यों, देवतायतनों, शिखरों, विमानों आदि का उल्लेख किया है, वे निश्चय ही घास-फूस-मिट्टी की झोपड़ियां या कुटियां नहीं रही होंगी, विशेष कर जबकि उनके लिए कवि ने भिन्न शब्दों का प्रयोग किया है। त्रिकूट गिरि पर अवस्थित लंका का दुर्भेद्य

---

१. देखिए—प्रसन्नकुमार आचार्य का 'दि एस्पेक्ट एंड ओरिएंटेशन इन हिंदू आर्किटेक्चर' शीर्षक लेख ('इंडियन कल्चर', जनवरी १९३५)।

२. २।८०।६-८,१२; ५।१।२०

३. इष्टका बहुसाहस्रीः शीघ्रमानीयतामिति। उपकार्याः क्रियन्तां च राज्ञो बहुगुणान्विताः॥१।१३।९

दुर्ग भी लकड़ी की इमारत नहीं रहा होगा। हां, यह सर्वथा संभव है कि लंकापुरी के अधिकांश भवन काष्ठ-निर्मित थे, तभी हनुमान उनमें आग लगा देने में सहज ही सफल हो गए; पर वहां पत्थरों के मकानों का अभाव नहीं था। ५।४१।१९ में शिला-गृहों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। लंका के प्राकार पर बैठे हनुमान ने वहां से एक बड़ा पत्थर निकालकर नीचे शत्रुओं पर फेंका था।[1]

भवन-निर्माण की तरह उद्यान-निर्माण की कला भी समुन्नत थी, जैसाकि रावण की अशोकवाटिका के वर्णन से ज्ञात होता है। इस वाटिका के चारों ओर एक परकोटा था। वह सुनहरे और रुपहरे वृक्षों से भरी थी। उसमें सब ओर तरह-तरह के पक्षी बोल रहे थे, मृग आदि जंतु मस्त हुए विचर रहे थे। घूमते-घूमते हनुमान को वहां मणि, चांदी और सोने की भूमियां दिखाई दीं। उस वाटिका में अनेक आकारों की बावलियां थीं, जिनमें स्वच्छ जल भरा था और मणियों की सीढ़ियां बनी थीं। उनके आसपास बालू की जगह मोती और मूंगे फैलाये गए थे, उनके तले स्फटिक के थे तथा तीर पर उगे हुए सुनहरे वृक्षों से वे अत्यंत सुशोभित थीं। उनमें कमल खिले थे तथा हंस और सारस मनोहर बोली बोल रहे थे। वहां एक मेघ के समान ऊंचा और विचित्र शिखरवाला पर्वत भी था, जिसमें जगह-जगह पत्थरों की गुफाएं थीं और जिससे एक नदी गिर रही थी। हनुमान ने एक कृत्रिम तालाब भी देखा, जो शीतल जल से भरा था; उसमें मणियों की सीढ़ियां बनी थीं और किनारे पर मोतियों की रेत थी। साल, अशोक, भव्य, चंपक, उद्दालक, नागवृक्ष, चंदन और कपि-मुख जाति के आम्र-वृक्ष सर्वत्र सुशोभित थे। सभी फल-फूल देनेवाले थे और उनके नीचे सोने की वेदियां थीं। वहां अनेक खुले मैदान, पहाड़ी झरने, बैठने के लिए आसन तथा अनेक तलवाले गृह थे। दिव्य गंध और रसों से युक्त वह वाटिका देवताओं के नंदन-वन या कुबेर के चैत्ररथ के समान रमणीय जान पड़ती थी (५।१४-५)—

नन्दनं विबुधोद्यानं चित्रं चैत्ररथं यथा।
अतिवृत्तमिवाचिन्त्यं दिव्यं रम्यश्रिया युतम् ॥५।१५।११-२

---

१. ततः (तोरणविटंकस्थो हनुमान्) पार्श्वेऽतिविपुलां ददर्श महतीं शिलाम्।
तरसा तां समुत्पाट्य चिक्षेप जववद्बली ॥५।४४।६; १०-११

: १० :

नगर

नगर, नगर-रचना और नागरिक जीवन का अपरिमित सांस्कृतिक महत्व है। 'नागरिकों के जीवन की, उसकी प्रेरक शक्तियों और प्रवृत्तियों की मूर्तिमान अभिव्यक्ति होने के नाते नगर मानवीय कला और सौंदर्य-भावना का सर्वोत्कृष्ट स्मारक है। नगर-रचना के मूल में बहुत-कुछ उसके निर्माताओं की सभ्यता और संस्कृति निहित रहती है।'[१]

जहां वेदों और ब्राह्मण-ग्रंथों की संस्कृति मूलत: जनपदीय थी, वहां रामायण-कालीन संस्कृति मुख्यत: नागरिक थी, और वाल्मीकि ने पाठकों के समक्ष उत्तरी भारत का एक ऐसा मानचित्र उपस्थित किया है, जिसमें असम से लेकर अफगानिस्तान तक समृद्ध नगरों की एक लंबी शृंखला चली गई है। रामायण में वर्णित महानगरों की रचना किसी वैज्ञानिक एवं नियमित योजना के अनुसार की गई प्रतीत होती है। नगर-रचना-शास्त्र काफी विकसित हो चुका होगा, यद्यपि तत्कालीन साहित्य में उसके किसी ग्रंथ-विशेष का नाम नहीं आया है। रामायण में चतुर्थ उपवेद—स्थापत्य—का उल्लेख मिलता है (१।१३।६)। विश्वकर्मा, मनु और मय-जैसे युग-युगों से प्रसिद्ध स्थपतियों का उल्लेख[२] भी नगर-रचना-शास्त्र की प्राचीनता प्रमाणित करता है।

प्राचीन काल में जीवन और निवास संकटापन्न रहने के कारण नगरों को चहारदीवारी और खाइयों से सुरक्षित रखा जाता था। प्राच्य और पाश्चात्य दोनों प्रकार की प्राचीन नगर-शैलियों का यह एक सामान्य लक्षण था। आर्यो

---

१. बी० बी० दत्त—'टाउन प्लानिंग इन एन्श्यंट इंडिया', पृ० १८।

२. ७।५।१८; १।७५।११; ५।२।२०, २२; १।५।६; ५।७।४

की वस्तियों का वे इतना अविभाज्य अंग होती थीं कि प्राचीन भारत के किसी भी नगर का वर्णन उनके उल्लेख के विना अधूरा रहेगा। मूलतः प्रत्येक नगर एक दुर्ग था और प्रत्येक दुर्ग एक नगर; व्यावहारिक दृष्टि से ये दोनों पर्यायवाची शव्द थे।

इस प्रकार प्राचीन काल के आर्य-नगरों का उद्भव और विकास सामरिक आवश्यकताओं के कारण हुआ। रामायण-काल के प्रमुख नगर भी मजवूत चहार-दीवारी तथा आक्रमणों का प्रतिरोध करने की साज-सज्जा से युक्त पाये जाते हैं। दुर्गों को सदैव धन, धान्य, शस्त्रास्त्र, यंत्र, शिल्पियों तथा धनुर्धरों से सुसज्जित रखा जाता था, जिससे आकस्मिक आक्रमण का मुकावला किया जा सके। सांकाश्य
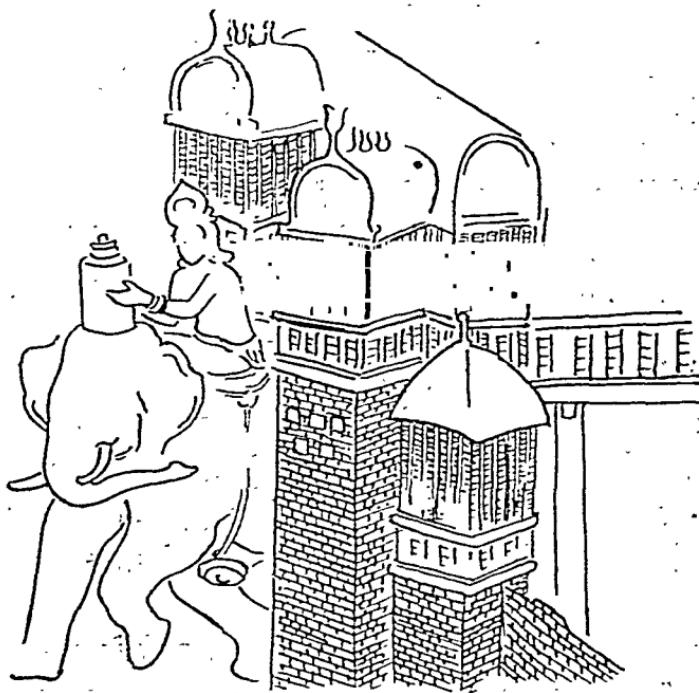
चित्र ३०—शाला, अट्टालक और प्राकार से युक्त नगर-द्वार (अमरावती, दूसरी शताब्दी ई०)

और वाराणसी की नगरियां ऊंचे-ऊंचे प्राकारों से घिरी थीं (**वार्याफलकपर्यन्ता, सुप्राकारा**), जवकि राजगृह नगर के चारों ओर दुर्गम खाई खुदी थी (**असह्य-**

परिखम्) । नगर के प्राकार या परकोटे में मजबूत किवाड़ोंवाले विशाल द्वार लगे रहते थे और स्थान-स्थान पर 'गोपुराट्टालक' बने रहते थे। 'अट्ट' या 'अट्टालक' बुर्ज को कहते थे, प्रत्येक द्वार पर ऐसे बुर्ज सुरक्षा तथा पर्यवेक्षण के लिए बने रहते थे, (चित्र ३०)। बुर्जवाले नगर-द्वार को 'गोपुर' (६।४२।१८) की संज्ञा दी जाती थी। साट्ट-गोपुर (५।५८।१५८) का अर्थ बुर्जवाला शहर का फाटक है। नगर-द्वार कभी-कभी अलंकृत तोरण-युक्त भी होता था। अट्ट, प्राकार और तोरण का उल्लेख प्रायः साथ-साथ हुआ है, क्योंकि ये साथ-साथ ही बने रहते थे।

नगर की चहारदीवारी से बाहर, उसीसे लगी हुई, पानी और जलचर जीवों से युक्त एक खाई (परिखा) रहती थी। खाई इतनी गहरी और चौड़ी होती थी कि आक्रमण के समय शत्रु के लिए वह पर्याप्त बाधक सिद्ध हो सके। जहां तक संभव था, प्राकृतिक रक्षा-साधनों से लाभ उठाया जाता था और अधिकांश नगर नदी-तट पर (जैसे अयोध्या), समुद्र-तट या द्वीप पर (जैसे लंका) तथा दुर्गम पर्वत में (जैसे कलिंग) स्थित होते थे। लंका नगरी इनमें अधिकांश सुविधाओं से संपन्न थी, अतः राक्षसों के लिए वह एक दुर्भेद्य शरण-स्थली का काम देती थी।

शत्रु-प्रदेश में विजित स्थानों पर अधिकार कायम रखने के लिए महत्वपूर्ण व्यूह-स्थलों पर किलेबंदी की जाती थी, जो कालांतर में नागरिक सभ्यता का केंद्र हो जाती थी। उत्तरकांड में ऐसे कई उदाहरण पाये जाते हैं। तक्षशिला नगरी की स्थापना भरत ने गंधर्वों के देश को जीतकर की थी; उसका महत्व उसकी सामरिक स्थिति के कारण ही था। साथ-ही-साथ उत्तरी भारत की व्यापार-प्रधान सिंधु-घाटी के द्वार पर स्थित होने के कारण तक्षशिला का व्यावसायिक महत्व भी कई गुना बढ़ गया था। यह स्मरण रखना चाहिए कि प्राचीन काल के नगर मुख्यतः शत्रुओं के आक्रमण से प्रजा को बचाने के लिए सुरक्षित स्थलों के रूप में बसाये जाते थे और उनका नागरिक या व्यापारिक महत्व गौण और आनुषंगिक होता था। उस युग की सामरिक आवश्यकताएं ही ऐसी थीं कि विशुद्ध व्यापारिक दृष्टि से किसी नगर की स्थापना संभव नहीं थी। व्यापारिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियां तो जीवन और संपत्ति की पूर्ण सुरक्षा की अनुगामिनी होती थीं।

सैनिक केंद्र के रूप में निर्मित होने पर भी रामायण-काल के नगर नागरिक आवश्यकताओं के लिए बड़ी सूक्ष्मता से निर्मित किये जाते और निर्माण एवं शिल्प-

सौंदर्य की दृष्टि से आदर्श बनाये जाते थे। परकोटे, खाई, जंगल या दुर्गम ऊंचाइयों के पीछे ऐसे रमणीय नगर बसाये जाते, जहां रूप और कला, विन्यास और व्यवस्था की छटा दर्शक को चकाचौंध कर देती थी। ऋक्षबिल का गिरि-दुर्ग कलापूर्ण स्थापत्य का एक अद्भुत नमूना था; भवन-निर्माण के आचार्य मय ने संपूर्ण साज-सज्जा एकत्र करके उसे बनाया था। वाल्मीकि ने जिन अनेकानेक नगरों का वर्णन किया है, उनसे यह सहज निष्कर्ष निकलता है कि सैनिक-दुर्गों के रूप में बनाये जाने पर भी वे कुशल स्थपतियों के हाथों परिष्कृत एवं परिवर्धित किये गए और समय पाकर रचना-वैशिष्ट्यवाले नगरों के रूप में पल्लवित हुए।

नगर-निर्माण के लिए स्थल चुनने में समतल भूमि, स्वस्थ और स्वच्छ वातावरण तथा जल और खाद्य-पदार्थों की सन्निकटता का ध्यान रखा जाता था। नदियों के तट नगर के उद्भव और विकास के लिए सर्वोत्तम सुविधाएं प्रदान करते थे, क्योंकि नदी, देश के आंतरिक भागों में यातायात का सुविधाजनक साधन और बाहरी जगत से संपर्क स्थापित करने का मार्ग होने के कारण, वाणिज्य-व्यवसाय को प्रोत्साहित करती थी। नदियों का राष्ट्रीय महत्व भी कुछ कम नहीं होता था। पुरातन काल में जब भ्रमणशील आर्य अपनी सभ्यता का प्रसार कर रहे थे और आधुनिक अर्थ में व्यापार-व्यवसाय संभव नहीं था, भारत की महान नदियों ने उनके विस्तार और प्रसार के लिए प्रशस्त पंथ खोल रखे थे। भारत के प्रारंभिक नगरों की स्थापना शायद इसी कारण सिंधु-गंगा की घाटियों में हुई। इसके अतिरिक्त, शांति-काल में नदी द्वारा संपर्क जितना सरल होता है, युद्ध-काल में उसे पार कर आक्रमण करना उतना ही कठिन। स्वच्छता रखने में भी नदी बड़ी सहायक होती है—नगर के सारे फालतू और गंदे पानी को वह अपने में समा लेती है। नदियों से और भी कई स्थानीय लाभ होते हैं। इन्हीं सब कारणों से अनेक आर्य-बस्तियों की स्थापना नदी-तटों पर की गई। प्राचीन शिल्प-शास्त्रों में भी नदी के दाहिने किनारे पर नगर बसाने का विधान पाया जाता है।[1]

नगर विविध आकार-प्रकार के होते थे—कोई वर्गाकार, कोई आयताकार, कोई अष्टकोणाकार, कोई वर्तुलाकार, कोई अंडाकार, कोई कमलाकार, कोई धनुषाकार तो कोई अर्धचंद्राकार होता था। इनमें से प्रत्येक प्रकार के नगर की

१. बी० बी० दत्त—'टाउन प्लानिंग इन एन्शयंट इंडिया,' पृ० २७-८।

अपनी विशिष्ट शास्त्रीय संज्ञा होती थी और प्रत्येक में मार्गों की विशिष्ट योजना तथा सार्वजनिक स्थानों एवं भवनों का विशिष्ट ढंग का विभाजन होता था। नगरों में कलापूर्ण और नियमित वनावटवाले कई चतुष्पथ होते थे। उपयुक्त विभागों में नगरी विभक्त रहती थी; उसमें चौड़े चौक, खुले स्थान और चौराहे होते थे; स्वच्छ और समतल मार्ग वने रहते थे; दूकानों की सुहावनी कतार होती थी; उद्यान, उपवन, तड़ाग और वापी तन-मन-नयन को आह्लादित करते थे; अनेक देवालय शोभायमान थे; संक्षेप में, समस्त नगर की रचना निर्दोष (अविच्छिद्रा) होती थी। पुष्पोद्यान, फलोद्यान एवं वृक्षावलियों की सर्वत्र प्रचुरता थी। मार्गों के दोनों ओर तथा चौराहों पर आम, साल, तमाल आदि वृक्ष पथिक की श्रांति-क्लांति का अपहरण करते थे। पर्याप्त खुले स्थान के अतिरिक्त नगरों में खेत भी होते थे। इन खेतों, प्रशस्त मार्गों एवं वृक्ष-समूहों से नगरों को भी जनपदों की शोभा प्राप्त हो जाया करती थी।

नगर के मध्य में राजकीय प्रासाद निर्मित होते थे। चारों प्रमुख राजमार्ग इसी केंद्र-विंदु से आरंभ होते तथा तोरणों और अट्टालकों से युक्त चारों नगर-द्वारों पर समाप्त होते थे। नगर का विकास सदा भीतर से होता था, समय-समय पर उसके वाहरी विस्तार के लिए पर्याप्त गुंजाइश रहती थी। राजप्रासाद नगर का वीज-स्थानीय था; उसके चारों ओर नागरिकों के भवन वनते रहते थे और इस प्रकार नगर का विस्तार होता था। (वाल्मीकि-कृत अयोध्या के वर्णन से ऐसा ही आभास होता है।) धनी-मानी लोगों तथा अमीर-उमरावों के भवन नगर के मध्य में, राजप्रासाद के चारों ओर, सुनियोजित सड़कों पर वने रहते थे। इन सड़कों और भवनों को वाग-वगीचे पृथक रखते थे। सड़कों का निर्माण, नगर की दैनिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर, व्यावहारिक नियमानुसार किया जाता था—इसमें भवनों के सुव्यवस्थित निर्माण और नगर के भावी विस्तार दोनों का ध्यान रखा जाता था। चहारदीवारी, खाई तथा वृक्षों की करधनी (साल-मेखला), इनसे नगर को ठोस, सुगठित रूप मिल जाता था और उसकी सीमा पर छुटपुट, अनधिकृत वस्तियों का निर्माण नहीं हो पाता था।

परकोटे के वाहर नगर समाप्त होकर जनपद या देहात शुरू होता था। प्राचीन नगरी की यही स्वाभाविक सीमा थी। यहीं भविष्य में उपनगरों का निर्माण होता था। नगर की चहारदीवारी के निकटवर्ती प्रदेश में जंगल, कृषि-

भूमि, ऋषि-मुनियों और दार्शनिकों के लिए एकांत स्थलियां, अथवा हाथी-घोड़ों के प्रशिक्षण के लिए स्थान होते थे। ये वन-वनांतर पशु-पक्षी-वृक्ष-लता-गुल्मों से परिपूर्ण होते तथा राजा और दरबारियों के लिए आखेट-स्थान एवं नगर-निवासियों की विहार-भूमि का काम देते थे। यहीं शहर की बस्तियों से दूर 'आराम' और 'गृहातिगृहक' बने रहते थे। इस प्रकार की नगरी को महापुरी की संज्ञा दी जाती थी।

इन लक्षणों के कारण भारतीय नगरों का अपना असाधारण वैशिष्ट्य स्थापित होता था—वे आगंतुक के विस्मय और प्रशंसा के पात्र बनते थे। नगर-शिल्प के ये लक्षण नागरिक जीवन को भी कलात्मक एवं सुसंस्कृत बनाने में सहायक होते थे।

नगर-निर्माण में प्राचीन राजा विशेष रुचि लेते थे। अयोध्या नगरी इक्ष्वाकु-राजवंश की परंपरागत राजधानी थी। महाराज दशरथ ने अपने शासन-काल में इसे 'पुरवर' बना दिया था, भारत के श्रेष्ठ नगरों में उसका गौरवान्वित स्थान था। लंका नगरी अपने सुंदर निर्माण और अपनी वैभव-समृद्धि के लिए रावण की कलात्मक अभिरुचि की ऋणी थी। युद्ध-काल में राजागण इस बात का ध्यान रखते थे कि उनके सैनिक सर किये जानेवाले नगरों का विध्वंस न करें। लंका की ओर अभियान करते समय राम ने वानर-सैनिकों को मार्ग में आ पड़नेवाले नगरों को बचाकर चलने का आदेश दिया था।[1]

रामायण-काल के तीन प्रसिद्ध नगरों का निम्नलिखित वर्णन यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि तत्कालीन नगरों का निर्माण अस्त-व्यस्त ढंग से न होकर नगर-शिल्प की आदर्श पद्धति पर होता था।

अयोध्यापुरी[2] की स्थापना मानवेंद्र मनु ने की थी और इक्ष्वाकु उसके पहले शासक थे। राम के आविर्भाव से बहुत पहले ही वह श्री-समृद्धि के शिखर पर पहुंच चुकी थी। सरयू के तट पर एक समतल मैदान में स्थित वह दस योजन लंबी और दो योजन चौड़ी एक 'श्रीमती महापुरी' थी। उसकी सावधानी से किलेबंदी

---

१. रामस्य शासनं ज्ञात्वा भीमकोपस्य भीतवत्। वर्जयन्नगराभ्याशांस्तथा जनपदानपि ॥६।३।३९

२. देखिए—बालकांड, सर्ग ५।

की गई थी—उसके चारों ओर एक विशाल परकोटा और जल से भरी अगाध खाई थी, जिसके कारण शत्रु के लिए उसमें प्रवेश पाना अत्यंत कठिन था। परकोटे में कपाट और तोरणयुक्त विशाल द्वार थे। इन द्वारों के विशिष्ट नाम थे। जिस द्वार से भरत ने केकय से लौटकर अयोध्या में प्रवेश किया था, वह वैजयंत द्वार था (**द्वारेण वैजयन्तेन प्राविशत्**, २।७१।३३)। सब प्रकार के आयुधों, शतघ्नियों, वीर और प्रसिद्ध सेनाध्यक्षों, सैनिकों, हाथी-घोड़ों और यंत्रादिक से सज्जित वह नगरी दुर्भेद्य जान पड़ती थी। उसका नाम ही उसकी अजेयता का सूचक था (सत्यनामा)। राम के यौवराज्य-संबंधी विवाद के कारण अयोध्या की स्थिति संकटापन्न हो गई थी—अव्यवस्था के कारण उसके पुर-द्वार खुले पड़े थे, हाथी-घोड़े अनियंत्रित थे, सेना हर्ष-हीन थी तथा प्राकारवती होने पर भी वह अरक्षित थी और शत्रुओं की गृद्ध-दृष्टि को न्योता दे रही थी (२।८८।२४-५)।

नगरी में सुंदर, चौड़े और व्यवस्थित मार्गों का जाल बिछा था (सुविभक्त-महापथा)। उनके दोनों ओर दूकानों और गृहों की पृथक-पृथक कतारें लगी थीं (सुविभक्तान्तरापणा)। सड़कें और गलियां 'रथ्या' कहलाती थीं, और राजप्रासाद को जानेवाले पथ 'राजमार्ग' कहलाते थे। उन्हें प्रतिदिन झाड़ा-बुहारा जाता तथा उन पर जल का छिड़काव किया जाता और पुष्प बिखेरे जाते थे।[1] रात के समय उन्हें प्रकाशित करने के लिए दीप-वृक्षों का प्रबंध था।[2] थोड़ी-थोड़ी दूर पर चत्वर या चौराहे होते थे, जहां लोग इकट्ठा होकर चर्चाएं किया करते थे।[3] नगर में जल-स्थान (प्रपा) और सभा-भवन भी बने थे।

अयोध्या में निवास-स्थानों की भरमार थी (गृहगाढा)। विमानाकार, अनेक खनोंवाले रत्नजटित महल उसकी शोभा बढ़ाते थे; उनके शिखर पर्वत-श्रृंगों के समान जान पड़ते थे। भवनों के अग्रभाग यथाप्रमाण निर्मित थे (सुनि-

---

१. राजमार्गेण महता सुविभक्तेन शोभिता। मुक्तपुष्पावकीर्णेन जलसिक्तेन नित्यशः ॥१।५।८

२. प्रकाशीकरणार्थं च निशागमनशङ्कया। दीपवृक्षांस्तथा चक्रुरनुरथ्यासु सर्वशः॥ २।६।१८

३. कथाश्चक्रुर्मिथो जनाः। रामाभिषेके सम्प्राप्ते चत्वरेषु गृहेषु च ॥२।६।१५

वेशितवेश्मान्ता), जिससे उनकी एक सौष्ठवयुक्त पंक्ति-सी बन जाती थी (हर्म्यमालिनी)।

अयोध्या के मार्गों और भवनों की यह व्यवस्था, उनका यह विशिष्ट नियोजन ऐसा था कि समस्त नगरी की रचना शतरंज की गद्दी की तरह अष्टकोणात्मक प्रतीत होती थी (अष्टापदाकारा)। शिल्प-शास्त्रों की पारिभाषिक शब्दावली में ऐसे नगर-शिल्प को 'दंडक' की संज्ञा दी गई है।[1] इस प्रकार की नगर-रचना आयताकार होती है, जिसमें दो या चार द्वार होते हैं। इस शैली का प्रत्येक विभाग भी आयताकार होता है, सभी दिशाओं में मार्ग चलते हैं तथा सारा नगर परकोटे से घिरा रहता है। श्लीगल का अनुमान है कि 'अष्टापद' शब्द उन विभिन्न रंगों के संगमरमर का सूचक है, जिनसे अयोध्या के भवन अलंकृत रहते थे।[2] किंतु इससे अधिक स्वाभाविक और तर्क-संगत अनुमान यह है कि 'अष्टापदाकारा' कहकर अयोध्या की सौष्ठवपूर्ण रचना सूचित की गई है, जिसमें चारों दिशाओं में चार मार्ग होते थे और इनके दोनों ओर मकानों की नियमित कतार होती थी।

नंदिग्राम, जहां से भरत ने राम की अनुपस्थिति में अयोध्या का शासन-संचालन किया, अयोध्या से एक कोस की दूरी पर स्थित उसीका एक उपनगर था, जिसकी सीमा पर कुसुमित वृक्ष सुशोभित थे।[3]

रावण की राजधानी लंका का किला वाल्मीकिकालीन भारत का अत्यंत सुदृढ़ और दुर्भेद्य दुर्ग था। आक्रमण और प्रत्याक्रमण की दृष्टि से उसकी असाधारण किलेबंदी की गई थी। वह दक्षिणी समुद्र के तट पर त्रिकूट पर्वत के शिखर पर अवस्थित था। इस पर्वत के पार्श्व-भागों को घिस-घिसकर चढ़ने के लिए असंभव बना दिया गया था। किले के चारों ओर घने जंगल थे। इस प्रकार वह जल-दुर्ग, गिरि-दुर्ग और वन-दुर्ग तीनों का अद्भुत संमिश्रण था। साथ ही, उसे

---

१. पी० के० आचार्य—'विलेजेस एंड टाउन्स इन एन्श्यंट इंडिया', बी० सी० लॉ वाल्यूम २, पृ० २७६।

२. रामायण का ग्रिफिथ-कृत पद्यानुवाद, पृ० १३, पाद-टिप्पणी ३।

३. आससाद द्रुमान्फुल्लान्नन्दिग्रामसमीपगान्। क्रोशमात्रे त्वयोध्यायाः...॥ ६।१२५।२८-९

विभिन्न शस्त्रास्त्रों और सुरक्षा के साधनों से सदा सुसज्जित रखा जाता था, इसलिए वह एक कृत्रिम या स्थल-दुर्ग भी था।[1]

लंका-दुर्ग की विशेषताएं युद्धकांड के तीसरे सर्ग में इस प्रकार वर्णित हैं और आज के युग में भी अध्ययन की रोचक सामग्री प्रस्तुत करती हैं—"किले के चारों ओर एक भीमाकार परकोटा था, जो एक चौड़ी और गहरी खाई से घिरा था। खाई जल और मत्स्य-ग्रहों से परिपूर्ण रहती थी। खाई और परकोटे के बीच में कुछ खाली जगह थी, जो युद्ध के समय वानरों से पट गई थी (**कृत्स्नं हि कपिभिर्व्याप्तं प्राकारपरिखान्तरम्**, ६।४१।१७)। किले का परकोटा सुवर्ण-निर्मित था। उस पर चढ़ना बड़ा दुष्कर था। उसका भीतरी भाग हीरे-जवाहरों से अलंकृत था। उसके ऊपर वप्र और अटारियां बनी थीं। परकोटे में चारों दिशाओं में चार विशाल द्वार बने थे। उनमें बड़े मजबूत किवाड़ लगे थे और मोटी-मोटी अर्गलाएं (कुंडियां) थीं। उन पर बड़े विशाल और प्रबल शतघ्नी और उपल-यंत्र रखे थे, जिनसे आक्रामक शत्रु-सेना को रोक दिया जाता था। आवागमन के लिए खाई के ऊपर द्वारों तक पहुंचने के लिए चार संक्रम या पुल बने थे। हमलावरों को खाई में फेंकने के लिए इन संक्रमों पर भीषण यंत्र लगे हुए थे।

"लंका-दुर्ग का पूर्व-द्वार सहस्रों शूल और खड्गधारी योद्धाओं से सुरक्षित रहता था। दक्षिण-द्वार पर चुने हुए सैनिकों की चतुरंगिणी सेना तैनात रहती थी। पश्चिम-द्वार पर अस्त्र-निपुण, ढाल-तलवार से सजे राक्षस तत्पर रहते थे। उत्तर-द्वार की रक्षा के लिए अधिकांश राक्षसी सेना नियत रहती थी। भारत लंका के उत्तर में स्थित था, अतः इस उत्तरी द्वार की सुरक्षा का अधिक ध्यान रखा जाता था। इस द्वार का संक्रम विशेष रूप से सुदृढ़ और दुर्भेद्य बनाया गया था। वह सुनहरे खंभों और वेदियों से सुशोभित था। यहां स्वयं रावण सावधानी से सैन्य-संचालन करता था। दुर्ग के मध्यवर्ती भाग में अगणित राक्षस शूरवीर तैनात थे। सारा किला शस्त्रागारों से युक्त, घोड़ों और हाथियों से संकुल तथा राक्षसगणों से परिपूर्ण था।" उसमें यत्र-तत्र दूर-वीक्षण-स्तंभ बने हुए थे, जो

---

१. लंका पुनर्निरालम्बा देवदुर्गा भयावहा। नादेयं पार्वतं चान्यं (वान्यं) कृत्रिमं च चतुर्विधम्॥६।३।२०

'चैत्य' कहलाते थे। वहां से चैत्यपाल (५।४३।१३) बराबर निगरानी रखते थे कि कहीं से कोई आक्रामक तो नहीं आ रहा है। राजप्रासाद भी दुर्ग के मध्य में ही बना हुआ था तथा उस पर और मुख्य प्रवेश-द्वारों पर भी दूर-वीक्षण-स्तंभ बने हुए थे। सारा किला शंख, भेरी और दुंदुभि-जैसे वाद्य-यंत्रों से निनादित रहता था।

लंका का 'दुर्ग-कर्म-विधान' जितना दुर्भेद्य था, उसका नगर-निर्माण उतना ही मनोहर और प्रभावोत्पादक था।[१] सुप्रसिद्ध शिल्पी विश्वकर्मा के हाथों उसका निर्माण हुआ था। वह नगरी बीस योजन लंबी और दस योजन चौड़ी थी। धूप के समान उज्ज्वल वर्ण के प्राकार से घिरी, त्रिकूट-पर्वत पर स्थित तथा चम-चमाते सोने के ऊंचे प्रासादों से अलंकृत होने के कारण लंका नगरी ऐसी जान पड़ती थी जैसे वह अंतरिक्ष में बनी पुरी हो, जो व्योम-मंडल को भेदती हुई ऊपर तक चली गई हो।

नगरी में सुव्यवस्थित मार्ग, रथ्याएं, उपरथ्याएं और चर्याएं बनी हुई थीं। लंका के केंद्रीय राजमार्ग पर हरी दूब, फल-पुष्पों से लदे सुगंधित तरुवर तथा रमणीय उद्यान सुशोभित थे।[२] उस पर नित्य पुष्प बिखेरे जाते थे और रात्रि में वह दीप-स्तंभों से जगमगाता रहता था। चौक (चतुष्क) और स्थान-स्थान पर वेदिकाएं और सभा-स्थान बने थे (**वेदिकाचैत्यसंश्रयाः, ५।१२।८**)। शरत्का-लीन बादलों के समान उज्ज्वल, धवल, सात-आठ-मंजिले गृहों की पंक्ति बड़ी सुहावनी जान पड़ती थी। उनमें सुनहरी जालियां और स्वर्ण-स्तंभ लगे थे। उनके ऊपर छोटे-छोटे बुर्ज (अट्ट) बने थे। तोरणों से वे सज्जित थे। प्रत्येक दो गृहों के बीच रिक्त स्थान रखा हुआ था (गृहांतर)। नगर का आबाद हिस्सा चौकों (चतुष्क) और चौराहों (शृंगाटक) से व्यवस्थित विभागों में बंटा हुआ था। राक्षसों के भवन सभी ओर बने थे, वे विविध आकार-प्रकार और वर्ण के थे; उनकी सजावट कमल की पंखुड़ियों की तरह की गई थी; वे धन-संपत्ति से भरपूर, निर्दोष तथा स्थापत्य-शास्त्र के विधानानुसार प्रयत्नपूर्वक निर्मित किये

---

१. देखिए—सुंदरकांड के प्रारंभिक सर्ग।

२. शाद्वलानि च नीलानि गन्धवन्ति वनानि च। मधुमन्ति च मध्येन जगाम नगवन्ति च ॥५।२।६

गए थे।[1] धनी-मानी राक्षस सरदारों के महल विस्तृत कक्ष्याओं, शालाओं, चंद्र-शालाओं, क्रीड़ा-गृहों, निशा-गृहों एवं चित्रगृहों से संपन्न थे। नगर में उद्यानों, कदली-गृहों और वृक्षों की बहुलता थी। प्रत्येक घर के साथ निष्कुट या गृहोद्यान लगा था तथा प्रत्येक महल के साथ प्रमदवन। फहराती हुई चित्र-विचित्र झंडियों से सजी वह नगरी सदा उत्सव-मग्न जान पड़ती थी।

वानर-राजधानी किष्किधा भी एक महापुरी थी। प्रस्रवण गिरि के निकट वह एक पर्वतीय प्रदेश में (**गिरि-संकटे**) स्थित थी। हिंस्र पशुओं और नदी-नालों से भरे एक घने जंगल में से होकर ही नगरी तक पहुंचा जा सकता था। रावण के गुप्तचर शुक ने किष्किधा को समस्त पर्वतीय दुर्गों में सबसे अधिक दुर्गम और गहन वृक्षों से आवृत बताया था।[2] नगर से बिलकुल सटा हुआ एक घना वन था, जिसके पेड़ों की ओट लेकर राम ने वाली को बाण मारा था।[3] दुंदुभि ने वाली से मुठभेड़ करने से पहले किष्किधा के निकट उगनेवाले कुछ वृक्षों को तोड़ गिराया था (**समीपजान् द्रुमान् भंजन्**, ४।११।२७)।

किष्किधा की सुरक्षा-योजना भी अन्य नगरों की ही भांति थी। नागरिक सुख-सुविधा और रचना-सौंदर्य उसमें भरपूर था। पुष्पित उद्यानों से सुशोभित, रत्नों से खचित, कोठे और अटारियों से युक्त, सब प्रकार के फल देनेवाले कुसुमित वृक्षों से सज्जित तथा काम-रूपी वानरों से आबाद किष्किधा नगरी को कवि ने 'अतुलप्रभा' कहा है। उसके राजमार्ग चंदन, अगुरु और कमलों की गंध से सुवासित तथा मधु-मैरेय मद्यों की बास से आमोदित थे। उस नगरी के गृह विंध्याचल और मेरु पर्वतों के तुल्य विशाल और अनेक खनवाले थे। राजमार्ग पर प्रमुख वानरों के पक्के घर बने हुए थे—वे श्वेत मेघों की तरह चमकते, गंध और मालाओं से शोभित तथा अन्न, धन और सुंदर स्त्रियों से भरे-पूरे थे। वानर-

---

१. गृहाणि नानावसुराजितानि सर्वैश्च दोषैः परिवर्जितानि ।...प्रयत्नाभिसमाहितानि ॥५।७।३, ४

२. किष्किन्धां यः समध्यास्ते दुर्गां सगहनद्रुमाम्। दुर्गां पर्वतदुर्गास्याम्...॥ ६।२८।३०

३. सर्वे ते त्वरितं गत्वा किष्किन्धां वालिनः पुरीम्। वृक्षैरात्मानमावृत्य ह्यातिष्ठन् गहने वने॥४।१२।१४; ४।१४।१ भी देखिए।

राज का दुर्जेय भवन कैलास-शृंगों के सदृश शिखरों से सज्जित था। उसके द्वार पर हाथों में शस्त्र लिये वलवान वानर रक्षार्थ खड़े थे। वह भवन दिव्य मालाओं से वेष्टित, श्वेत वर्णयुक्त और सुवर्ण के तोरणों से सुशोभित था (४।३३)।

वाल्मीकि-कृत इन प्राचीन नगरों के भव्य एवं अलंकृत वर्णन के समक्ष हमारे अपने युग के नगरों की आभा भी फीकी जान पड़ती है। इससे कुछ आलोचक अनुमान लगाते हैं कि ये वर्णन कवि-कल्पना से ही अधिक प्रसूत हैं और इनमें वास्तविकता का पुट कम है। इस प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिए कि वाल्मीकि का उद्देश्य नगर-निर्माण पर किसी ऐसे शुष्क वैज्ञानिक ग्रंथ की रचना करना नहीं था, जिसमें नगरों के आकार-प्रकार-संवंधी प्राविधिक तथ्य सविस्तर दिये गए हों; वह तो प्राचीन भारत के समृद्धिशाली नगरों का ऐसा विशद एवं संवेदनशील चित्रण करना चाहते थे, जो सहृदयों को भाव-विभोर कर सके। इसका यह तात्पर्य नहीं कि ऐसा वर्णन वास्तविकता से दूर ही होगा। 'समृद्ध कल्पना चाहे कितनी ही अतिशयोक्ति क्यों न करे, वह ऐसी भौतिक वस्तुओं का नामकरण कभी नहीं करेगी, जिन्हें कभी देखा या सुना न गया हो। कोई कवि परी-लोक की किसी रानी को वसाने के लिए किसी काल्पनिक प्रासाद का क्यों न निर्माण कर ले, किंतु उसके विचार तो सदैव पार्थिव एवं वास्तविक होंगे और उसकी अपनी जानी-पहचानी भौतिक वस्तुओं से संवद्ध होंगे।'[1]

सच तो यह है कि रामायण में वर्णित नगर-रचना के तथ्य, प्राविधिक शब्दावली के अभाव में भी, वास्तु-विद्या और शिल्प-शास्त्र के परवर्ती ग्रंथों से परिपुष्ट और अनुमोदित होते हैं। ये ग्रंथ निश्चय ही पूर्ववर्ती ग्रंथों में निर्दिष्ट नगर-नियोजन के सिद्धांतों पर आधारित रहे होंगे। उदाहरणार्थ, 'मानसार' में दिये गए विधानों में रामायण-महाभारत के नगर-वर्णन की छाया पाई जा सकती है।[2] जिस प्रकार यूनान में हाल में की गई खुदाई से 'इलियड' में होमर द्वारा वर्णित प्रासादों की पुष्टि हुई है, उसी प्रकार भविष्य में उत्तर प्रदेश में की जानेवाली खुदाई से रामायण-काल की नगर-रचना पर प्रकाश पड़ सकेगा।[3] हमारे कवि

---

१. राजेंद्रलाल मित्र—'इंडो-आर्यन्स', भाग १, पृ० २३-४।
२. पी० के० आचार्य वी० का सी लॉ वाल्यूम २ में लेख, पृ० २८०।
३. पी० सी० धर्मा—'रामायण पॉलिटी', पृ० ४, पाद-टिप्पणी १।

अतिशयोक्ति के प्रेमी भले ही हों, पर उनके वर्णनों को तब तक अविश्वसनीय नहीं ठहराया जा सकता, जब तक किसी अन्य प्रामाणिक स्रोत से उनका खंडन नहीं हो जाता।

नागरिकों की सभ्यता एवं कलाभिरुचि पर उनके नगर-शिल्प का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। जिस प्रकार नागरिकों की कलाप्रियता नगर की रचना को एक विशिष्ट दिशा प्रदान करती थी, उसी प्रकार नगर के स्थापत्य की भी नागरिक जीवन पर प्रतिक्रिया होती थी। नगर और नागरिक दोनों का अन्योन्याश्रित संबंध था; एक का प्रभाव दूसरे के जीवन और विकास में ओत-प्रोत रहता था।

यदि रामायणकालीन नगर-रचना के उपरिनिर्दिष्ट तथ्यों का सूक्ष्म समालोचन किया जाय तो कुछ ऐसे विशिष्ट निष्कर्ष निकलेंगे; जिनसे प्राचीन नगर-निवासियों की जागरूक नागरिकता की भावना तथा उनके नैतिक और कलात्मक आदर्शों पर यथेष्ट प्रकाश पड़ेगा।

सर्वप्रथम यह निष्कर्ष निकलता है कि सामरिक आवश्यकताओं की प्रधानता होते हुए भी नगर की कलापूर्ण रचना की उपेक्षा नहीं की जाती थी। नगर की सुदृढ़ किलेबंदी तथा निवास-भूमि का सौष्ठवपूर्ण निर्माण—दोनों साथ-साथ चलते थे। सुदृढ़ता में सुंदरता और मनोहरता में स्थिरता का संचार करना प्राचीन नगर-निर्माताओं का लक्ष्य होता था। किसी आदर्श आर्य-नगर के दो विशिष्ट लक्षण 'रमणीयत्व' और 'सुगुप्तत्व' होते थे—सुंदरता और सुरक्षा का उसमें मनोहर सामंजस्य रहता था। नगर-निर्माण के मूल में निहित इसी कलात्मक भावना का आग्रह करने के लिए वाल्मीकि ने नगरों की अनेक बार अलंकृत रमणियों से सार्थक तुलना की है।[1]

घर कभी अलग-थलग नहीं बनाये जाते थे।[2] इससे भी आर्य-संस्कृति की एक मौलिक विशेषता की सूचना मिलती है। प्राचीन भारतीय सदा संगठित ढंग से रहते और भ्रमण करते थे तथा उनके निवास-स्थान आसपास बने होते थे। एक सर्वतोमुखी सामाजिक जीवन के लिए यह प्रथा कल्याणकारी सिद्ध होती थी।

---

१. तां रत्नवसनोपेतां गोष्ठागारावतंसिकाम्। यन्त्रागारस्तनीमृद्धां प्रमदामिव भूषिताम्॥५।३।१८; ५।२।२१; ५।६।२१-२ भी देखिए।

२. तुलना कीजिए—गृहगाढाम्।१।५।१७, गृहसम्बाधा।५।५३।२०

प्रमुख मार्ग वृक्षावलियों से सुशोभित रहते थे, जिनका जलवायु और कला की दृष्टि से वड़ा महत्व था। उद्यान, उपवन, तड़ाग और विविध प्रकार के वृक्ष नागरिकों को नगर के कोलाहलमय वातावरण से मुक्त कर प्रकृति के सान्निध्य में रहने का अवसर प्रदान करते थे। कला की दृष्टि से चौराहों पर वृक्षों का होना अत्यंत वांछनीय है। लंवी-सीधी सड़कों पर चलते-चलते आंखें पथरा जाती हैं और उन्हें कहीं ऐसा स्थल नहीं मिलता, जहां वे टिककर विश्राम ले सकें। इसके विपरीत, यदि सड़क के अंत में चौराहे पर कोई सुंदर विशाल वृक्ष हो तो उसे देखकर आंखों पर कैसा शीतल प्रभाव पड़ता है![1]

समान ऊंचाई के भवन तथा सड़क के दोनों ओर उनका सौष्ठवपूर्ण विन्यास और पंक्तिवद्ध निर्माण, ये जहां एक सुसभ्य समाज के कलाप्रिय दृष्टिकोण के सूचक थे, वहां सभी निवासियों को समान सुविधाएं भी प्रदान करते थे। इसी प्रकार सड़कों पर जल का छिड़काव तथा दीप-स्तंभों से उनका प्रकाशित किया जाना, एक ऐसी नागरिक भावना का द्योतक है, जिसका आज भी कई वस्तियों में अभाव है। 'सुविभक्त' पथों का उल्लेख निर्माताओं की अनुपात-विषयक दक्षता या सजगता प्रमाणित करता है।

इस सुनियोजित नगर-संनिवेश के परिणामस्वरूप प्राचीन भारतीयों में एक जागरूक एवं श्रेष्ठ नागरिक-भावना संचारित रहती थी। अपने घर-वार की भांति वे अपनी नगरी के प्रति भी प्रगाढ़ रूप से अनुरक्त थे और मिल-जुलकर उत्सव-समारोहों पर अलंकरण द्वारा उसकी शोभा-वृद्धि करने में सदैव तत्पर रहते थे। आर्यों का अपने नगर को देवत्व की कोटि में रखना ही उनकी नागरिक कर्तव्य-भावना की प्रगाढ़ता का सूचक है। समस्त भारतीय साहित्य में आधुनिक मानस के लिए कोई भी दृश्य इतना प्रभावोत्पादक नहीं जितना कि वह, जिसमें हनुमान मध्य रात्रि के समय लंका के द्वार पर पहरा देनेवाली उस नारी से मुठभेड़ करते हैं, जो यह कहती है कि हे वानर, मैं ही मूर्तिमती लंका नगरी हूं[2]— **अहं हि नगरी रम्या स्वयमेव प्लवङ्गम** (५।३।३०)। रावण सीता के प्रति अपनी राजधानी की समृद्धि के वर्णन में वड़े गौरव का अनुभव करता था और वहां की अपार सुख-

---

१. वी० वी० दत्त—'टाउन प्लानिंग इन एन्श्यंट इंडिया', पृ० १३६।
२. सिस्टर निवेदिता—'सिविक एंड नेशनल आइडियल्स', पृ० ७।

सुविधाओं का उपभोग करने के लिए उन्हें वारंवार प्रलोभित करता था; पर सीता ने उसे चेतावनी दी कि दूसरे की विवाहिता पत्नी को चुराने के अभियोग में तुम्हारी यह लंका शीघ्र ही एक विधवा स्त्री की भांति श्री-हीन हो जायगी।[1]

इस प्रकार प्राचीन आर्यों की दृष्टि में नगर मूक मार्गों और निर्जीव भवनों का एक समूह-मात्र नहीं था, वह तो मानव का एक सच्चा साथी था, जो पारस्परिक स्नेह-बंधन में उससे ग्रथित था। अपनी अयोध्या नगरी के प्रति राम का अगाध प्रेम स्थान-स्थान पर मुखरित हुआ है। वन-प्रयाण करते हुए उन्होंने अयोध्या को प्रणाम करके कहा था—"हे ककुत्स्थ-वंशी राजाओं से पालित अयोध्यापुरी, तुम पुरियों में श्रेष्ठ हो। मैं तुमसे और जो-जो देवता तुम्हारी रक्षा करते और तुम्हारे भीतर निवास करते हैं, उन सबसे वन जाने की अनुमति चाहता हूं। वनवास से लौटकर मैं फिर तुम्हारे दर्शन करूंगा" (२।५०।२-३)। चित्रकूट पर भी राम ने अपने पूर्वजों की राजधानी अयोध्या की समृद्धि और सुरक्षा के विषय में भरत से व्यग्रतापूर्वक पूछताछ की थी।[2] पुष्पक-विमान में लंका से लौटते समय राम ने दूर से दिखाई पड़नेवाली अयोध्यापुरी की ओर सीता का ध्यान आकर्षित करते हुए कहा था—

एषा सा दृश्यते सीते राजधानी पितुर्मम।
अयोध्यां कुरु वैदेहि प्रणामं पुनरागता॥६।१२३।५२

'देखो, वह मेरे पिता की राजधानी अयोध्यापुरी दिखाई दे रही है। वैदेही, अब वनवास से लौटने पर तुम उसे प्रणाम करो।'

वाल्मीकि ने अपनी प्रिय नगरी के गौरव-गान में पर्याप्त शब्द-संपत्ति उंडेली है। जैसाकि भगिनी निवेदिता ने लिखा है—"रामायण और महाभारत में जहां महाभारत का स्वर मुख्यतया राष्ट्रीय और वीरोचित है, वहां रामायण का वैयक्तिक और नागरिक है। यह अधिक संभव जान पड़ता है कि अपनी प्रिय नगरी अयोध्या के यशोगान की इच्छा ने ही वाल्मीकि को अपने महाकाव्य की

---

१. नूनं लंका हते पापे रावणे राक्षसाधिपे। शोषमेष्यति दुर्घर्षा प्रमदा विधवा यथा॥५।२६।२२-६; ३।३८।२५ भी देखिए।

२. वीरैरध्युषितां पूर्वमस्माकं तात पूर्वकैः। कच्चित्समुदितां स्फीतामयोध्यां परिरक्षसे॥२।१००।४२

रचना करने को प्रेरित किया और एतदर्थ उन्होंने अयोध्या के सर्वाधिक गौरव-शाली राजा का महतोमहीयान चरित्र लिपिवद्ध किया। अयोध्या और उसके मार्ग, चौराहे, भवन, प्रासाद, तोरण, अटारियां, गोपुर, नर-नारी, सव कुछ कवि की हृत्तंत्री के तारों को झंकृत कर देते हैं। उत्सवों पर उसकी शोभा का वर्णन करने में वह अघाता नहीं, और जव वह लंका का वर्णन करने लगता है, तव हमें उसकी उस नागरिक-भावना का सुंदरतम परिपाक देखने को मिलता है, जो अयोध्या ने उसके अंदर जागृत की है।"[1]

समस्त राज्य 'पुर' और 'राष्ट्र' (जनपद), इन दो भागों में विभाजित था। ग्रामों की गणना जनपद विभाग में की जाती थी। देहातों के निवासी 'जानपदाः' कहलाते थे। जनपदों को समृद्धि के आगार चित्रित किया गया है। फिर भी, जैसाकि पहले कहा जा चुका है, रामायणकालीन संस्कृति प्रधानतः नागरिक थी और इस कारण उसमें ग्रामीण सभ्यता का अंकन करने के वहुत कम अवसर आये हैं।

ग्राम, महाग्राम और घोष—इन तीन प्रकार के गांवों का रामायण में उल्लेख हुआ है। निकट के छोटे नगर, जो आसपास के देहातों के लिए व्यापार की मंडियों का काम देते थे, 'पट्टन' कहलाते थे। देहातों में रहने के स्थान 'ग्राम-संवास' के नाम से पहचाने जाते थे। राजधानी, प्रादेशिक नगर और ग्राम रथों के चलने-योग्य मार्गों से परस्पर जुड़े थे। उनके वीच वरावर आवागमन तथा पारस्परिक व्यवसाय एवं सहयोग वना रहता था। राजधानी में ग्रामवासियों (जानपदों) की उपस्थिति के अनेक उल्लेख मिलते हैं। अयोध्या की राज्य-सभा में जनपदों के प्रतिनिधि मौजूद थे।[2] राम के प्रस्तावित यौवराज्याभिषेक पर भी राजधानी में देहातियों की वड़ी संख्या आई थी।[3]

---

१. भगिनी निवेदिता—'सिविक एंड नेशनल आइडियल्स', पृ० ६-७।

२. नानानगरवास्तव्यान् पृथग्जानपदानपि। समानिनाय मेदिन्यां प्रधानान्पृथिवी-पतिः॥

३. उदतिष्ठत रामस्य समग्रमभिषेचनम्। पौरजानपदाश्चापि नैगमश्च कृता-ञ्जलिः॥२।१४।५२

: ११ :

आश्रम

रामायण में नगरों की संस्कृति के बाद आश्रमों की संस्कृति का महत्वपूर्ण स्थान है। ये आश्रम अरण्यों के अंचल में स्थित होते थे, जहां का शांत एवं एकांत वातावरण तथा जहां की प्राकृतिक सुषमा उन शांतिप्रिय लोगों को आकर्षित करती थी, जो जन-संकुल बस्तियों के कोलाहल से दूर रहना चाहते थे। राम के लिए चित्रकूट-पर्वत का दर्शन और मंदाकिनी का सान्निध्य अयोध्या में निवास करने से भी कहीं अधिक सुखकर था—

दर्शनं चित्रकूटस्य मन्दाकिन्याश्च शोभने।
अधिकं पुरवासाच्च मन्ये तव च दर्शनात्॥ २।९५।१२

आश्रमों का निर्माण सुविधाजनक, रम्य वनस्थलियों में किया जाता था, जहां जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएं सुलभ होती थीं। राम ने पंचवटी पहुंचने पर लक्ष्मण से आश्रम बनाने के लिए ऐसी जगह देखने को कहा था, जहां वन और जल दोनों का रमणीय दृश्य हो तथा जहां समिधा, फूल, कुश और जल, सब पास ही मिल जायं (३।१५।४-५)। यह भी अत्यंत वांछनीय था कि आश्रम-स्थान 'विविक्त' या एकांत प्रदेश में हो—नगर से दूर, लोगों के आवागमन-मार्गों से हटकर। राम ने महर्षि भरद्वाज के आश्रम में अपनी वनवास की अवधि बिताने का प्रस्ताव इसलिए अस्वीकार कर दिया था कि 'मेरे नगर और प्रांत के निवासी यहां से समीप पड़ते हैं, अतः इस आश्रम में मुझसे और सीता से मिलने के लिए लोग प्रायः आते-जाते रहेंगे' (२।५४।२४-५)। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सर्वथा निर्जन प्रदेशों में ही आश्रम स्थापित किये जाते थे। पुण्यवान तपस्वियों का सत्संग तो सर्वथा इष्ट था। अपनी वनवास-यात्रा में राम ने जिस स्थान

पर सर्वप्रथम कुछ दिनों तक निवास किया था, वह महात्मा मुनियों द्वारा सेवित सुप्रसिद्ध चित्रकूट पर्वत था। वह वृक्ष-लताओं तथा फल-मूलों-जैसे आजीविका के साधनों से युक्त तथा दावानलों के भय से मुक्त था (२।५५।१०, १४-५)। स्थान की स्वच्छता का विशेष आग्रह रखा जाता था। राम ने चित्रकूट में रहना इसलिए छोड़ दिया कि भरत की सेना के टिकने के बाद वहां की भूमि घोड़ों और हाथियों की लीद से अशुद्ध हो गई थी।[१] किसी नदी या जलाशय का वृक्षों से सुशोभित रमणीय तट आश्रमों के लिए उपयुक्त होता था।

आश्रम-निर्माण में वृक्ष की शाखा, बांस, बेंत, रस्सी, घास-फूस आदि का उपयोग किया जाता था। एक आश्रम में प्राय: दो हिस्से होते थे, बाहरी भाग 'पर्णकुटी' और भीतरी 'उटज' कहलाता था। पंचवटी में लक्ष्मण ने राम की पर्णशाला अपने हाथों बनाई थी। उसके वर्णन से तत्कालीन आश्रम-निर्माण-पद्धति का परिचय मिल जाता है। "वह पर्णशाला बहुत विस्तृत थी। लक्ष्मण ने पहले मिट्टी इकट्ठी करके दीवार खड़ी की। फिर उसमें सुंदर एवं सुदृढ़ खंभे लगाये। खंभों के ऊपर बड़े-बड़े बांस तिरछे करके रखे। बांसों के ऊपर शमी-वृक्ष की शाखाएं फैला दीं और उन्हें मजबूत रस्सियों से कसकर बांध दिया। इसके बाद ऊपर से कुश-काश, सरकंडे और पत्ते बिछाकर उसे भली भांति छा दिया और नीचे की भूमि को बराबर करके महाबली लक्ष्मण ने बड़ी रमणीय कुटी बना दी" (३।१५।२०-३)।

कई कुटियोंवाली तपस्वियों की बस्ती को 'आश्रम-मंडल' या 'तपोवन' कहते थे और बस्ती के पृथक-पृथक निवास 'तापसालय' कहलाते थे। आश्रम-मंडल का सर्वाधिक पवित्र स्थल 'अग्नि-शरण' या 'अग्नि-शाला' था। अग्निहोत्र और यज्ञ करने के लिए यह एक विस्तृत भवन था, जिसमें एक उत्तर-पूर्वाभिमुख वेदी बनी रहती थी। अतिथियों के लिए पृथक अतिथि-शाला होती थी। देव-पूजा, चैत्य तथा बलि-कर्म के लिए नियत स्थान रहते थे। आश्रमों के चौक साफ-सुथरे रखे जाते थे (**सुसंमृष्टाजिरम्**, ३।१।३)।

इस प्रकार के आश्रम-मंडल का अधिपति एक वयोवृद्ध मुनि होता था, जिसे

---

१. **स्कन्धावारनिवेशेन...हयहस्तिकरीषैश्च उपमर्दः कृतो भृशम्। तस्मादन्यत्र गच्छामः ॥२।११७।३-४**

'कुलपति' कहते थे। वाल्मीकि, अगस्त्य, भरद्वाज आदि उस युग के विख्यात कुलपति थे। उनके आध्यात्मिक नेतृत्व में ऐसे अनेक तपस्विगण आकर निवास करते थे, जो लौकिक प्रलोभनों से मुक्त होने के लिए समाज को छोड़ चुके थे और धार्मिक क्रिया-कलापों में ही जीवन-यापन करते थे।

जिन वनों में ये आश्रम अवस्थित थे, वे निश्चय ही हिंस्र पशुओं से भरे होते थे, पर, कहा जाता है, ये उन्हीं तपस्वियों को अपना आहार बनाते थे, जो अपवित्र या असावधान रहते थे।[1] ये वन-वनांतर 'दुर्ग' अर्थात दुर्गम होते थे। इनमें से फल-मूल लाने के लिए ऋषि-मुनियों ने आने-जाने के मार्ग बना लिये थे।[2] इन्हीं-के द्वारा उनका घने जंगलों में से बाहरी जगत से संपर्क संभव था। तापसगण असमय में रास्तों की पहचान के लिए ऊंचे पेड़ों पर कुश-चीर बांध दिया करते थे।[3] चित्रकूट के निकट भरत को लक्ष्मण द्वारा बांधे गए ऐसे चीर दिखाई दिये थे।[4]

रामायणकालीन भारत में उत्तर में सरयू के तट से लेकर दक्षिण में गोदावरी के तट तक आश्रमों की एक लंबी शृंखला चली गई थी। दंडकारण्य में, नर्मदा और गंगा के किनारे तथा चित्रकूट पर अनेकानेक आश्रम केंद्रित थे। अगस्त्य, वसिष्ठ, अत्रि, शरभंग, वाल्मीकि, भरद्वाज, गौतम, सुतीक्ष्ण और शबरी के आश्रम तथा विष्णु का सिद्धाश्रम और शिव का कामाश्रम उस युग के विख्यात तपोवन थे (चित्र ३१)।

राम ने अपने वनवास के तेरह वर्ष दंडकारण्य के आश्रम-मंडल में व्यतीत किये थे। इस आश्रम-समुदाय में 'बड़ी यज्ञ-शालाएं, स्रुव, मृग-चर्म, कुशा, समिधा, जल के कलश और फल-मूल शोभित थे। कुश और चीर फैले हुए थे। ब्रह्म-विद्या

---

१. (व्यालाः) उच्छिष्टं वा प्रमत्तं वा तापसं ब्रह्मचारिणम्। अदन्त्यस्मिन् महारण्ये...॥२।११९।२०
२. एष पन्था महर्षीणां फलान्याहरतां वने। अनेन तु वनं दुर्गं गन्तुं राघव ते क्षमम्॥२।११९।२१
३. कृतं वृक्षेष्वभिज्ञानं कुशचीरैः क्वचित्क्वचित्।२।९९।६
४. उच्चैर्बद्धानि चीराणि लक्ष्मणेन भवेदयम्।अभिज्ञानकृतः पन्था विकाले गन्तुमिच्छता॥२।९९।१०

का तेज व्याप्त हो रहा था। आंगन साफ पड़े थे। चारों ओर अनेक प्रकार के पशु-पक्षी विचरण कर रहे थे। स्वादिष्ट फलवाले बड़े-बड़े जंगली पेड़ लगे थे। इधर-उधर तरह-तरह के फूल बिखरे थे। फल-मूलाहारी, चीर-वल्कल-धारी,
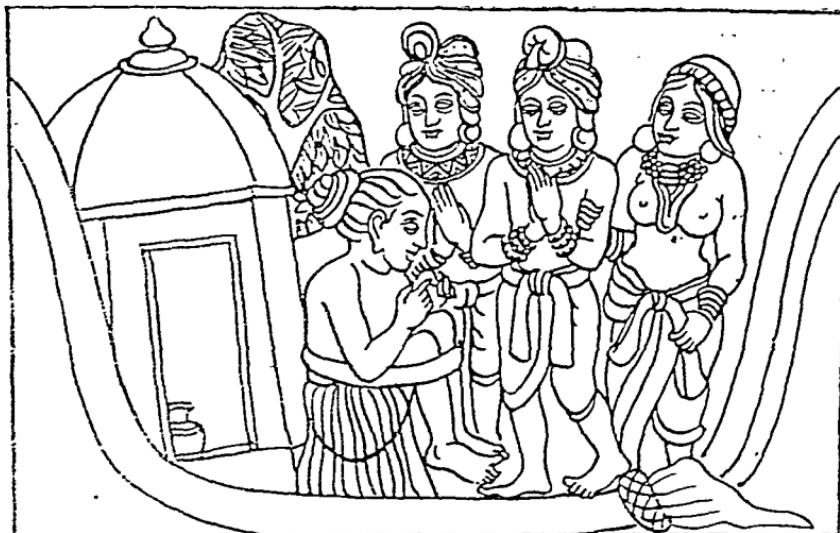
चित्र ३१—भरहुत (दूसरी शताब्दी ई० पू०) में अंकित एक आश्रम-दृश्य, जिसमें, कनिंघम के अनुसार, लक्ष्मण, राम और सीता प्रयाग में भरद्वाज अथवा चित्रकूट में अत्रि ऋषि के संमुख खड़े हैं ('एन्श्यंट इंडियन एज्यूकेशन', फलक १५/६ की अनुकृति)

कृष्णाजिन-वेष्टित, सूर्य-चंद्र के समान दीप्तिमान, शान्त और दान्त मुनिगण वहां रहते थे। नियत आहार करनेवाले पवित्र परमर्षियों से शोभित और सदा वेदाध्ययन के घोष से प्रतिध्वनित होने के कारण वह आश्रम-मंडल ब्रह्मलोक के समान जान पड़ता था' (३।१।१-९)।

महर्षि अगस्त्य का आश्रम निशाचरों के अत्याचारों से बचने के लिए तपस्वियों का एक महान संबल था। अगस्त्य के आध्यात्मिक तेज के प्रभाव से वहां क्रूरकर्मा राक्षसों का जोर नहीं चलता था। दूर से ही उनके आश्रम की वेदी से निकलनेवाला धुआं दिखाई देने लगता था। जहां-तहां इकट्ठे किये हुए काष्ठ के समूह और कटे हुए कुश दीख पड़ते थे (३।११।५०-२)।

ऋषि भरद्वाज का प्रयाग-स्थित आश्रम उस युग के सबसे बड़े आश्रमों

में से एक था। वहां भरत, उनके अंतःपुर और उनकी विशाल वाहिनी सहित सबके ठहरने का सुचारु प्रबंध था। आश्रम में सफेद चौबारे, हाथी-घोड़ों के रहने की शालाएं तथा हर्म्य और तोरणयुक्त प्रासाद बने थे। राजकीय अतिथियों के लिए एक राजवेश्म भी निर्मित था, जो दिव्य रस, भोजन, वस्त्र, शय्या, आसन और सवारियों से सुसज्जित था (२।९१।३२-५)। आश्रम में अतिथियों का संगीतज्ञों और नर्तकियों द्वारा मनोरंजन कराया गया था। यह समस्त वैभवपूर्ण आतिथ्य प्रमाणित करता है कि महर्षि भरद्वाज आश्रमवर्ती क्षेत्र से आवश्यकतानुसार कितने विविध प्रकार के सुख-साधन जुटा सकते थे।

आश्रमों को **ब्राह्मया लक्ष्म्या समावृतम्**, आध्यात्मिक तेज से ओत-प्रोत बताया गया है (३।११।२१)। वहां उपयुक्त शिष्टाचार तथा भद्र व्यवहार की अपेक्षा की जाती थी, उच्छृंखलता का आचरण सर्वथा त्याज्य था।[1] अत्रि के आश्रम में प्रवेश करने से पहले राम ने अपने धनुष की प्रत्यंचा उतार ली थी (**विज्यं कृत्वा महद्धनुः**, ३।१।१०)। भरत ने अपनी सारी सेना को भरद्वाज के आश्रम से एक कोस इधर ही ठहराया था तथा अपने भी अस्त्र-शस्त्र और राजोचित वस्त्र वहीं उतार दिये थे (२।९०।१-२)। आश्रमों के पावन वातावरण में मनुष्य असत्य आदि तन-मन के पापाचरण से दूर रहने को स्वतः ही प्रेरित होता था।[2] महात्मा अगस्त्य के प्रभाव से उनके आश्रम में कोई झूठ बोलनेवाला, क्रूर, शठ, नृशंस अथवा पापाचारी मनुष्य जीवित नहीं रह सकता था।[3] क्या आश्चर्य यदि ऐसे तपोवन प्राचीन भारत में शिक्षा और संस्कृति के उर्वर स्रोत बन जायं!

वनवासी तपस्वियों का जीवन अधिकतर कर्मकांड के संपादन तथा तीक्ष्ण व्रतों के पालन में व्यतीत होता था। वे दिन में तीन बार स्नान करते थे।[4] उषःकाल में उठकर वे स्नानादि से निवृत्त हो मंत्र-जप में तल्लीन हो जाते थे (**स्नाताश्च कृतजप्याश्च**, १।२३।१७)। ऋषियों के समूह का नदियों में स्नान करना,

---

१. विशेषेणाश्रमस्थाने हासोऽयं न प्रशस्यते।३।६२।६
२. अनृतं न हि रामस्य कदाचिदपि संमतम्। विशेषेणाश्रमस्थस्य...।।३।१७।१४
३. नात्र जीवेन्मृषावादी क्रूरो वा यदि वा शठः। नृशंसः पापवृत्तो वा मुनिरेष तथाविधः।।३।११।९०
४. कार्यस्त्रिरभिषेकश्च काले काले च नित्यशः।२।२८।१५

जलपूर्ण कलशों से सूर्य को अर्घ्य प्रदान करना और उन्हें भरकर, जलसिक्त वल्कल पहने, अपनी कुटिया की ओर लौटना आश्रमों का एक सामान्य दृश्य था—

एते चाप्यभिषेकार्द्रा मुनयः कलशोद्यताः।
सहिता उपवर्तन्ते सलिलाप्लुतवल्कलाः॥२।११९।५

देवगणों और पितृगणों का पूजन, अतिथि-सत्कार तथा यज्ञ-वेदी पर पुष्पों का उपहार चढ़ाना तपस्वियों के नित्य-कर्म थे। अगस्त्य के आश्रम में राम ने देखा कि एकांत में बने तीर्थों पर स्नान करके तापसगण अपने हाथों चुने हुए पुष्पों से पूजन-अर्चन कर रहे हैं।[1] ऋषि लोग अग्निहोत्र एवं शास्त्र-विहित अन्य यज्ञों का अनुष्ठान भी करते थे। उपहार दो तरह के होते थे, एक तो आकाश-चारी भूत-प्राणियों के लिए वलि और दूसरा, देवताओं के लिए अग्नि में घृत की मंत्रयुक्त आहुति (३।१।६)। हवन-कुंड से उठनेवाला यज्ञाग्नि का धुआं किसी आश्रम के अस्तित्व का असंदिग्ध सूचक था।[2]

उच्च स्वर से वेदों का घोष करना भी आश्रमवासियों का दैनिक कर्म था। आश्रम 'ब्रह्मघोषनिनादितम्', वैदिक घोषों से गुंजायमान रहते थे। अग्निहोत्र और स्वाध्याय के वाद ऋषि-मुनि अपने शिष्यों से घिरे सुखपूर्वक वैठ जाते और धर्म-दर्शन पर कथा-वार्ता किया करते थे (**प्रपन्ना रजनी पुण्या चित्राः कथयतः कथाः**, २।५४।३४)। पर्व के अवसर पर वे समाधि में लीन रहा करते थे।[3]

तपस्वियों को खान-पान में संयम रखना पड़ता था, जैसाकि राम ने सीता को वताया था (**यथालब्धेन सन्तोषः कर्तव्यस्तेन मैथिलि**, २।२८।१७)। वन में जो कुछ उपलब्ध हो जाता, उसीसे उन्हें संतुष्ट रहना पड़ता था। मांसाहार उनके लिए सर्वथा वर्जित था (**हित्वा मुनिवदामिषम्**, २०।२०।२९)। उन्हें यथाशक्ति व्रत-उपवास करना पड़ता था।[4] जिन जंगली फल-फूलों से वे अपनी उदर-पूर्ति करते थे, उन्हें 'वन्यमाहारम्' की संज्ञा दी जाती थी। फल तोड़े नहीं

---

१. **विविक्तेषु च तीर्थेषु कृतस्नाना द्विजातयः। पुण्योपहारं कुर्वन्ति कुसुमैः स्वयमर्जितैः॥३।११।५२**

२. २।९९।१२; २।११९।६; ३।११।५१

३. **पर्वकाले समाहितः।३।३८।४**

४. **उपवासश्च कर्तव्यो यथाप्राणेन मैथिलि।२।२८।१३**

जाते थे, बल्कि अपने-आप गिर पड़ने पर ही खाये जाते थे (फलैर्वृक्षावपतितैः)। दिन में दो बार से अधिक भोजन नहीं किया जाता था। खेतों में पड़े अन्न के दानों का भी वे सेवन कर सकते थे, जिसे 'उञ्छवृत्ति' कहते थे (२।२४।२)।

अपने संयमित जीवन के अनुरूप तपस्वियों का वेश भी विरल और वन्य सामग्री से निर्मित होता था। कुश-चीर, कृष्ण मृग-चर्म तथा पेड़ों की छाल उनके वसन थे (**वल्कलाम्बरधारणम्**)। वल्कल उत्तरीय का काम देता था (वल्कलोत्तर-**वासस्**) और मृग-चर्म अधोवस्त्र का। वस्त्रों का रंग गेरुआ होता था (काषाय-**परिधान**)। सिर पर जटाएं धारण की जाती थीं।

तपस्वियों के दैनिक व्यवहार की सामग्री में ये उल्लेखनीय हैं—वृसी (उदुंवर काष्ठ का बना आसन; दर्भ का बना आसन 'विष्ट' कहलाता था—२।२०।२८), चीर (घास का बुना कपड़ा), जटाबंधन (जटाएं बांधने की डोरी), कलश, कृष्णाजिन (काला मृग-चर्म), कमंडलु, कौपीन (लंगोट), कुठार (कुल्हाड़ी), काषाय वस्त्र, काष्ठ-रज्जु (लकड़ियां बांधने की रस्सी), काष्ठ-भार, मौंजी (मूंज), वल्कल (पेड़ की छाल), यज्ञ-सूत्र (पवित्र धागा) और यज्ञ-भांड (यज्ञ में प्रयुक्त होनेवाले बर्तन)। कुश-लव के रामायण-गान से प्रसन्न होकर मुनियों ने उन्हें इन्हीं वस्तुओं के उपहार दिये थे (१।४।२०-२५)।

तपस्या का आचरण तपस्वियों का सबसे प्रमुख व्यापार था, वही उन्हें अरण्यों की एकांत शांति की ओर आकृष्ट करता था (**तपो हि परमं श्रेयः सम्मोहमितरन् सुखम्**, ७।८४।९)। तपस्या के अंतर्गत आत्म-संयम, आत्म-त्याग और कष्ट-सहन के विविध प्रकार के व्रत आते थे, जिनका लक्ष्य हृदय की वासनाओं को दूर करना था। तपस्या की अवधि में तपस्वियों को धर्म-पालन, वेदों का स्वाध्याय, नियताहार, इंद्रिय-संयम, सदाचार, सत्य और समाधि का अभ्यास करना पड़ता था। तपस्या में सफलता बहुत-कुछ स्थान-विशेष की पवित्रता पर निर्भर मानी जाती थी। चित्रकूट एक ऐसा ही स्थल था, क्योंकि वहां अनेक ऋषि-मुनि तपस्या द्वारा सिद्धि प्राप्त कर चुके थे।[1] उस पर्वतराज के शिखरों के दर्शन-

---

१. ऋषयस्तत्र बहवो विहृत्य शरदां शतम्। तपसा दिवमारूढाः . . .॥ २।५४।३१

मात्र से मनुष्य का कल्याण होता था और उसकी बुद्धि अज्ञान से आवृत नहीं होती थी।[1]

जब राम जनस्थान में आये, तब नाना प्रकार की तपस्या करनेवाले तपस्विगण उनके दर्शनार्थ गए थे (३।६।२-६)। इनमें सभी श्रेणी के महात्मा थे, जैसे संप्रक्षाल (भोजन के पश्चात अपने बर्तन धो-पोंछकर रख देनेवाले, दूसरे वक्त के लिए कुछ न बचानेवाले), मरीचिप (सूर्य अथवा चंद्रमा की किरणों का पान करके रहनेवाले), अश्मकुट्ट (कच्चे अन्न को पत्थर से कूटकर खानेवाले), पत्राहार (पत्तों का आहार करनेवाले), दंतोलूखली (दांतों से ही ऊखल का काम लेनेवाले), उन्मज्जक (कंठ तक पानी में डूबकर तपस्या करनेवाले), गात्रशय्य (शरीर से ही शय्या का काम लेनेवाले अर्थात बिना बिछौने के भुजाओं पर सिर रखकर सोनेवाले), अशय्य (शय्या के साधनों से रहित), अनवकाशिक (निरंतर सत्कर्म में लगे रहने के कारण कभी अवकाश न पानेवाले), सलिलाहार (जल पीकर रहनेवाले), वायुभक्षी (हवा पीकर जीवन-निर्वाह करनेवाले), आकाशनिलय (खुले मैदान में रहनेवाले), स्थंडिलशायी (वेदी पर सोनेवाले), ऊर्ध्ववासी (पर्वत-शिखर आदि ऊंचे स्थानों में निवास करनेवाले), दान्त (मन और इंद्रियों को वश में रखनेवाले), आर्द्रपटवासा (सदा भीगे कपड़े पहननेवाले), सजप (निरंतर जप करनेवाले), तपोनिष्ठ (तपस्या अथवा परमात्म-तत्व के विचार में स्थित रहनेवाले) और पंचाग्निसेवी (गर्मी के मौसम में ऊपर से सूर्य का और चारों ओर से अग्नि का ताप सहन करनेवाले)। ये सभी ब्रह्म-तेज से संपन्न थे और सुदृढ़ योग के अभ्यास से इनका चित्त एकाग्र हो चुका था—**सर्वे ब्राह्मया श्रिया युक्ता दृढयोगसमाहिताः** (३।६।६)।

रामायण में 'श्रमण' नामक तपस्वियों के एक वर्ग-विशेष का अनेक बार उल्लेख हुआ है। दशरथ के पुत्रेष्टि-यज्ञ में ब्राह्मणों के साथ-साथ श्रमणों को भी सुस्वादु भोजन से परितृप्त किया गया था।[2] अरण्यकांड में कबंध ने राम को शबरी नाम की एक श्रमणी का परिचय दिया था (**श्रमणी शबरी नाम**, ३।७३।२६)। वाली

---

१. **यावता चित्रकूटस्य नरः शृङ्गाण्यवेक्षते। कल्याणानि समाधत्ते न मोहे कुरुते मनः॥२।५४।३०**

२. **ब्राह्मणा भुंजते नित्यं...श्रमणाश्चैव भुंजते॥१।१४।१२**

से विवाद करते समय राम ने एक पापाचारी श्रमण का उल्लेख किया था, जिसे उनके पूर्वज मांधाता ने दंड दिया था।[1]

टीकाकारों ने 'श्रमण' शब्द का अर्थ बौद्ध भिक्षु या क्षपणक किया है।[2] किंतु श्रमण का यही एक अर्थ नहीं है। ब्राह्मण-ग्रंथों में 'श्रमण' शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उससे बौद्ध भिक्षु का संकेत नहीं मिलता। बौद्ध धर्म के आविर्भाव से पूर्व ही श्रमण-वर्ग का भारत में अस्तित्व था। 'श्रमण' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 'बृहदारण्यकोपनिषद' (४।३।२२) में हुआ है। इसके अतिरिक्त, वाल्मीकि ने नास्तिक चार्वाकों की कड़ी भर्त्सना की है, और यदि श्रमण भी वेद-निंदक बौद्ध होते तो यह संभव नहीं जान पड़ता कि वाल्मीकि ने उन्हें यज्ञ के अवसर पर संमानित किया हो या स्वर्ग का अधिकारी माना हो। शबरी ने अपने-आपको अग्नि में होम दिया था—इस प्रथा के ब्राह्मणों द्वारा अपनाये जाने के संकेत उनके साहित्य में आते हैं। बौद्धों में इस प्रथा के प्रचलित होने का प्रमाण नहीं मिलता। इसलिए रामायण में उल्लिखित श्रमणों को वैदिक तपस्वियों की श्रेणी में गिना जा सकता है। ब्राह्मण गृहस्थों और वनवासी तापसों से पार्थक्य स्थापित करने के लिए वे अपने को 'श्रमण' कहते थे।

वाल्मीकि ने इस मान्यता का भी खंडन किया है कि बुद्ध के बाद ही भारत में तपस्विनियां होने लगी थीं। स्त्रियों द्वारा तपस्या किये जाने के अनेक आख्यान रामायण में आये हैं। अत्रि-पत्नी अनसूया ने कई वर्षों तक तपस्या का अनुष्ठान किया था। वह एक साध्वी तपस्विनी थीं, जो दुर्भिक्ष, अनावृष्टि तथा अन्य आपत्तियों में अपने सेवा-कार्य के लिए प्रख्यात थीं—**अनसूयाव्रतैस्तात प्रत्यूहाश्च निर्वर्तिताः** (२।११७।११)। कुछ स्त्रियां ऐसी थीं, जो समस्त सांसारिक संबंध त्याग कर सदा के लिए तपस्विनी का व्रत अंगीकार कर लेती थीं। ऐसी तपस्विनियों में शबरी और स्वयंप्रभा के नाम उल्लेखनीय हैं। उन्हें 'तापसी' या 'श्रमणी' कहते थे। तपस्वियों की तरह वे भी मृग-चर्म, जटा और वल्कल धारण करती, इंद्रियों को वश में रखती, धर्म का पालन करती, सब प्राणियों के हित में

---

१. आर्येण मम मान्धात्रा व्यसनं घोरमीप्सितम्। श्रमणेन कृते पापम्...॥४।१८।३३

२. देखिए १।१४।१२ पर तिलक की तथा ४।१८।३३ पर गोविंदराज की टीका।

संलग्न रहती तथा आध्यात्मिक प्रभा से देदीप्यमान होती थीं। शवरी सदा धर्म में स्थित रहती थी (**धर्मे स्थिता नित्यम्**)। आत्म-समाधि द्वारा उसे पुण्यशाली लोकों की प्राप्ति हुई थी।

वानप्रस्थ-धर्म का पालन करनेवाले मुनियों के साथ उनकी पत्नियां भी रहती थीं। ऐसी भी कथाएं आती हैं, जिनमें मुनियों को कन्याएं समर्पित कर दी गई हैं। कभी-कभी युवतियां स्वयं ही तपस्या-रत ऋषियों को पति-रूप में वरण कर लेती थीं।

दो या अधिक तपस्वियों का एक ही स्त्री से संपर्क रखना तपस्या के नाम पर वट्टा लगानेवाला कुकर्म था।[1] व्यभिचारी तापसों को राजा कठोर दंड देते थे। सच तो यह है कि तपस्वियों का काम-वासना के वशीभूत हो जाना ही उनके आध्यात्मिक उत्थान में सवसे अधिक वाधक था। वालकांड में ऐसे अनेक ऋषियों का जीवन वर्णित है, जो काम-क्रीड़ा में आसक्त होकर अपने उच्च ध्येय से च्युत हो गए। इंद्र आदि देवता, जो महामुनियों की उग्र तपस्या से प्रायः भयभीत रहते थे, उनकी इसी दुर्वलता से—सुंदरियों के प्रति उनके अकस्मात जग पड़नेवाले कामुक भाव से—लाभ उठाने की ताक में रहते थे और 'उन्मादकारिणी' अप्सराएं भेजकर उन्हें प्रलोभित करते रहते थे। मेनका द्वारा विश्वामित्र मुनि का प्रलोभीकरण इस प्रकार का एक सुप्रसिद्ध उदाहरण है। इससे यह सिद्ध होता है कि वर्षों तक तपस्या में निरत रहनेवाले यशस्वी मुनि भी, रमणियों के हाव-भावों से विमूढ़ हो, किस प्रकार अपना विवेक, समय और कर्तव्य का सारा भान खो वैठते थे। निरे ग्राम्य सुखों में अपना सारा तपोधन लुटा देने के वाद उनकी आत्म-स्मृति लौटती थी और वे, पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त से अपने को शुद्ध करके, नये सिरे से तपस्या में प्रवृत्त होते थे।

ऋषि-मुनियों का एक और दुर्गुण था उनकी शाप देने की प्रवृत्ति। प्राचीन भारत के साधु-संतों का क्रोधी स्वभाव सुविदित है। अगस्त्य, वसिष्ठ, गौतम, दुर्वासा, विश्वामित्र आदि ऋषि प्रायः लोगों को मर्यादा-भंग करने पर शाप देते हुए पाये जाते हैं। शाप की प्रभावशालिता शाप देनेवाले के तपोवल एवं अर्जित

---

१. तुलना कीजिए—**कथं तापसयोर्वां च वासः प्रमदया सह। अधर्मचारिणौ पापौ कौ युवां मुनिदूषकौ॥३।२।११-२**

पुण्य पर निर्भर करती थी। किंतु वाल्मीकि ने वारंवार यह वताया है कि शाप देने या क्रोध करने से तपस्वी की आध्यात्मिक संपत्ति का ह्रास होता है, उसके आत्मानुशासन के प्रयासों पर पानी फिर जाता है। रंभा को शाप देने पर विश्वामित्र को ऐसी ही अनुभूति हुई थी।[1] तपस्या के क्षीण हो जाने का यह भय ही तपस्वियों को यज्ञों में विघ्न डालनेवाले राक्षसों का संहार करने से रोकता था।

आश्रम-संस्कृति के उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकालना उचित न होगा कि नगरों और आश्रमों के बीच पार्थक्य की एक दीवार होती थी। इसके विपरीत, दोनों में इतना अधिक संपर्क और सहयोग विद्यमान था कि आश्रमों का पावन प्रभाव नागरिक सभ्यता पर पड़े विना नहीं रहता था। राजदरवारों में ऋषियों का वरावर आगमन होता रहता था। दशरथ के यज्ञ-समारोह में तापसों को यथेच्छ भोजन कराया गया था (**तापसा भुंजते चापि, १।१४।१२**)। उत्तरकांड में महाराज राम के जीवन का जो चित्रण किया गया है, उसमें हम उन्हें ऋषि-मुनियों और आश्रमों के निरंतर संपर्क में आते हुए पाते हैं।

ऋषियों और राजाओं की परस्पर भेंट होने पर वे जिस प्रकार के प्रश्नों से एक-दूसरे की कुशल-क्षेम पूछते थे, उससे भी उनका पारस्परिक सहयोग लक्षित होता है। राजागण तपस्वियों से उनकी तपस्या एवं उनके अग्निहोत्र और शिष्य-वर्ग के विषय में पूछताछ करते थे (**तपोऽग्निहोत्रशिष्येषु कुशलं पर्यपृच्छत, १।५२।४**), जो कि नितांत उचित ही था; क्योंकि राष्ट्र के रक्षक होने के नाते राजाओं पर ही तपस्वियों के यज्ञ-यागादिक के निर्विघ्न संचालन का उत्तरदायित्व आ पड़ता था, और इस विषय में उनकी जिज्ञासा यह सूचित करती थी कि आश्रमों और आश्रमवासियों की कल्याण-कामना में वे कितने उत्सुक और जागरूक थे। ये ऋषि-मुनि स्वयं भी, समर-कला से अनभिज्ञ होने के कारण (**रणकर्मसु अकुशलाः**), नृपतियों के पास राक्षसों से त्राण पाने के लिए, सहायता की याचना करने पहुंचते थे। राम का समग्र जीवन, वनवास की अवधि में ही नहीं, राज्यारोहण के पहले और वाद में भी, ऐसी सहायता देने के उदाहरणों से भरा पड़ा है। इसके वदले वनवासी ऋषिगण राजा की सेना, उसके कोश तथा उसकी प्रजा की कुशल-मंगल

---

१. **कोपेन च महातेजास्तपोपहरणे कृते।१।६४।१६**

पूछकर[1] यह सिद्ध करते थे कि हम राष्ट्र के भौतिक उत्कर्ष के प्रति उदासीन नहीं हैं। देश की सांस्कृतिक धरोहर के न्यासी होने के नाते वे यह जानने को व्यग्र रहते थे कि नृपतिवर्ग देश का धर्मानुकूल शासन करने में संलग्न है या नहीं। समाज के कल्याण में तपस्वियों का योग, राजा के योग की अपेक्षा मौन होते हुए भी, कम मूल्यवान नहीं था। राष्ट्र के बालकों के प्रशिक्षण का गुरुतर कार्य समाज ने अपने इन्हीं उन्नायकों को सौंप रखा था।

ऋषियों की राष्ट्र-सेवा का एक और भी पहलू था। देश के अनार्य-भागों में ब्राह्मण-संस्कृति के वे अग्रिम प्रचारक थे। वे कोरे तत्ववेत्ता या निष्क्रिय विचारक नहीं थे—अपने धर्म के उद्योगशील किंतु निःशस्त्र प्रसारक भी थे। आर्यों के राज्य नर-भक्षी राक्षसों से भरे जंगलों से घिरे हुए थे। अगस्त्य-जैसे ऋषियों ने अपनी तपस्या की परिसमाप्ति के लिए इन्हीं वन-प्रदेशों को चुना। स्वभावतः यहां की वन्य जातियों ने उनका प्रतिरोध किया और उन्हें त्रस्त करना आरंभ किया। राक्षसों के उत्पातों की सूचना राजा तक पहुंचा दी जाती थी। इस प्रकार इन ब्राह्मण तपस्वियों को संरक्षण प्रदान करने के हेतु वन्य प्रदेशों से क्रूर अनार्य-जातियों का सफाया और आर्यों के प्रभाव-क्षेत्र का उत्तरोत्तर विस्तार होता गया।

स्वयं आर्यों के राज्यों में भी वैदिक संस्कृति को सप्राण बनाये रखने का श्रेय इन्हीं अरण्यवासी ऋषि-मुनियों को देना होगा। ये ऋषिगण किसी राज्य-विशेष से संबद्ध नहीं थे; राजकीय सीमाओं के बावजूद सर्वत्र इनका अप्रतिहत प्रवेश था, ये सर्वत्र समान रूप से समादृत थे। जहां इनके आश्रमों में सभी राज्यों के शासक समय-समय पर आते रहते थे, वहां ये भी विभिन्न राजाओं के यहां जाते रहते, उनके दरबारों में कथा-वार्ताएं करते और धर्म की ज्योति प्रज्वलित रखते थे। इस प्रकार ये आर्य-संस्कृति की एकता और अभिन्नता स्थिर रखने में महान योग-दान कर रहे थे। विभिन्न राज्यों में बंटे आर्यावर्त को इन्हीं ऋषि-मुनियों ने सौहार्द और सद्भावना के तंतुओं से परस्पर जोड़ रखा था।

---

१. कच्चिद्बलेषु कोशेषु मित्रेषु च परन्तप। कुशलं ते नरव्याघ्र पुत्रपौत्रैः तवानघ॥ १।५२।९

: १२ :

धर्म

भारत में धर्म को सदैव ऊंचा स्थान दिया गया है—प्राचीन भारतीयों के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसका सर्वोपरि प्रभाव था। यद्यपि रामायण का युग भौतिक वैभव और समृद्धि, कला और विलास का समय था, तथापि उसमें पद-पद पर धर्म की सत्ता प्रकट होती है। लोगों के आध्यात्मिक दृष्टिकोण और धार्मिक क्रिया-कलापों को कवि ने स्थल-स्थल पर अंकित किया है।

वेदों को सर्वोच्च धार्मिक महत्व प्राप्त था। तर्क-वितर्क के क्षुद्र आक्षेपों से उन पर कोई आंच नहीं आ सकती थी। जैसाकि जटायु ने रावण से कहा था—"जिस प्रकार न्याय के हेतुवाद से सनातन वेद-श्रुति को कोई अन्यथा नहीं कर सकता, उसी प्रकार मेरे देखते हुए तुम सीता को जबर्दस्ती ले जाने में समर्थ नहीं होगे।"[1] रामायणकालीन आर्य वैदिक साहित्य में उल्लिखित कर्मकांड के निष्ठावान अनुगामी थे। किसी क्रिया-विशेष का वैदिक मंत्रों के अनुसार संपन्न होना ही उनके सुचारु अनुष्ठान का मापदंड था। धार्मिक क्रियाओं के 'यथाविधि', 'यथाशास्त्रम्' या 'शास्त्रदृष्टेन विधिना' किये जाने का वाल्मीकि ने वारंवार उल्लेख किया है। राम ने अपना बाण वेदोक्त विधि से अभिमंत्रित कर रावण को मारने के लिए धनुष पर चढ़ाया था।[2] सभी कर्मकांडों में वेद-मंत्रों का अनिवार्य प्रयोग होता था। कवि ने वेद-मंत्रानुसारिणी बुद्धि की प्रशंसा की है और भरत ने कौसल्या के समक्ष

---

१. न शक्तस्त्वं बलाद्धर्तुं वैदेहीं मम पश्यतः। हेतुभिर्न्यायसंयुक्तैर्ध्रुवां वेदश्रुतीमिव ॥३।५०।२२

२. अभिमन्त्र्य ततो रामस्तं महेषुं महाबलः। वेदप्रोक्तेन विधिना सन्दधे कार्मुके बली ॥६।१०८।१४

यह शपथ खाई थी कि ऐसी शास्त्रानुगामी वुद्धि का धनी मैं कभी न वनूं यदि मेरा राम के वन-गमन में कोई हाथ रहा हो—

कृतशास्त्रानुगा वुद्धिर्माभूत्तस्य कदाचन।
सत्यसन्धः सतां श्रेष्ठो यस्यार्योऽनुमते गतः ।।२।७५।२१

शांति एवं मंगल-कामना के लिए लोगों में कुछ विशिष्ट धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान प्रचलित था। नवीन गृह में प्रवेश करने से पूर्व उसके अधिष्ठाता देवता की प्रीत्यर्थ वास्तु-शांति क्रिया की जाती थी। इससे वास्तु अर्थात घर में लुकी-छिपी किसी अशुभ वाधा या शक्ति का शमन हो जाता था और गृह-स्वामी की आयु-वृद्धि होती थी—**कर्तव्यं वास्तुशमनं सौमित्रे चिरजीविभिः** (२।५६।२२)। चित्रकूट पर निर्मित अपनी कुटी में प्रवेश करने से पूर्व राम ने उसका वास्तु-शमन किया था। इस क्रिया का वाल्मीकि ने इस प्रकार वर्णन किया है—"राम की आज्ञानुसार जव लक्ष्मण एक काले मृग को मार कर ले आये, तव राम ने उनसे कहा कि इसके मांस को शीघ्र पका लो, जिससे हम मुहूर्त को टाले विना यज्ञ कर सकें। तव लक्ष्मण ने आग जलाकर उस मृत मृग को उसमें डाल दिया। जव वह भुन गया, उसका रुधिर शुष्क हो गया, तव राम ने स्नान करके जप किया और संयत होकर मंत्रों-सहित यज्ञ किया। फिर देवगणों का पूजन किया तथा वैश्वदेववलि, रौद्रवलि और वैष्णववलि करके वह वास्तु-शांति के मंगल वचन पढ़ने लगे। तत्पश्चात उन्होंने यथोचित जप कर नदी में यथाविधि स्नान किया और पापनाशक वलि चढ़ाई। आठों दिशाओं में वलि-हरण के लिए वेदि-स्थलों को और गणपति, विष्णु आदि के स्थानों को आश्रम के अनुरूप स्थापित किया, फल और मांस से भूतों को तृप्त किया और फिर सीता एवं लक्ष्मण के साथ उस पर्णशाला में प्रवेश किया" (२।५६।२२-३२)।

इस वास्तु-शमन क्रिया का सांस्कृतिक तात्पर्य यह था कि हिंदू गृहस्थ का घर ईंट और गारे का निर्जीव ढांचा नहीं होता, वरन परिवार के सदस्यों के अतिरिक्त देवताओं, पितरों और भूतों का भी निवास-स्थान होता है, और ये सव गृह के अधिष्ठाता देवता अग्नि की छत्रछाया में रहते हैं।

एक और मांगलिक क्रिया का नाम आग्रायण था, जिसमें शरद-ऋतु के अंत में नई फसल के प्रथम अन्न को देवताओं और पितरों की भेंट चढ़ाया जाता

था।[1] श्रौत कर्मकांड में इसे 'आग्रायणेष्टि' कहा जाता है। इस क्रिया के विषय में अधिक जानकारी रामायण में नहीं मिलती, पर उसके प्रचलन से लोगों की यह भावना अवश्य व्यक्त होती है कि वे नई फसल का अपने लिए उपयोग करने से पूर्व देवताओं को उनका भाग अर्पित न करना अनुचित समझते थे, क्योंकि इन्हींके प्रसाद से जगती का भरण-पोषण होता है।

कोई व्यक्ति जब कभी किसी महत्वपूर्ण कार्य का श्रीगणेश करता, तब उसकी ऋद्धि-सिद्धि के लिए स्वस्त्ययन नाम की आशीक्रिया संपन्न की जाती थी। राजकुमार राम के विश्वामित्र के साथ जाते समय उनके माता-पिता ने स्वस्त्ययन किया था और पुरोहित वसिष्ठ ने उन्हें मंगल-मंत्रों से आशीर्वाद दिया था।[2] महत्वपूर्ण धार्मिक क्रियाओं के प्रारंभ होने से पूर्व स्वस्तिवाचन क्रिया की जाती थी, जिसमें ब्राह्मण पृथ्वी पर अक्षत फेंककर उन क्रियाओं की निर्विघ्न समाप्ति के लिए देवताओं के आशीर्वाद की याचना करते थे। अपने प्रस्तावित यौवराज्याभिषेक के दिन प्रातःकाल ही राम ने अपने ऋत्विजों से स्वस्तिवाचन कराया था—**विमलक्षौमसंवीतो वाचयामास स द्विजान्** (२।६।७)। उनके वन जाते समय भी कौसल्या ने उनकी कल्याण-कामना के लिए एक वृहद स्वस्तिवाचन-समारोह किया था, जिसका विशद विवरण वाल्मीकि ने एक पूरे सर्ग में किया है (२।२५)।

प्रातःकाल का समय आह्निक (नित्य-नैमित्तिक) कृत्यों के अनुष्ठान के लिए नियत रहता था। उन्हें पौर्वाह्णिक अर्थात दिन के पूर्वार्ध में संपन्न किये जाने-वाले कृत्य की भी संज्ञा दी जाती थी। इन कृत्यों में स्नान, अर्घ्य, तर्पण और मार्जन (सूर्य और पितरों को जलांजलि), प्राणायाम, सावित्री (गायत्री)-जप, होम और देवतार्चन का परिगणन किया जाता था। विश्वामित्र के साथ रहते समय राम-लक्ष्मण अपने प्रातःकालीन कृत्य नित्य नियमानुसार किया करते थे। वनवास में भी उनकी यही दिनचर्या थी। उदाहरणार्थ, सुतीक्ष्ण के आश्रम में राम ने समय पर जगकर स्नान, आचमन, संध्या आदि विधिपूर्वक करके अग्निहोत्र और देव-

---

१. नवाग्रयणपूजाभिरभ्यर्च्य पितृदेवताः। कृताग्रयणकाः काले सन्तो विगतकल्मषाः ॥३।१६।६

२. कृतस्वस्त्ययनं मात्रा पित्रा दशरथेन च। पुरोधसा वसिष्ठेन मंगलैरभिमन्त्रितम् ॥१।२२।२

पूजन किया था (३।८।२-३)। पंचवटी में रहते समय राम, लक्ष्मण और सीता प्रतिदिन गोदावरी में स्नान करते और फिर आश्रम लौटकर पौर्वाह्लिक कृत्य करते थे (३।१७।१-२)। विश्वामित्र के संगी-साथी मुनि पहले स्नान, देव-पितरों को जलांजलि तथा अग्निहोत्र से निवृत्त हुए और फिर हविष्यान्न का भक्षण कर महामुनि के चारों ओर गंगावतरण की कथा सुनने बैठ गए थे।[1] महाराज जनक आह्निक कृत्य समाप्त करने के बाद ही दैनिक व्यवहार में प्रवृत्त होते थे।[2]

आह्निक क्रियाओं में केंद्रीभूत कृत्य संध्या-वंदन था। सभी द्विजातियों से वह नितांत अपेक्षित था। संध्या करने के उचित समय का विशेष आग्रह किया जाता था।[3] विश्वामित्र मुनि अनेक बार राम को यथासमय संध्या करने के लिए प्रेरित करते हुए दिखाये गए हैं।[4] इस क्रिया में सूर्य को अर्घ्य-दान किया जाता और गायत्री-मंत्र के जप से सूर्योपासना की जाती थी। वह प्रातःकाल सूर्योदय से पहले पूर्वाभिमुख होकर की जाती और सायंकाल सूर्यास्त से पूर्व पश्चिमाभिमुख होकर। प्राचीन आर्य, चाहे घर में हों या यात्रा पर, संध्या करना कभी नहीं भूलते थे। अपने यौवराज्याभिषेक के दिन राम रात में एक पहर शेष रहते ही उठ गए थे और पूर्वाभिमुख होकर एकाग्र चित्त से उन्होंने प्रातः-संध्योपासन एवं जप किया था।[5] अपनी समूची वनवास की अवधि में राम अपना संध्या-कर्म कभी नहीं चूके थे, यहां तक कि लंका-समुद्र के किनारे, जब उनका मन सीता के लिए शोक-विह्वल हो रहा था, उन्होंने अपनी सायं-संध्या संपन्न की थी।[6]

---

१. ततः स्नात्वा यथान्यायं सन्तर्प्य पितृदेवताः। हुत्वा चैवाग्निहोत्राणि प्राश्य चामृतवद्धविः ॥१।३५।८-९

२. तुलना कीजिए—ततः प्रभाते जनकः कृतकर्मा महर्षिभिः। उवाच वाक्यं..॥ १।७०।१

३. सन्ध्यामुपासितुं वीर समयो ह्यतिवर्तते।७।८१।२१

४. कौसल्या सुप्रजा राम पूर्वा सन्ध्या प्रवर्तते। उत्तिष्ठ नरशार्दूल कर्तव्यं दैवमाह्निकम् ॥१।२३।२

५. एकयामावशिष्टायां रात्र्यां प्रतिविबुध्य सः।...पूर्वां सन्ध्यामुपासीनो जजाप सुसमाहितः ॥२।६।५-६

६. आश्वासितो लक्ष्मणेन रामः सन्ध्यामुपासत। स्मरन्कमलपत्राक्षीं सीतां शोकाकुलीकृतः ॥६।५।२३

स्त्रियों द्वारा भी नियमपूर्वक संध्योपासना किये जाने के प्रमाण मिलते हैं। निषादराज गुह ने भरत को बताया था कि किस प्रकार वन जाते समय राम, लक्ष्मण और सीता ने मार्ग में शृंगवेरपुर में संध्या-वंदन किया था।[1] लंका में सीता को खोजते हुए हनुमान ने एक शुभ्र जलवाली नदी देखकर सोचा कि सीता अपनी सायंकालीन संध्या करने के लिए यहां अवश्य आयेंगी।[2] स्पष्ट है कि स्त्रियों का एक विशिष्ट वर्ग अवश्य संध्योपासन किया करता था।

आहुतियां डालकर अग्नि का पूजन या अग्निहोत्र करना भी प्रातः-सायं सर्वत्र प्रचलित था। प्राचीन आर्य अग्नि को बड़ी श्रद्धा से देखते थे। उनके सभी धार्मिक और सामाजिक कार्यों में अग्नि का अनिवार्य स्थान था। अग्निहोत्र 'अग्न्यागार' नामक एक विशिष्ट भवन में किया जाता था, जहां रात-दिन अग्नि प्रज्वलित रहती थी। जो ब्राह्मण सदा प्रज्वलित अग्नि प्रस्थापित रखता था, उसे 'आहिताग्नि' कहते थे। राम ने रावण के हाथों मारे गए जटायु को आहिताग्नियों द्वारा अर्जित पुण्यशाली लोक प्राप्त करने का आशीर्वाद दिया था।[3] अयोध्या में ऐसा कोई नहीं था, जो अग्निहोत्र न करता हो—नानाहिताग्निर्नायज्वा (१।६।१२) और लंका तो अग्नि को तर्पित करनेवाले पुरुषों से भरी पड़ी थी।[4] अग्निहोत्र का अधिकार स्त्रियों को भी प्राप्त था। अपने यौवराज्याभिषेक के दिन राम ने सीता के साथ विधिवत अग्निहोत्र किया था। उनके वन जाने की घड़ी में कौसल्या ने भी अग्निहोत्र किया था।

देवताओं की प्रार्थना करना लोगों के जीवन का अभिन्न अंग था। अपनी इष्ट-सिद्धि के लिए लोग देवताओं का स्मरण एवं स्तवन करते थे। वे मानो देवों के सतत संपर्क में रहते थे। ये देवता ऐसे नहीं थे, जो मानव-संवेदन की परिधि से

---

१. वाग्यतस्ते त्रयः (रामलक्ष्मणसीतादयः) सन्ध्यां समुपासन्त संहिताः।२।८७।१९
२. सन्ध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी। नदीं चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी ॥५।१४।४९
३. या गतिर्यज्ञशीलानामाहिताग्नेश्च या गतिः।...मया त्वं समनुज्ञातो गच्छ लोकाननुत्तमान् ॥३।६८।२९-३०
४. लंका राक्षसवीरैस्तैर्गजैरिव समाकुला। हुताशनं तर्पयतां ब्राह्मणांश्च नमस्यताम् ॥६।५७।२१

परे हों अथवा भक्ति और आराधना से भी दुष्प्राप्य हों। वस्तुतः मर्त्य मानवों का समग्र जीवन अपने देवताओं के अनुग्रहों से परिसिंचित रहता था। वे मानव के सुख-दुःख के साथी थे; संकटग्रस्त होने पर उन्हींके कृपा-कटाक्ष की आकांक्षा की जाती थी।

देवताओं का पूजन-अर्चन (देव-कार्य) लोगों की धर्मचर्या का अनिवार्य अंग था। अयोध्या के सभी वृद्ध और तरुण पुरवासी प्रातः-सायं राम के लिए देवताओं को नमस्कार करते थे।[1] दशरथ की राज्य-सभा में राम के यौवराज्याभिषेक का निश्चय हो जाने पर पुरवासी अपने-अपने घरों को लौटकर कृतज्ञता-प्रदर्शन के हेतु प्रसन्न मन से देवताओं की पूजा करने लगे थे (**देवान् समानर्चुरभिप्रहृष्टाः**, २।३।४६)। अग्नि-प्रवेश करने से पहले सीता ने देवताओं को प्रणाम किया था (**प्रणम्य दैवतेभ्यश्च**, ६।११६।२४)। दशरथ की मृत्यु और राम के वनवास के कारण अयोध्या में देव-पूजा स्थगित हो गई थी (**देवतार्चाः प्रविद्धाश्च**, २।७१।४०)। अराजक प्रदेश के वर्णन में बताया गया है कि वहां लोग संयत मन से देवताओं के लिए माला, मोदक और दक्षिणा नहीं चढ़ा पाते।[2] स्त्रियों के लिए भी देव-पूजा विहित थी। जब कौसल्या को राम का यौवराज्याभिषेक शीघ्र संपन्न होने का संवाद मिला, तब उन्होंने प्राणायाम करके ध्यानावस्थित हो भगवान जनार्दन का पूजन किया था।[3] सीता भी देव-कार्य से निवृत्त होकर अपने अभिषिक्त पति के लौटने की उत्सुकता से बाट जोह रही थीं (**देवकार्यं स्म सा कृत्वा**)। प्रत्येक नगर, ग्राम और गृह के अपने पृथक-पृथक अधिष्ठाता देवता थे, जो ग्राम-देवता और गृह-देवता के नाम से अभिहित होते थे। राम ने वन के लिए प्रस्थान करते समय अयोध्या में निवास करनेवाले देवताओं की अनुमति ली थी।[4] कैकेयी

---

१. **स्त्रियो वृद्धास्तरुण्यश्च सायं प्रातः समाहिताः। सर्वा देवान्नमस्यन्ति रामस्यार्थे मनस्विनः ॥२।२।५१-२**

२. **नाराजके जनपदे माल्यमोदकदक्षिणाः। देवताभ्यर्चनार्थाय कल्प्यन्ते नियतैर्जनैः ॥२।६७।२७**

३. **तस्मिन्कालेऽपि कौसल्या तस्थावामीलितेक्षणा ।...प्राणायामेन पुरुषं ध्यायमाना जनार्दनम् ॥२।४।३२-३**

४. **आपृच्छे त्वां पुरिश्रेष्ठे...दैवतानि च यानि त्वां पालयन्त्यावसन्ति च ॥२।५०।२**

ने दशरथ के शपथ-ग्रहण की साक्षी के लिए घर-घर निवास करनेवाले गृह-देवताओं का आह्वान किया था।[1]

अंतःपुर तथा नगर के द्वारों और चौराहों की चंदन, मालाओं तथा धूप-गंध से अर्चना की जाती थी।[2] योद्धाओं के शस्त्रास्त्रों के भी अधिष्ठाता देवता माने जाते थे, और उन्हें छोड़ने से पहले इनकी अभ्यर्थना कर ली जाती थी।[3] जनक का महाधनुप गंध, धूप, अगुरु आदि से नित्य अर्चित किया जाता था।[4]

देव-मंदिरों का भी स्थल-स्थल पर उल्लेख आया है। देवतागार, देवपथ, देवस्थान, देवगृह, देवायतन, देवागार, देवतायतन आदि विविध नामों से उनकी चर्चा आई है। वाल्मीकि बताते हैं कि राम के अभिषेक का समाचार सुनकर अयोध्यावासी किस प्रकार हिमालय के शिखर के समान ऊंचे देव-मंदिरों पर ध्वजाएं और पताकाएं फहराने में संलग्न हो गए थे।[5] इस अवसर पर पुरोहित वसिष्ठ ने भी देवताओं के मंदिरों और चैत्यों में अन्न, द्रव्य, दक्षिणा और पूजा की सामग्री की व्यवस्था करने के लिए मंत्रियों को आदेश दिया था।[6] देवायतनों के द्वार शुभ्र पुते रहते थे (शुक्ल-देव-गृह-द्वारा)। अपने प्रस्तावित यौवराज्याभिषेक के पहले दिन राम ने सीता के साथ संयमपूर्वक विष्णु के मंदिर में शयन किया था—श्रीमदायतने विष्णोः शिश्ये नरवरात्मजः (२।६।४)। "चैत्यों और मंदिरों में जाकर तुम जिनको प्रणाम करते हो, वे सब देवता महर्षियों के साथ वन में

---

१. गृहेषु गृहदेवताः...जानीयुर्भाषितं तव।२।११।१५

२. अन्तःपुरस्य द्वाराणि सर्वस्य नगरस्य च। चन्दनस्रग्भिरर्च्यन्तां धूपैश्च घ्राण-हारिभिः॥२।३।१४

३. सोऽस्त्रमाहारयामास ब्राह्ममस्त्रविशारदः। धनुश्चात्मरथं चैव सर्वं तत्रा-भ्यमन्त्रयत्॥६।७३।२४

४. आयागभूतं नृपतेस्तस्य वेश्मनि राघव। अर्चितं विविधैर्गन्धैर्धूपैश्चागुरु-गन्धिभिः॥१।३१।१३

५. सिताभ्रशिखराभेषु देवतायतनेषु च।...ध्वजाः समुच्छ्रिताः साधु पताका-श्चाभवंस्तथा॥२।६।११-३

६. देवायतनचैत्येषु सान्नभक्ष्याः सदक्षिणाः। उपस्थापयितव्याः स्युर्माल्यभोग्याः पृथक् पृथक्॥२।३।१८-९

तुम्हारी रक्षा करें",[1] राम को यह आशीर्वाद देकर कौसल्या ने मंदिरों का अस्तित्व प्रमाणित कर दिया। चित्रकूट पर भी राम अयोध्या के मंदिरों का स्मरण करना नहीं भूले (**देवस्थानैश्चोपशोभितः**)।

इन मंदिरों को हम सार्वजनिक देवस्थान मान सकते हैं, जोकि नागरिकों की सामूहिक संपत्ति थे तथा जिनकी देखभाल और सजावट में वे प्रगाढ़ अभिरुचि रखते थे। इनके अतिरिक्त निजी भवनों में भी देवालय बने रहते थे। उदाहरणार्थ, जब इक्ष्वाकु राजकुमारों की नववधुएं मिथिला से अयोध्या आईं, तब अंतःपुर की रानियों ने बहुओं को देव-मंदिरों में ले जाकर उनसे देवताओं का पूजन करवाया था—**देवतायतनान्याशु सर्वास्ताः प्रत्यपूजयन्** (१।७७।१३)। क्योंकि यह वर्णन उस समय का है जब ये वधुएं राजप्रासाद में प्रवेश कर चुकी थीं, अतः स्पष्ट है कि ये मंदिर भी प्रासादों के भीतर बने थे। विष्णु के जिस आयतन में राम ने एक रात शयन किया था, वह भी उन्हींके महल में स्थित रहा होगा। कौसल्या ने भी अपने ही प्रासाद में समस्त देव-कार्य संपन्न किया था। अतः प्रतीत होता है कि प्रत्येक गृहस्थ के घर में देव-पूजा के निमित्त एक पृथक स्थान नियत रहता था। अगस्त्य के आश्रम में विभिन्न देवताओं के लिए पृथक स्थान बने हुए थे (३।१२। १७-२०)। मार्ग में पड़नेवाले मंदिरों की प्रदक्षिणा की जाती थी।[2]

इस प्रसंग में 'चैत्य' शब्द के सही अर्थ पर भी कुछ ऊहापोह करना आवश्यक है। रामायण में चैत्य शब्द प्रायः देवायतन के साथ-साथ प्रयुक्त हुआ है। जब भरत ननिहाल से अयोध्या लौटे, तब उन्हें चैत्यों और देवायतनों में बने घोंसलों में पक्षि-गण दीन और निःशब्द पड़े दिखाई दिये थे।[3] राम ने चैत्यों और यूपों से सुशोभित कोसल प्रदेश में से होकर वन-प्रस्थान किया था (**चैत्ययूपसमावृतान्...कोसला-नत्यवर्तत**, २।५०।१०)। लंका में हनुमान ने सीता की चैत्य-गृहों में भी खोज

---

१. येभ्यः प्रणमसे पुत्र चैत्येष्वायतनेषु च। ते च त्वामभिरक्षन्तु वने सह महर्षिभिः॥२।२५।४

२. चैत्यांश्चायतनानि च। प्रदक्षिणं परिहरञ्जगाम नृपतेः सुतः॥२।१७।१७

३. ध्यानसंविग्नहृदया नष्टव्यापारयन्त्रिताः। देवायतनचैत्येषु दीनाः पक्षिमृगास्तथा॥२।७१।४२

की थी।[1] रावण की अशोकवाटिका में हनुमान को हजार खंभोंवाला एक चैत्य-प्रासाद दिखाई पड़ा था, जो गोलाकार, कैलास के समान श्वेत-वर्ण और बहुत ऊंचा था।[2] रावण, अलंकारों से विभूषित होने पर भी, श्मशान-चैत्य की तरह भयंकर जान पड़ता था—श्मशानचैत्यसदृशो भूषितोऽपि भयंकरः (५।२२।२९)।

टीकाकारों ने 'चैत्य' शब्द के ये विभिन्न अर्थ लगाये हैं—(१) मार्गवर्ती पेड़ (रथ्यावृक्षः), (२) चौराहा (चतुष्पथः), (३) ग्राम-देवताओं के मंदिर (ग्राम-देवतास्थानानि), (४) देवताओं के निवासवाले वृक्ष (देवतानिष्ठानवृक्षः), (५) देव-मंदिर (देवायतन), (६) वह स्थान जहां अश्वमेध-यज्ञ की समाप्ति पर चयन-क्रिया की जाती है (अश्वमेधान्तयागानेकचयनप्रदेशः), (७) बौद्ध मंदिर (बौद्धायतनानि) अथवा एक गोलाकार बौद्ध मंदिर(चैत्यं वर्तुलाकारत्वात् बौद्धायतनमिव), (८) चौराहों पर स्थित भवन (चतुष्पथमंडपः) अथवा (९) वृक्ष (चतुष्पथवर्ति वृक्षः), जिनके तने के पास वेदिका बनी रहती थी, तथा (१०) श्मशान में बनाया गया कोई स्मारक या वृक्ष (श्मशानवृक्षः श्मशान-मंडपो वा)।

इस प्रकार टीकाकारों में चैत्य शब्द के अर्थ को लेकर पर्याप्त मत-भेद है। रामायण के चैत्य का अर्थ बौद्धायतन करना समीचीन नहीं। यह अर्थ लगाने में भी टीकाकारों ने सर्वत्र एकरूपता नहीं बरती है। राम और उनके राज्य में स्थित चैत्यों का अर्थ तो वे देव-मंदिर करते हैं, पर शत्रु-प्रदेश में स्थित चैत्यों का अर्थ बौद्धायतन। वे यह भूल जाते हैं कि वाल्मीकि ने बौद्धों का उल्लेख किये बिना ही लंका को वैदिक स्वाध्याय करनेवालों से युक्त बताया है। इसके अतिरिक्त, बुद्ध से पहले भी भारत में चैत्यों का अस्तित्व था और वे वैदिक यज्ञ-यागादिक से संबंधित थे। चैत्य शब्द 'चि चयने' धातु से निकला है और 'अमरकोश' की 'गुरु-बालप्रबोधिका' टीका के अनुसार उसका अर्थ कोई गृह या भवन ही है, क्योंकि इसमें पत्थर या ईंटें चिन करके भवन-निर्माण किया जाता है (चीयते पाषाणादिना इति चैत्यम्)। साथ ही, यज्ञों के अंत में भस्मादिक पवित्र पदार्थों को बटोरने

---

१. भूमीगृहांश्चैत्यगृहान् विचचार महाकपिः।५।१२।१५
२. स ददर्शाविदूरस्थं चैत्यप्रासादमूर्जितम्। मध्ये स्तम्भसहस्रेण स्थितं कैलास-पाण्डुरम्॥५।१५।१६

की क्रिया क्योंकि चयन कहलाती है, अतः चैत्य से उस प्रदेश का भी संकेत किया जाने लगा, जहां यह चयन-क्रिया संपन्न की जाती थी।

रामायण में कभी-कभी चैत्य वृक्षों का भी उल्लेख आया है। इनसे तात्पर्य यह है कि कभी-कभी चयन-प्रदेश में गृह या स्मारक बनाने के बजाय वेदिका-संयुक्त वृक्ष लगा दिये जाते थे। कालांतर में ऐसे सभी वृक्ष चैत्य-वृक्ष कहलाने लगे।

रावण की श्मशान-चैत्य से तुलना करना (**श्मशानचैत्यप्रतिमः**) यह सूचित करता है कि श्मशान-भूमि पर दिवंगत महापुरुषों या नृपतियों की स्मृति में चैत्य नाम के स्मारक खड़े किये जाते थे। इस प्रथा के अनुसार यह सर्वथा संभव जान पड़ता है कि बुद्ध की स्मृति में भी एक चैत्य निर्मित किया गया और उनके शिष्यों ने उनके अवशेषों को देश के अन्य भागों में ले जाकर कई चैत्य स्थापित किये। साथ ही, बौद्धों के विरोध के कारण ब्राह्मणों के यज्ञीय चैत्यों का निर्माण भी बंद या कम हो गया। परिणामस्वरूप देश में बौद्ध चैत्यों का बाहुल्य हो जाने से मध्य-युगीन टीकाकार चैत्य का अर्थ *बौद्धायतन* ही करने लगे। किंतु वाल्मीकि ने वैदिक चैत्यों की ओर ही संकेत किया है, बौद्ध चैत्यों की ओर नहीं।

देवताओं की मूर्तियों की चर्चा केवल उत्तरकांड में पाई जाती है। वहां शिव-लिंग का उल्लेख हुआ है और रावण द्वारा उसकी पूजा का भी वर्णन आया है। इससे ज्ञात होता है कि उस परवर्ती काल में भारत में लिंग-पूजा प्रचलित हो गई थी। लक्ष्मी की कमलासीना देवी के रूप में कल्पना की जाने लगी और विष्णु की शंख, चक्र, गदा, पद्म और शार्ङ्ग-धनुष-धारी के रूप में। ब्रह्मा भी चतुर्मुख बन गए। इस प्रकार रामायण के उत्तर-काल में देवता मूर्त रूप में प्रतिष्ठित होने लगे।

मौलिक रामायण में यद्यपि देवताओं की प्रतिमाएं स्पष्टतया उल्लिखित नहीं हैं, तथापि गंध, पुष्प, नैवेद्य, धूप, दीप आदि पूजन-सामग्री का वर्णन किसी आस्पद या आधान का होना प्रमाणित करता है। पूजन-अर्चन के प्रसंग में ऐसी सामग्री का उल्लेख निरर्थक है यदि उसे चढ़ाने के लिए कोई देव-प्रतिमा समीप न हो। कौसल्या और राम द्वारा की गई देव-पूजा के वर्णन को पढ़ते समय यह स्पष्ट आभास होता है कि वे विष्णु अथवा नारायण की किसी मूर्ति की अर्चना कर रहे थे। यह मान्यता रूढ़ हो गई थी कि मनुष्य स्वयं जो अन्न खाता है वही उसके देवता भी ग्रहण करते हैं—**यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः** (२।१०३।३०)। देव-

पूजा के ही प्रसंग में आसन, प्राणायाम, ध्यान, योग, समाधि तथा अन्य व्रतों की अनेक बार चर्चा आई है।

अगस्त्य के भाई के आश्रम में यज्ञ करने के बजाय पुष्पों का उपहार चढ़ाया जाता था (पुष्पोपहारं कुर्वन्ति कुसुमैः स्वयमर्जितैः, ३।११।५२)। इन पुष्पों से स्पष्टतः वहां रखी गई प्रतिमाओं की पूजा की जाती होगी। अगस्त्य का आश्रम आजकल के मठों की तरह एक प्रतिमा-बहुल स्थान रहा होगा।

गृह्यसूत्रों में निर्दिष्ट संस्कारों का पालन भी तत्कालीन समाज में रूढ़ हो चुका था, यद्यपि रामायण में उनकी ओर संकेत-मात्र हुआ है। राम और उनके तीनों भाइयों के जन्मोपरांत उनका जातकर्म-संस्कार समारोहपूर्वक संपन्न किया गया था। इस अवसर पर दशरथ ने ब्राह्मणों को हजारों गौएं दान में दीं। ग्यारहवें दिन कुल-पुरोहित वसिष्ठ ने राजकुमारों का नामकरण-संस्कार किया। अन्य संस्कार भी यथासमय पूरे किये गए (१।१८।१६-२४)। उनका सविस्तर विवरण रामायण में उपलब्ध नहीं होता।

उस समय के धार्मिक आचारों में तीर्थ-यात्रा को भी उचित स्थान दिया गया था। मुनिवर विश्वामित्र के आगमन पर महाराज दशरथ ने कहा था कि आपके दर्शन करने से मुझे सभी पवित्र क्षेत्रों (तीर्थों) में जाने का फल प्राप्त हो गया—शुभक्षेत्रगतश्चाहं तव संदर्शनात् प्रभो (१।१८।५३)। सीता ने भी गंगा-स्थित देवताओं, तीर्थों और मंदिरों का श्रद्धापूर्वक स्मरण किया था तथा वन से लौटकर उन सबका पूजन करने का संकल्प प्रकट किया था।[1] टीकाकार गोविंद-राज ने 'समाज' शब्द का अर्थ तीर्थ-यात्रा भी किया है। उत्तरकांड के समय में गोप्रतार, गोकर्ण, कुरुक्षेत्र, प्रयाग, नैमिष और सेतुबंध की तीर्थों के रूप में प्रतिष्ठा हो चुकी थी।

गौ को वैदिक युग का-सा ही संमानपूर्ण स्थान प्राप्त था। गौ की हत्या राजा और ब्राह्मण की हत्या के समान निंदनीय थी।[2] सोती हुई गौ को पैर से छूना अथवा गौ का सारा दूध निकालकर बछड़े को भूखों मरने देना पाप समझा जाता

---

१. यानि त्वत्तीरवासीनि दैवतानि च सन्ति हि। तानि सर्वाणि यक्ष्यामि तीर्थान्यायतनानि च ।।२।५२।९०

२. राजहा ब्रह्महा गोघ्नः सर्वे निरयगामिनः ।४।१७।३६

था।[1] राम को वन भेजनेवाले को भरत ने इसी पाप का भागी वनाया था। गौओं की पवित्रता ब्राह्मणों और कुमारी कन्याओं के समकक्ष मानी जाती थी। वनवास से लौटने पर जिस जुलूस में राम नंदिग्राम से अयोध्या आये, उसके आगे-आगे ब्राह्मणों और कन्याओं के साथ मंगल-सूचक गायें भी चल रही थीं (**गावः कन्याः सहद्विजा रामस्य पुरतो ययुः**, २।१२८।३८)। राज्याभिषेक-समारोह की सामग्री में गौओं का भी समावेश किया जाता था।[2] विश्वामित्र ने राम को, ब्राह्मणों और गौओं के हितार्थ, राक्षसी ताटका को मार डालने का आदेश दिया था—**गोब्राह्मणहितार्थाय जहि दुष्टपराक्रमाम्** (१।२५।१५)।

दान या उपहार में गौएं अनिवार्य रूप से भेंट की जाती थीं। चार पुत्रों के पिता वनने पर दशरथ ने हजारों गौएं दान की थीं। राम आदि के विवाह-समारोह में उन्होंने अपने पुत्रों के हितार्थ गोदान किया था। सुवर्ण-मंडित शृंगोंवाली गौ का वछड़े और दुहने के पात्र के साथ दान करना विशेप पुण्य-कृत्य था (**सुवर्णशृंग्यः सम्पन्नाः सवत्साः कांस्यदोहनाः**, १।७२।२३)। वाल्मीकि ने त्रिजट नामक निर्धन ब्राह्मण को राम से गौएं दान में मिलने की घटना का विनोदपूर्ण वर्णन किया है। राम ने उससे कहा कि आप अपना डंडा जितनी दूर फेंक सकेंगे वहां तक की सारी गौएं आपको मिल जायंगी। यह सुनकर त्रिजट ने वड़ी तेजी के साथ धोती के पल्ले को सव ओर से कमर में लपेट लिया और सारी शक्ति लगाकर डंडे को वड़े जोर से घुमाकर फेंका। ब्राह्मण के हाथ से छूटा हुआ डंडा सरयू के उस पार जाकर हजारों गौओं से भरे हुए गोष्ठ में एक सांड़ के पास गिरा। धर्मात्मा राम ने वे सारी गौएं उसके आश्रम पर भेज दीं (२।३२।२९-४३)।

यज्ञ की दक्षिणा में सैकड़ों-हजारों गौएं दे देना सामान्य-सी वात थी। घर में संमानित अतिथि के आने पर उसे गौ समर्पित की जाती थी (**स तस्य मधुपर्कं गां पाद्यमर्घ्यं निवेद्य च**)। वनवासी ऋषि-मुनियों के लिए तो गौएं उनके धार्मिक क्रिया-कलाप का मूलाधार थीं। उनका हव्य-कव्य, जीवन-निर्वाह, अग्निहोत्र, वलि, होम, स्वाहा, वषट्कार सभी कुछ गौओं पर निर्भर था (१।५३।१३-२५)।

---

१. हन्तु पादेन गां सुप्तां यस्यार्योऽनुमते गतः ।२।७५।२२; वालवत्सां च गां दोग्धुर्यस्यार्योऽनुमते गतः ।२।७५।५४

२. आचार्या ब्राह्मणा गावः...अभिषेकाय रामस्य तिष्ठन्ति ॥२।१४।४०-१

रामायण-काल एक यज्ञ-बहुल युग था। श्रेष्ठ यज्ञों के अनुष्ठान से ही राजा-गण यश और गौरव प्राप्त करते थे। लक्ष्मण ने सुग्रीव के संमुख अपने पिता का परिचय अग्निष्टोम आदि प्रभूत दक्षिणावाले यज्ञों के कर्ता के रूप में दिया था। भरत और कैकेयी ने दशरथ का 'यायजूक' (यज्ञों का नियमित अनुष्ठान करनेवाले) के नाम से उल्लेख किया था। अयोध्यापुरी में समृद्ध, गुणी, वेद-पारंगत एवं यज्ञ-कर्ता ब्राह्मण निवास करते थे।[1] राम ने भरत से चित्रकूट पर पूछा था—"तुमने अपने राज्य में अग्निहोत्र करने के लिए बुद्धिमान, सरलचित्त एवं विधियों के ज्ञाता व्यक्ति को ही नियुक्त किया है? यज्ञों की समाप्ति और उनके प्रारंभ का उपयुक्त समय वह तुम्हें सदा बताता रहता है?"—

कच्चिदग्निषु ते युक्तो विधिज्ञो मतिमानृजुः।
हुतं च होष्यमाणं च काले वेदयते सदा॥२।१००।१२

रामायण में अनेक यज्ञ-संबंधी उपमाएं प्रयुक्त हुई हैं, जिनसे यज्ञीय विषयों की व्यापकता एवं लोकप्रियता सूचित होती है। यथा, राम कुश से छाये दक्षिणी समुद्र-तीर पर वैसे ही पहुंच गए, जैसे अग्नि वेदी में प्रविष्ट (प्रज्वलित) हो जाती है।[2] जब महाराज दशरथ, अपनी प्रतिज्ञा के विपरीत, विश्वामित्र को राम और लक्ष्मण सौंप देने को प्रस्तुत न हुए, तब महर्षि की कोपाग्नि आहुति डालने से प्रज्वलित हुई यज्ञाग्नि की तरह प्रखर हो गई।[3] अनरण्य की सेना हुताग्नि में डाले जानेवाले हव्य की तरह रावण के पराक्रम के समक्ष नष्ट हो गई—प्राणश्यत तदा सर्वं हव्यं हुतमिवानले (७।१९।१५)।

यज्ञों का संचालन होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा, इन चार ऋत्विजों के अधीन होता था। इनमें होता ऋचाओं का पाठ करके देवताओं का स्तवन करता, उद्गाता सोम-याग के समय आहुति के साथ साम-मंत्रों का गान करता, अध्वर्यु यज्ञ में प्रयुक्त होनेवाले मंत्रों का जप करता तथा ब्रह्मा समस्त कर्मकांड का निरीक्षण करता और यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करता था।

---

१. यज्विभिर्गुणसम्पन्नैर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः। भूयिष्ठमृद्धिराकीर्णा...॥२।७१।२०
२. एवमुक्तः कुशास्तीर्णे तीरे नदनदीपतेः। संविवेश तदा रामो वेद्यामिव हुताशनः॥६।२०।४१
३. सुहुत इव मखेऽग्निराज्यसिक्तः समभवदुज्ज्वलितो महर्षिवह्निः॥१।२०।२८

यज्ञ के अनुष्ठान-काल में व्यवस्था एवं अनुशासन बनाये रखने के लिए विशेष विधि-विधान थे। यज्ञ में दीक्षित होने के बाद यजमान को मन और इंद्रियों पर संयम करके दीक्षा के समस्त नियमों का निष्ठापूर्वक पालन करना पड़ता था। दीक्षा की अवधि में किसी पर क्रोध करना पुण्य का नाशक होता था। विश्वामित्र ने, अपने यज्ञ के अनुष्ठान में राक्षसों के अनाचारों की दशरथ से शिकायत करते हुए, यह स्वीकार किया था कि मैं इन निशाचरों पर क्रोध नहीं कर सकता, क्योंकि यज्ञ का नियम ही ऐसा है कि उसे आरंभ कर देने पर किसीको शाप नहीं दिया जा सकता—**तथाभूता हि सा चर्या न शापस्तत्र मुच्यते** (१।१९।८)।

यज्ञ का संचालन शास्त्रीय विधि के अनुकूल होना नितांत आवश्यक था। यथाविधि, यथाशास्त्रम्, यथान्यायम्, शास्त्रतः और विधिपूर्वम्-जैसे शब्दों का यज्ञों के अनुष्ठान का वर्णन करने में सदैव प्रयोग हुआ है। यज्ञ की सदोष विधि समस्त संबद्ध लोगों के अकल्याण का कारण होती थी।[1] अपने अश्वमेध-यज्ञ के संचालन के विषय में अपने सहायकों को दशरथ ने यह कहकर सावधान किया था कि यज्ञ में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होनी चाहिए, क्योंकि ब्रह्मराक्षस उसमें छिद्र ढूंढ़ते रहते हैं और विधिहीन यज्ञ का कर्ता शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।[2] यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए आरंभ में कुछ 'शान्तयः' अर्थात शांतिकारक क्रियाएं की जाती थीं। राजा दशरथ ने यज्ञ-भूमि पर शुभ नक्षत्रवाले दिन पदार्पण किया था।

गृहस्थ के लिए यज्ञ-दीक्षा में पत्नी का सहयोग अनिवार्य था। यज्ञ करने के लिए किसी नदी का तट, वनस्थली, आश्रम या पावन पर्वत की निकटता उपयुक्त मानी जाती थी।

यज्ञ की सामग्री को भी देवत्व की कोटि प्राप्त हो गई थी। कौसल्या ने समिधा, कुश, वेदी आदि का, राम की वन में रक्षा करने के लिए, आवाहन किया था।[3] राम अपने अभिषेक के काम आनेवाले पात्रों की प्रदक्षिणा करके वन को प्रस्थित हुए थे—**आभिषेचनिकं भाण्डं कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्** (२।१९।३१)। हवि,

---

१. यज्ञच्छिद्रं भवत्येतत्सर्वेषामशिवाय नः।१।३९।१०

२. नापराधो भवेत्कष्टो यद्यस्मिन्क्रतुसत्तमे। छिद्रं हि मृगयन्त्येते विद्वांसो ब्रह्मराक्षसाः॥ विधिहीनस्य यज्ञस्य सद्यः कर्ता विनश्यति।१।१२।१७-८

३. समित्कुशपवित्राणि वेद्यश्चायतनानि च।...त्वां रक्षन्तु नरोत्तम॥२।२५।७

घृत, पुरोडाश, कुश और यूप का एक यज्ञ में प्रयोग होने पर दूसरे यज्ञ में उपयोग निषिद्ध था।[1] ऋत्विजों को नियत की हुई दक्षिणा न देना एक निंदित कृत्य था।[2]

यज्ञों में अश्वमेध-यज्ञ की वड़ी प्रतिष्ठा थी। उसके अनुष्ठान द्वारा राजागण अपनी सार्वभौम सत्ता उद्घोपित करते थे। राम और दशरथ के अश्वमेध-यज्ञों के वर्णन से उसकी महत्ता, वैभवशालिता एवं संचालन-व्यवस्था का विशद परिचय मिलता है (७।९१-३; १।१३-४)।

यज्ञों में पशु-वलि दिये जाने के असंदिग्ध प्रमाण मिलते हैं। अश्वमेध-यज्ञ की समस्त क्रियाएं यज्ञीय अश्व की वलि पर केंद्रित होती थीं। वैदिक विधि के अनुसार संपादित रावण की अंत्येष्टि-क्रिया में पशु-वलि दी गई थी।[3] सीता की दृष्टि में 'यज्ञ के खंभे से वंधे पशु की तरह' रावण के भी प्राण वचने कठिन थे (**पशोर्यूपगतस्येव जीवितं तव दुर्लभम्**, ३।५६।९)। किंतु लक्ष्मण पशु-वलि देने की इस प्रया के विरोधी थे। कवंध के प्राण लेने के वजाय उसकी भुजाएं काट डालना उचित वताते हुए उन्होंने राम से कहा था—

निश्चेष्टानां वधो राजन् कुत्सितो जगतीपतेः।
क्रतुमध्योपनीतानां पशूनामिव राघव ॥ ३।७०।६

अर्थात हे राघव, पराक्रमहीन प्राणियों का वध करना राजा के लिए निंदित है, वैसे ही जैसे यज्ञ-भूमि के वीच पशुओं का वध प्रशंसनीय नहीं होता।

रामायण में कुछ उदाहरण ऐसे मिलते हैं, जिनमें तपस्वियों ने यज्ञाग्नि में स्वयं अपने को आहुति-रूप में होम दिया। शवरी ने राम को वताया था कि किस प्रकार उसके गुरुओं ने गायत्री-मंत्र के जप से विशुद्ध हुए अपने देह-रूपी पिंजर को मंत्रोच्चारणपूर्वक अग्नि में होम दिया था—जुहुवांचक्रिरे नीडं मन्त्रवन्मन्त्रपूजितम् (३।७४।२२)। स्वयं शवरी ने राम की आज्ञा लेकर अपने को आग में होम

---

१. हविराज्यं पुरोडाशः कुशा यूपाश्च खादिराः। नैतानि यातमानानि कुर्वन्ति पुनरध्वरे॥२।६१।१७

२. संश्रुत्य च तपस्विभ्यः सत्रे वै यज्ञदक्षिणाम्। तां चापलपतां पापं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥२।७५।२६

३. शास्त्रदृष्टेन विधिना महर्षिविहितेन च। तत्र मेध्यं पशुं हत्वा राक्षसेन्द्रस्य राक्षसाः॥६।१११।११७

दिया था (अनुज्ञाता तु रामेण हुत्वात्मानं हुताशने, ३।७४।३२)। इससे सूचित होता है कि इस प्रकार के आत्म-बलिदान के कृत्य समाज द्वारा अनुमोदित थे। ऋषि शरभंग राम का दर्शन-लाभ करने के पश्चात अग्नि प्रज्वलित कर एवं मंत्र-पाठ-पूर्वक घी की आहुति देकर स्वयं उसमें प्रविष्ट हो गए थे और अग्नि ने उनके रोम, केश, चमड़ी, हड्डी, मांस और रक्त, सबको जलाकर भस्म कर डाला (३।५।३८-९)।

रामायण के टीकाकार ने शरभंग के इस आत्म-यज्ञ का कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया है। कवि ने इस यज्ञ का जैसा, जिस प्रसंग और जैसी परिस्थितियों में वर्णन किया है, उससे यह आभास नहीं होता कि शरभंग ने अग्नि में भस्म होकर आत्म-हत्या की थी। परवर्ती साहित्य में इससे मिलता-जुलता उदाहरण राजा शूद्रक का अग्नि-प्रवेश है, जिसे एक टीकाकार ने 'सर्वस्वार' की संज्ञा दी है। कात्यायन के अनुसार सर्वस्वार वह यज्ञ है, जिसे मरणेच्छुक व्यक्ति समस्त अन्न और दक्षिणा का दान देकर संपन्न करता है (**मरणकामस्य सर्वस्वारः कृतान्नदक्षिणः**)। गोविंद-राज ने शरभंग के आत्म-यज्ञ को 'ब्रह्ममेध' के नाम से अभिहित किया है। महा-भारत के शांति-पर्व में यज्ञों के ये तीन मुख्य प्रकार बताये गए हैं—राजसूय, अश्वमेध और सर्वमेध। क्या यह सर्वमेध उस ब्रह्ममेध या सर्वस्वार का ही पर्याय है, जिसे शूद्रक और संभवतः ऋषि शरभंग ने संपन्न किया था?[1]

जड़ वस्तुओं में भी चेतना अथवा आत्मा का वास माना जाता था। कौसल्या ने पर्वत, समुद्र, आकाश, पृथ्वी, वायु, दिन, रात्रि, संध्या आदि का सचेतन प्राणियों के रूप में आवाहन करके उनसे राम की वन में रक्षा करने की प्रार्थना की थी (२।२५)। वनस्थलियां वन-देवताओं की वास-भूमि मानी जाती थीं।

नदियों का संगम पवित्र गिना जाता था। विश्वामित्र ने राम से गंगा-सरयू के संगम को प्रणाम करने के लिए कहा था। गंगा 'सरितां श्रेष्ठा', नदियों में श्रेष्ठ मान्य हो चुकी थी। विष्णु-पादों से बहकर आनेवाले (विष्णु-पाद-च्युता) उसके जल में स्नान करने से समस्त कलमप धुल जाते थे (**कृताभिषेको गंगायां बभूव गतकल्मषः**, १।४३।३०)। मृत व्यक्ति की अस्थियों का गंगा-सलिल से स्पर्श

---

१. देखिए—बी० सी० लॉ वाल्यूम (२) में एस० कृष्णस्वामी आयंगार का 'सर्वस्वार' शीर्षक लेख, पृष्ठ ४१३-४।

ही उसे स्वर्ग का अधिकारी बना देता था। राज्याभिषेक में 'गंगोदकघटा:', गंगा-जल से भरे हुए घड़े प्रयुक्त होते थे। नाव में गंगा-पार होते समय राम ने मंत्रों का जप किया तथा लक्ष्मण और सीता ने आचमन करके इस दिव्य नदी को प्रणाम किया। जब नाव मझधार में पहुंची, तब सीता ने गंगा की प्रार्थना करके अपने पति की मंगल-कामना की तथा अन्न-पान से नदी का पूजन करने का संकल्प किया (२।५२।७८-८९)।

गंगा ही नहीं, यमुना, तमसा, गोदावरी, सरयू, माल्यवती, सभीको यह पावन एवं दिव्य पद प्रदान किया गया था। नदियों पर इस दिव्यत्व की भावना का आरोप यह सूचित करता है कि प्राचीन भारतीय जल की महत्ता और श्रेष्ठता को स्वीकार करते थे, वह जल जो नदियों के रूप में पृथ्वीतल पर प्रवाहित होता है और सुख-समृद्धि का वरदान वितरित करता है।

नदी-पूजा की तरह वृक्ष-पूजा भी प्रचलित थी। वृक्षों में न्यग्रोध या वरगद पवित्र गिना जाता और महावृक्ष के नाम से संबोधित किया जाता था। वन में सीता ने कालिंदी-तट पर स्थित न्यग्रोध की, नमस्कार और परिक्रमा करके, अभ्यर्थना की थी कि आपके आशीर्वाद से मेरे पति अपने व्रत को पूरा कर लें—**नमस्तेऽस्तु महावृक्ष पारयेन्मे पतिर्व्रतम्** (२।५५।२५)।

कुछ स्थान-विशेषों को अधिक मान्यता एवं श्रेष्ठता मिली हुई थी। आज की तरह तब भी गया पितरों को पिंड-दान करने का पवित्र स्थल था। विष्णु की सफल तपस्या से संबद्ध होने के कारण सिद्धाश्रम एक पावन स्थान बन गया था। नैमिषारण्य यज्ञों का अनुष्ठान करने के लिए एक आदर्श स्थल था। सिद्धों और चारणों द्वारा सेवित हिमालय पर्वत तपस्या करने के लिए अनुकूल प्रदेश था। महर्षियों की तपोभूमि चित्रकूट के शृंगों का दर्शन-मात्र करने से मनुष्य का कल्याण हो जाता था और उसकी वुद्धि मोहाच्छन्न नहीं होती थी—

> **यावता चित्रकूटस्य नरः शृंगाण्यवेक्षते।**
> **कल्याणानि समाधत्ते न मोहे कुरुते मनः॥**२।५४।३०

रामायण-काल के आते-आते वैदिक काल के प्रकृति-रूपी देवताओं का पूर्ण मानवीकरण हो चुका था और अन्य अनेक नये देवताओं का भी आविर्भाव हो गया था। उनका अमरत्व मानवीय आयु का ही अतिशयोक्तीकरण था और उनके

पदों की प्राप्ति मर्त्य मानवों के लिए सर्वथा संभव थी। देवताओं में ब्रह्मा, विष्णु और शिव की त्रिमूर्ति अग्रगण्य थी। वे क्रमशः सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के प्रेरक थे। ब्रह्म अथवा परमात्मा की कर्तृत्व-शक्ति के वे तीन रूप थे। समष्टि और व्यष्टि दोनों रूपों में उन्हें अज, अनादि, सर्वव्यापक, सर्वभूतात्मा आदि विशेषण दिये गए हैं, पर ये अधिकतर बालकांड और उत्तरकांड में ही पाये जाते हैं।

विष्णु और शिव में अपेक्षाकृत महान कौन था, इस प्रश्न के समाधान के लिए बालकांड के ७५वें सर्ग में एक कथा आती है। कहते हैं कि एक बार ब्रह्मा ने देवताओं की इस जिज्ञासा को शांत करने के लिए कि विष्णु और शिव में कौन अधिक श्रेष्ठ है, दोनों देवों में विरोध के बीज बो दिये। परिणामस्वरूप दोनों में परस्पर जीतने की इच्छा से घोर युद्ध छिड़ गया। उस समय लड़ते-लड़ते त्रिलोचन शिव का धनुष ढीला पड़ गया और विष्णु की हुंकार से वह स्तंभित हो गए। तब ऋषियों, चारणों और देवों ने उन दोनों से शांत होने की प्रार्थना की। शिव-धनुष को विष्णु के शौर्य से शिथिल हुआ देखकर देवों और ऋषियों ने विष्णु को ही ऊंचा पद प्रदान किया—**अधिकं मेनिरे विष्णुं देवाः सर्षिगणास्तथा** (१।७५।१९)—और रुद्र अपने धनुष से वंचित कर दिये गए।

यद्यपि उक्त कथा से शिव पर विष्णु की श्रेष्ठता प्रकट होती है तथापि रामायण में वैष्णवों और शैवों में किसी प्रकार के संघर्ष या वैमनस्य का संकेत नहीं मिलता। वस्तुतः विष्णु और शिव दोनों की पूजा साथ-साथ प्रचलित थी। राम जहां अयोध्या में नारायण और विष्णु की अर्चना करते हुए पाये जाते हैं, वहां वह चित्रकूट पर विष्णु के साथ-साथ शिव के लिए भी बलि अर्पित करते हुए चित्रित किये गए हैं।[1] कौसल्या ने विष्णु और शिव दोनों की पूजा की थी।[2] अयोध्या लौट चलने की प्रार्थना करते हुए भरत ने राम से निवेदन किया था कि मैं सिर झुकाकर आपसे प्रार्थना करता हूं, जिस प्रकार महेश्वर शिव सब प्राणियों पर अनुकंपा करते हैं, उसी प्रकार आप अपने बांधवों पर करुणा कीजिए।[3] पुष्पक-

---

१. वैश्वदेवबलिं कृत्वा रौद्रं वैष्णवमेव च।२।५६।३१

२. मयार्चिता देवगणाः शिवादयः।२।२५।४३

३. शिरसा त्वाभियाचेऽहं कुरुष्व करुणां मयि। बान्धवेषु च सर्वेषु भूतेष्विव महेश्वरः॥२।१०६।३१

विमान में लंका से अयोध्या लौटते समय राम ने सीता को मार्ग में सेतुवंध का दृश्य दिखलाया था, जहां भगवान शिव ने उन पर कृपा की थी—अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः (६।१२३।२०)। टीकाकार के अनुसार यहां राम महान नल-सेतु के निर्माण में शिव से मिले सहयोग, प्रसाद और आशीर्वाद के लिए कृतज्ञता-ज्ञापन कर रहे हैं, और यह जान पड़ता है कि सेतु-निर्माण के वाद राम ने स्मृति-स्वरूप समुद्र-तट पर एक शिव-लिंग स्थापित कर दिया था। उत्तरकांड के युग में भी विष्णु और शिव के संप्रदायों में कोई विरोध नहीं दिखाई देता। अपने अश्वमेध-यज्ञ में राम ने कर्दम ऋषि से इस अभिमत को समर्थन के साथ उद्धृत किया था कि जिस प्रकार अश्वमेध-यज्ञ से वढ़कर कोई यज्ञ नहीं, वैसे ही वृषभ-ध्वज से श्रेष्ठ और कोई शरण नहीं है—

नान्यं पश्यामि भैषज्यमन्तरा वृषभध्वजम्।
नाश्वमेधात्परो यज्ञः प्रियश्चैव महात्मनः॥७।९०।१२

अनेकानेक देवी-देवताओं के अस्तित्व में विश्वास होने पर भी लोगों को उनमें एकत्व का वोध था। उदाहरणार्थ, आदित्यहृदय-स्तोत्र में सूर्य को ब्रह्मा, विष्णु, शिव, स्कंद आदि के कार्यों का कर्ता और सव देवताओं की आत्मा (सर्व-देवात्मक) वताया गया है (६।१०५)। एक ही सर्वशक्तिमान परमेश्वर की सत्ता का भान तथा समस्त देवों को एक ही मूल शक्ति से ओत-प्रोत मानना एकेश्वरवाद का सूचक है।

अद्वैतवाद (जिसके अनुसार समस्त दृश्य जगत सामूहिक रूप से स्वयं परमात्मा ही है अथवा समस्त पदार्थ ईश्वर के ही विविध रूप-रूपांतर हैं) का भी आभास तव मिल जाता है जव कौसल्या ने सुर, असुर, राक्षस, पिशाच, वानर, वनमक्षिका, मच्छर, सर्प, सिंह, व्याघ्र, आकाश, पृथ्वी, ऋतु, प्रहर आदि को परमात्म-शक्ति की ही विविध अभिव्यक्तियां मानकर उन्हें अपने पुत्र की वन में रक्षा करने के लिए प्रेरित किया था।

वाल्मीकि ने देवों और मनुष्यों को जीवन के धार्मिक और व्यावहारिक दोनों क्षेत्रों में एक-दूसरे का रक्षक एवं सहयोगी वनाया है। मानवता के संरक्षक के रूप में देवताओं का चित्रण स्थल-स्थल पर हुआ है। कैकेयी का दशरथ के शपथ-ग्रहण का साक्षी वनने के लिए देवताओं को आमंत्रित करना, अपने प्रिय पुत्र की

कल्याण-कामना के लिए कौसल्या का समस्त देवों की स्तुति करना, लंका-युद्ध में राम की सहायतार्थ स्वयं इंद्र का सारथी-सहित रथ लेकर आना, सीता के प्रत्याख्यान की घटना में अग्नि और इंद्र का हस्तक्षेप करना आदि उदाहरण यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि देवगण कोई निरपेक्ष, उदासीन अथवा दिव्य प्राणी नहीं थे, वल्कि मानवों के सुख-दु:ख के सहचर वनकर जगतीतल के व्यापारों में अभिरुचि प्रकट करते रहते थे। मनुष्य भी समय-समय पर देवों की सहायता किया करते थे। इंद्र को शंवर असुर से युद्ध करने में दशरथ से सहायता मिली थी।[1] कुशनाभ-कन्याओं के आख्यान से विदित होता है कि देवता भी मर्त्य सुंदरियों को पाने के लिए कैसे लालायित रहते थे। सच पूछा जाय तो प्राचीन भारत में, देवों का मानवों से कोई नितांत पार्थक्य नहीं था और अमरता के धनी माने जाने पर भी उनमें मनुष्यों के गुण-दोष होते थे।

दुष्ट, अथवा मानवों के लिए अनिष्टकारी, प्राणियों (भूतों) की पूजा-अर्चना भी प्रचलित थी। कौसल्या ने वन में राम की रक्षा के लिए भूतों की अभ्यर्थना की थी।[2] नर-मांस-भोजी तथा रौद्र जातियों का भी उन्होंने स्तवन किया था, जिससे वे उनके प्रिय पुत्र का वन में अनिष्ट न करें।[3] उत्तरकांड में शिव को 'भूतपति' कहा गया है (७।१६।४३)। समुद्र-तरण से पहले हनुमान ने भूतों को प्रणाम किया था—**भूतेभ्यश्चांजलिं कृत्वा चकार गमने मतिम्** (५।१।८)।

लोगों का नैतिक स्तर वहुत ऊंचा था। अयोध्या के नागरिकों के विषय में वाल्मीकि कहते हैं कि वे सभी प्रसन्न, धर्मात्मा, निर्लोभ, सत्यवादी और अपने-अपने धन से संतुष्ट रहनेवाले थे। वहां कोई कामी, कृपण, क्रूर, मूर्ख अथवा नास्तिक पुरुष देखने को भी नहीं मिलता था। वहां के स्त्री-पुरुष सभी संयमी तथा शील और सदाचार की दृष्टि से महर्षियों की भांति विशुद्ध थे। अपवित्र

---

१. पुरा देवासुरे युद्धे सह राजर्षिभिः पतिः। अगच्छत्त्वामुपादाय देवराजस्य साह्यकृत्॥२।९।१

२. मयार्चिता देवगणाः...भूतगणाः सुरोरगाः। अभिप्रयातस्य वनं चिराय ते हितानि कांक्षन्तु दिशश्च राघव॥२।२५।४३

३. नृमांसभोजना रौद्रा ये चान्ये सर्वजातियाः। मा च त्वां हिंसिषुः पुत्र मया सम्पूजितास्त्विह॥२।२५।२०

भोजन करनेवाला, दान न देनेवाला तथा मन को काबू में न रखनेवाला मनुष्य कोई दिखाई नहीं देता था। क्षुद्र, चोर,दुराचारी अथवा वर्णसंकर का नाम भी नहीं था। वहां के ब्राह्मण सदा अपने कर्मों में लगे रहते, इंद्रियों पर काबू रखते, दान और स्वाध्याय करते तथा प्रतिग्रह से बचे रहते थे। उस नगरी में कोई ऐसा नहीं था, जो नास्तिक, दूसरों के दोष ढूंढ़नेवाला, गंवार, व्रतों का पालन न करनेवाला, दीन, विक्षिप्त-चित्त अथवा दुःखी हो। सभी वर्णों के लोग देवता और अतिथियों के पूजक, कृतज्ञ, शूरवीर, दीर्घजीवी तथा धर्म और सत्य का आश्रय रखनेवाले थे (१।६)।

किसी कर्म के औचित्य या उसकी नैतिकता के ये चार मानदंड थे—(१) परलोक का विचार, (२) गुरुजनों की आज्ञा, (३) दूसरों पर प्रभाव तथा (४) अंतरात्मा की आवाज।

नैतिक सदाचार धर्म का ही एक अभिन्न अंग था और उस पर रामायण में इतना बल दिया गया है कि जान पड़ता है जैसे सदाचारिता ने ही कविता का रूप धारण कर लिया हो। प्रतिज्ञा-पालन रामायणकालीन सदाचार का आधार-स्तंभ था। कैकेयी को दिये गए वचन तोड़ने की अपेक्षा महाराज दशरथ ने अपने प्रिय पुत्र के विछोह और परिणामतः स्वयं अपनी मृत्यु को स्वीकार करना श्रेयस्कर समझा। राम अपनी दृढ़प्रतिज्ञता के लिए प्रातःस्मरणीय रहे हैं। **रामो द्विर्नाभिभाषते** (२।१८।३०)—राम दुबारा किसी बात को नहीं कहते—वाल्मीकि की यह उक्ति युग-युगों से इस देश में प्रख्यात रही है।

सत्य ही सर्वत्र परम धर्म के रूप में समादृत हुआ है। विभिन्न कोटि के असत्यों के लिए अलग-अलग पाप निर्धारित किया गया है—'एक घोड़े के विषय में झूठ बोलने से सौ घोड़े मारने का दोष लगता है, एक गाय के विषय में मिथ्या भाषण करने से हजार गायों की हत्या का प्रायश्चित्त लगता है तथा एक मनुष्य के विषय में असत्य बोलने से आत्मघात और स्वजन-वध का पाप होता है।'[1] कृतघ्नता को रामायण में चरम दोष माना गया है। राम के उपकार को भूल जानेवाले सुग्रीव को फटकारते हुए लक्ष्मण ने कहा था कि जो व्यक्ति मित्रों के द्वारा अपना

---

१. शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं तु गवानृते। आत्मानं स्वजनं हन्ति पुरुषं पुरुषानृते॥४।३४।९

कार्य सिद्ध करके वदले में उनका उपकार नहीं करता, वह कृतघ्न सव प्राणियों के लिए वध करने-योग्य है;[1] गो-हत्यारे, शरावी, चोर और व्रत-भंग करनेवाले के लिए सत्पुरुषों ने प्रायश्चित्त का विधान किया है, किंतु कृतघ्न के उद्धार का कोई उपाय नहीं वताया है—

> गोघ्ने चैव सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा।
> निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥४।३४।१२

वासनाओं पर नियंत्रण रखना नैतिक सदाचार का मूल मंत्र था। वशीभूत चित्त ही आध्यात्मिक मुक्ति का प्रवेश-द्वार है। यशस्वी एवं आप्त जनों को वाल्मीकि ने सदा आत्मवान, नियतात्मा, वशी और जितेंद्रिय-जैसे विशेषणों से संवोधित किया है। आध्यात्मिक सफलता उग्र तपस्या द्वारा ही संभव है, इंद्रिय-लोलुपों के लिए वह दुष्प्राप्य है।[2] इसीलिए वुद्धिमान लोग नाना प्रकार के नियमों से यत्नपूर्वक अपने को क्लेश देकर धर्म का साधन करते हैं, क्योंकि सुख से सुख नहीं मिल सकता।[3]

दान देने की प्रवृत्ति भी धर्म और सदाचार का—लौकिक और पारलौकिक कल्याण का—साधन मानी जाती थी। याचक को मुंहमांगी वस्तु दे देना ही दान का सर्वोच्च आदर्श था। भूदान का महत्व तव भी सर्वोपरि था। अंधमुनि ने दशरथ के हाथों मारे गए अपने इकलौते पुत्र को यह आशीर्वाद दिया कि गोदान और भूदान करनेवालों को जो श्रेष्ठ गति प्राप्त होती है, वही तुम्हें भी मिले।[4] दान-कृत्य 'पूर्त' कहलाते थे (१।२८।८)।

आर्यों में शव का दाह-संस्कार किया जाता था। दशरथ और अंधमुनि के परिवार की दाह-क्रिया की गई थी। इसी प्रकार राक्षसों में रावण और वानरों

---

१. पूर्वं कृतार्थो मित्राणां न तत्प्रतिकरोति यः। कृतघ्नः सर्वभूतानां स वध्यः प्लवगेश्वरः ॥४।३४।१०

२. ब्रह्मलोकं...जितमुग्रेण तपसा दुष्प्रापमकृतात्मभिः। ३।५।८

३. आत्मानं नियमैस्तैस्तैः कर्षयित्वा प्रयत्नतः। प्राप्यते निपुणैर्धर्मः न सुखाल्लभते सुखम् ॥३।९।३१

४. या गतिः...भूमिदस्य गोसहस्रप्रदातॄणां च...तां गच्छ पुत्रक ॥२।६४।४३-४

में वाली का अग्नि-संस्कार किया गया था। प्रत्येक पिता की यह हार्दिक अभिलाषा होती थी कि मेरी अंत्येष्टि-क्रिया मेरे ही किसी औरस पुत्र द्वारा संपन्न हो। इंद्रजित की मृत्यु पर रावण ने विलाप किया कि उचित तो यह था कि मेरा प्रेत-कार्य (अंत्येष्टि) तुम्हारे हाथों होता, परंतु आज तुम मुझे यह काम सौंपकर प्रतिकूल आचरण कैसे कर रहे हो?[1] पिता का दाह-संस्कार करनेवाला पुत्र सौभाग्यशाली माना जाता था।[2] राम ने चित्रकूट पर अपने हतभाग्य को कोसते हुए कहा था कि एक तो मैं अपने पिता की मृत्यु का कारण बना और दूसरे, उनके अवशेषों का समुचित संस्कार भी न कर सका।[3] उनकी दृष्टि में भरत और शत्रुघ्न ही सफलजन्म थे, क्योंकि वे अपने पिता की और्ध्वदेहिक क्रिया स्वयं संपन्न कर सके थे।[4] पुत्र की अनुपस्थिति में पिता की दाह-क्रिया स्थगित कर दी जाती थी। महाराज दशरथ का शव भरत के आने तक तैल-द्रोणि में सुरक्षित रख दिया गया था, क्योंकि पुत्र के बिना पिता का संस्कार कर देना उन्हें रुचा नहीं—**ऋते तु पुत्राद्दहनं महीपतेर्नारोचयंस्ते सुहृदः समागताः** (२।६६।२७)। यह उल्लेखनीय है कि रामायण में तीन प्रमुख नृपतियों के वैभवशाली अंतिम संस्कार का वर्णन मिलता है, पर उनमें से वाली को ही पुत्र की उपस्थिति में चिर निद्रा में लीन होने का सौभाग्य मिल सका।

रामायणकालीन आर्यों में अंतिम संस्कार की विधि बहुत-कुछ वैसी ही थी जैसी वर्तमान समय में हिंदुओं में प्रचलित है। एक उल्लेख्य अंतर यह है कि तब अस्थि-संचय की क्रिया आज की भांति दूसरे दिन न की जाकर तेरहवें दिन की

---

१. मम नाम त्वया वीर गतस्य यमसादनम्। प्रेतकार्याणि कार्याणि विपरीते हि वर्तसे ॥६।९२।१४

२. सिद्धार्थाः पितरं वृत्तं तस्मिन्काले ह्युपस्थिते। प्रेतकार्येषु सर्वेषु संस्करिष्यन्ति भूमिपम् ॥२।८६।१८; २।५१।२० भी देखिए।

३. किं नु तस्य मया कार्यं दुर्जातेन महात्मनः। यो मृतो मम शोकेन स मया न च संस्कृतः ॥२।१०३।९

४. अहो भरतः सिद्धार्थो येन राजा त्वयानघ। शत्रुघ्नेन च सर्वेषु प्रेतकृत्येषु सत्कृतः ॥२।१०३।१०

जाती थी।[1] दाह-संस्कार के पश्चात पितरों के लिए उदक (जल-दान) तथा निर्वाप (पिंड-दान) क्रियाएं की जाती थीं।

किसी व्यक्ति के पूर्वज दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे जो हाल ही में परलोकवासी हुए हैं और इस कारण जिनका अत्यंत श्रद्धापूर्वक स्मरण और संमान किया जाता है। ऐसे पूर्वज 'प्रेत' नाम से पहचाने जाते हैं। दूसरे वे जो दीर्घ काल पहले दिवंगत हुए थे और अब अर्ध-विस्मृत हो जाने के कारण जिनके प्रति हमारा अधिक ममत्व नहीं जगता। ऐसे पूर्वज 'पितर' कहलाते हैं। सद्यःमृत प्रेतों के लिए प्रेत-कार्य तथा निर्वाप-क्रिया की जाती थी, जैसाकि भरत ने अपने पिता की मृत्यु के बारहवें दिन किया था। तत्पश्चात ये क्रियाएं यदा-कदा ही संपन्न होती थीं और प्रेतों को उनके भावी पितर-पद की ओर अग्रसर करती थीं। पितरों के लिए दैनिक पितृ-यज्ञ और वार्षिक श्राद्ध किये जाते थे। उन्हें पितृ-देवता की प्रतिष्ठा देकर अन्य देवताओं के साथ यज्ञांश का अधिकारी बना दिया गया।

इन श्राद्धों का एक प्रमुख लक्षण आज की तरह ब्राह्मणों को भोजन कराना और दक्षिणा भेंट करना था। ये ब्राह्मण दिवंगत आत्माओं के प्रतिनिधि-रूप माने जाते थे। पितरों की स्मृति में ये श्राद्ध नियत समय पर वर्ष में कम-से-कम एक बार संवत्सरी के दिन किये जाते थे। प्रत्येक पुत्र से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह एक बार गया जाकर अपने पितरों के लिए श्राद्ध-कर्म अवश्य करे। उस युग के प्रत्येक पिता की इस हार्दिक आकांक्षा का राम ने भी यह कहकर अनुमोदन किया था कि लोग अनेक पुत्रों की कामना इसलिए करते हैं कि उनमें से कोई एक तो गया जाकर श्राद्ध करेगा ही—

> एष्टव्या बहवः पुत्रा गुणवन्तो बहुश्रुताः।
> तेषां वै समवेतानामपि कश्चिद् गयां व्रजेत्॥२।१०७।१३

---

१. ततः प्रभातसमये दिवसे च त्रयोदशे।...शोधनार्थमुपागतः। चितामूले...॥ २।७७।४-५

: १३ :

दर्शन

कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धांत, जो भारतीय दर्शन की आधार-शिला है, रामायण में सर्वत्र स्वीकृत एवं समर्थित है। 'कर्म ही समस्त कारणों का—सुख-दुःख के साधनों का—मूल प्रयोजन है।'[१] राम की संमति में 'यह संसार शुभाशुभ कार्य करने और उनका फलाफल भोगने की एक कर्म-भूमि है; अग्नि, वायु और सोम भी अपने-अपने कर्मों के परिणाम से बच नहीं सकते।'[२] कर्म-सिद्धांत कार्य-कारण सिद्धांत का ही अनुगमन करता है—**यादृशं कुरुते कर्म तादृशं फलमश्नुते** (६ । १५ । २३)—जैसा बोओगे वैसा काटोगे, जैसा करोगे वैसा भरोगे।[३] कर्ता को अधर्म के फल का भी वैसे ही भागी बनना पड़ता है जैसे धर्म के फल का; धर्माचरण अधर्माचरण को निष्फल नहीं कर सकता; दोनों का परिणाम अवश्यंभावी है।[४]

कर्म का सिद्धांत मनुष्यों के सुख-दुःख का, उनके भाग्य-वैषम्य का एक तर्कसंगत स्पष्टीकरण उपस्थित करता है। राम ने स्वीकार किया था कि राज्य का नाश,

---

१. कर्म चैव हि सर्वेषां कारणानां प्रयोजनम्। श्रेयः पापीयसां चात्र फलं भवति कर्मणाम् ॥६।६४।७

२. कर्मभूमिमिमां प्राप्य कर्तव्यं कर्म यच्छुभम्। अग्निर्वायुश्च सोमश्च कर्मणां फलभागिनः ॥२।१०९।२८

३. यदाचरति कल्याणि शुभं वा यदि वाशुभम्। तदेव लभते भद्रे कर्ता कर्मजमात्मनः ॥२।६३।६; शुभकृच्छुभमाप्नोति पापकृत्पापमश्नुते ।६।१११।२६

४. न तु धर्मोपसंहारमधर्मफलसंहितम्। तदेव फलमन्वेति धर्मश्चाधर्मनाशनः ॥ ५।५१।२८

स्वजनों से वियोग, पिता का मरण और पत्नी का अपहरण, इन आपत्तियों का तांता मेरे पूर्व-जन्म के पापों का ही फल है।[1] लंका में बंदिनी सीता यह सोचती रहती थीं कि जन्मांतर में मैंने ऐसा कौन-सा महान पाप किया था, जिसके फलस्वरूप मुझे अब यह दारुण कष्ट भोगना पड़ रहा है।[2] कैकेयी की निर्मम मांगों से होने-वाले कष्ट को दशरथ ने अपने किसी पुराकृत अशुभ कर्म का ही परिणाम बताया था—दुःखमेवंविधं प्राप्तं पुराकृतमिवाशुभम् (२।१२।७९)।

पाप और उसका फल, दोनों में संगति और समानता देखी जा सकती है; जिस प्रकार का पाप-कर्म होगा, पापी को उसका परिणाम भी उसी प्रकार का भोगना पड़ेगा। राम के अनुसार 'कौसल्या ने पूर्व-जन्म में स्त्रियों का पुत्रों से विछोह कराया होगा, तभी इस जन्म में उन्हें भी ऐसा ही पुत्र-वियोग सहना पड़ा।'[3] स्वयं कौसल्या की भी यह मान्यता थी कि निश्चय ही मैंने पहले, अधम बुद्धि से, बछड़ों के दूध पीने के समय उनकी माताओं के स्तनों को काट डाला था, इसी कारण (नियति द्वारा) मैं भी विवत्सा कर दी गई हूं।[4] उत्तरकांड में परित्यक्ता सीता का अपने विषय में यह विचार था कि मैंने पूर्व-काल में किसी पति को उसकी पत्नी से वियुक्त कराया होगा—किं नु पापं कृतं पूर्वं को वा दारैर्वियोजितः (७।४८।४)।

यदि पापपूर्ण कृत्य कर्ता के लिए दुःखों और यातनाओं का कारण बनते है तो शुभ कर्म उसकी सुख-समृद्धि के वाहक। सीता का राम की हृदयेश्वरी बन जाने का रहस्य, अयोध्या की महिलाओं के अनुसार, पूर्व समय में किया गया उनका कोई महान तप ही था (२।१६।४०-४१)। जब संपाति ने समुद्र-तीर पर

---

१. पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि पापानि कर्माण्यसकृत्कृतानि। तत्रायमद्यापतितो विपाको दुःखेन दुःखं यदहं विशामि॥३।६१।४-६

२. कीदृशं तु महत्पापं मया देहान्तरे कृतम्। येनेदं प्राप्यते घोरं महादुःखं सुदारुणम्॥५।२५।१८

३. नूनं जात्यन्तरे तात स्त्रियः पुत्रैर्वियोजिताः। जनन्या मम सौमित्रे तदद्यैतदुपस्थितम्॥२।५३।१९

४. निःसंशयं मया मन्ये पुरा वीर कदर्यया। पातुकामेषु वत्सेषु मातॄणां शातिताः स्तनाः॥२।४३।१७

वानरों को बैठे देखा, तब उसका चित्त प्रसन्न हो गया और वह हर्ष से भरकर कहने लगा—"जैसे लोक में पूर्व-जन्म के कर्मानुसार मनुष्य को उसके किये का फल स्वतः प्राप्त होता है, उसी प्रकार आज दीर्घ काल के पश्चात यह भोजन मुझे मिल रहा है; अवश्य ही यह मेरे किसी कर्म का फल है।"[1] महर्षिगण अपनी उग्र तपस्या के फलस्वरूप ही दिव्य लोकों को प्राप्त करते थे—**तपांस्युग्राणि चास्थाय दिवं प्राप्ता महर्षयः** (२।१०९।२९)।

किसी भी व्यक्ति को ऐसे किसी कर्म का फल नहीं भोगना पड़ता, जिसे उसने स्वयं न किया हो। साथ ही, कोई कर्म न तो नष्ट होता है और न किसी और के मत्थे मढ़ा जा सकता है। उत्तरकांड में जिस ब्राह्मण का पुत्र असमय ही काल-कवलित हो गया था, उसे आश्चर्य था कि मेरे किस दुष्कृत से मेरा इकलौता पुत्र मर गया, जब मैंने कभी कोई असत्य-भाषण नहीं किया और न कोई हिंसा या हत्या ही की है (७।७३।७-८)। दूसरों के दुष्कर्मों के हम दोषी नहीं ठहराये जा सकते। स्वामी के जघन्य आदेशों का पालन करनेवाला सेवक दंडनीय नहीं होता। लंका-विजय के बाद हनुमान सीता को डराने-धमकानेवाली राक्षसियों को यमलोक भेज देना चाहते थे, पर सीता ने यह कहकर उन्हें रोका कि **विधेयानां च दासीनां कः कुप्येद्वानरोत्तम**, हे वानरश्रेष्ठ, अपने स्वामी की आज्ञा के अनुसार काम करने-वाली इन दासियों पर कौन क्रोध करेगा? तुम इन्हें मारने की बात न कहो। मुझे यह सब भाग्य के दोष और अपने पहले के दुष्कृत्यों के कारण ही प्राप्त हुआ है; मैंने स्वकृत ही भोगा है—**मयैतत्प्राप्यते सर्वं स्वकृतं ह्युपभुज्यते** (६।११३।३६-८)।

रामायण के अनुसार मनुष्य का कोई भी कर्म, चाहे वह अज्ञान-वश ही क्यों न किया गया हो, निष्फल नहीं जा सकता। कर्मों के आरंभ में जो मनुष्य उनके फल की गुरुता, लघुता अथवा दोषपूर्णता का मूल्यांकन नहीं करता, वह सर्वथा मूर्ख कहलाता है।[2] जब काल की प्रेरणा से प्राणियों का अंत समय निकट आ जाता है, तब वे अपने कर्मों में प्रमाद करने लगते

---

१. विधिः किल नरं लोके विधानेनानुवर्तते। यथायं विहितो भक्ष्यश्चिरान्मह्य-मुपागतः॥४।५६।४

२. गुरुलाघवमर्थानामारम्भे कर्मणां फलम्। दोषं वा यो न जानाति स बाल इति ह्युच्यते॥२।६३।७

हैं।[1] जटायु ने रावण से कहा था कि तुम स्वयं अपने विनाश के लिए (परस्त्री-हरण-जैसे) उन पापपूर्ण कृत्यों को करने पर उतारू हो गए हो, जो अंत समय निकट आने पर ही लोग कर बैठते हैं। ऐसा कौन व्यक्ति होगा, चाहे वह लोकाधिपति ब्रह्मा ही क्यों न हो, जो पाप से संबंधित कोई कर्म करे और फिर भी उसके फल से बचे रहने की आशा करे (३।५१। ३१-२)? जो व्यक्ति कार्य-कारण के सिद्धांत को बिना समझे-बूझे कर्म करने को व्यग्र हो उठता है, वह फल-प्राप्ति के समय वैसे ही दुःखी होता है जैसे आम के वृक्षों को काटकर पलाश-वृक्षों को सींचनेवाला।[2]

इस स्थल पर एक प्रासंगिक प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य के कर्म कब फलीभूत होते हैं। वाल्मीकि का उत्तर यह है कि जिस प्रकार धान के पकने में समय लगता है, वैसे ही कर्मों का फल समय आने पर प्रकट होता है——**कालोऽप्यङ्गीभवत्यत्र सस्यानामिव पक्तये** (३।४९।२७)। मनुष्य को 'दशायोग' अर्थात पूर्व-कर्मों के फलीभूत होने के समय ही मधुर या कटु अनुभव उठाने पड़ते हैं। अज्ञात गुण-दोषवाले अथवा अनिश्चित फलवाले कर्मों का परिपाक तो उन्हें क्रियान्वित करने से ही हो सकता है——कर्मों में निहित फलाफल उद्योग द्वारा ही प्रकाशित किया जा सकता है।[3] यही तर्क देकर लक्ष्मण ने राम को सीतान्वेषण के लिए प्रोत्साहित किया था। कर्म की सामर्थ्य भी उसके फलोदय में शीघ्रता या विलंब का कारण बनती है। किसी नितांत जघन्य अथवा अतिशय श्रेष्ठ कर्म का फल अपेक्षाकृत शीघ्रता से मिलते हुए भी देखा जाता है। जब रावण ने कुंभकर्ण को बताया कि किस प्रकार युद्ध में मेरा पासा पलटता जा रहा है, तब कुंभकर्ण ने उससे कहा कि (सीता-हरण-जैसे) पाप-कर्म का फल तुम्हें (इसी जन्म में) बहुत शीघ्र मिल रहा है।[4] दशरथ को भी

---

१. यदा विनाशो भूतानां दृश्यते कालचोदितः। तदा कार्ये प्रमाद्यन्ति नराः कालवशं गताः ॥३।५६।१६

२. अविज्ञाय फलं यो हि कर्म त्वेवानुधावति। स शोचेत्फलवेलायां यथा किंशुकसेचकः ॥२।६३।९

३. अदृष्टगुणदोषाणामध्रुवाणां तु कर्मणाम्। नान्तरेण क्रियां तेषां फलमिष्टं च वर्तते ॥३।६६।१६

४. शीघ्रं खल्वभ्युपेतं त्वां फलं पापस्य कर्मणः। निरयेष्वेव पतनं यथा दुष्कृतकर्मणः ॥६।६२।३

अंधमुनि के पुत्र की हत्या का परिणाम इसी जन्म में राम-वियोग के रूप में मिल गया।

ऋषि-मुनियों द्वारा प्रदत्त शाप भी कर्म-सिद्धांत का—अपराधी को अपने किये का फल चखाने का—ही दृष्टांत उपस्थित करते हैं। किंतु एक स्थल पर कवि ने अपराधी को दंडित करने की इस मनोवृत्ति का विरोध किया है। 'श्रेष्ठ पुरुष दूसरों की बुराई करनेवाले पापियों के अपराध नहीं ग्रहण करते—वे बदले में उनका अहित नहीं करना चाहते। इस सदाचार की सदा रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि उत्तम आचार ही सत्पुरुषों का भूषण है। पापात्मा हों या पुण्यात्मा, अथवा, वध के योग्य अपराध करनेवाले ही क्यों न हों, उन सब पर श्रेष्ठ पुरुष को दया करनी चाहिए, क्योंकि ऐसा कोई भी नहीं है, जिससे कभी अपराध होता ही न हो। जो लोग हिंसा में सुख मानते और सदा पाप का आचरण करते हैं, उन क्रूर स्वभाव-वाले पापियों का भी अहित कभी नहीं करना चाहिए (६।११३।४२-४)। **पूर्वापराधिनं हत्वा न हि धर्मेण युज्यते** (२।९६।२४)—पहले के अपराधी को मारने से धर्म की प्राप्ति नहीं होती।

ऐसी स्थिति में सर्वोत्तम मार्ग क्या यह नहीं होगा कि सब कुछ उस जगन्नि-यंता परमेश्वर पर ही छोड़ दिया जाय, जो सब प्राणियों के लिए कर्मानुसार फला-फल का विधान करता है? हमारी अंतरात्मा हमारे शुभ और अशुभ विचारों और शब्दों की साक्षी है। 'यह समस्त चराचर जगत विधाता का रचा हुआ है और उसीने सबको सुख-दुःख से संयुक्त किया है। तीनों लोकों के प्राणी विधाता के विधान का उल्लंघन नहीं कर सकते, क्योंकि सभी उसके अधीन हैं' (४।२४। ४२-३)।

इस कठोर कर्म-सिद्धांत के कुछ अपवाद भी हैं। पाप का फल भोगना सदैव अनिवार्य नहीं होता। पवित्र कथाओं का श्रवण करने, पावन तीर्थों की यात्रा करने, पुण्यात्माओं के दर्शन करने तथा श्रेष्ठ नदियों में स्नान करने से भी पाप का नाश हो सकता है। उदाहरणार्थ, सारे पाप रामचरित अथवा गंगावतरण की कथा सुनने से धुल जाते हैं (**सर्वपापैः प्रमुच्यते**)। गंगा-स्नान भी मनुष्यों को गत-कल्मष बनाने में समर्थ है। यज्ञ और तपस्या भी पाप-क्षालन करने में सहायक होते हैं। उत्तरकांड के अनुसार राजा से दंडित होने पर पापी को नरक का भय नहीं रहता—**त्वया शस्तस्य राजेन्द्र नास्ति मे नरकाद् भयम्** (७।५९(२)।३१)।

मनुष्य जिसे वोता नहीं उसे काटता भी नहीं, इस नियम के विपरीत ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जिनमें व्यक्ति-विशेष दूसरों के शुभाशुभ कर्मों का फलाफल भोगता है। त्रिशंकु के आख्यान में मुनि विश्वामित्र की तपस्या के वल पर राजा सदेह स्वर्ग-गमन करते हैं। राम गृध्रराज जटायु का विधिपूर्वक संस्कार करके उन्हें उत्तम गति प्राप्त करने का वरदान देते हैं—**मया त्वं समनुज्ञातो गच्छ लोकाननुत्तमान्** (३।६८।३०)। उत्तरकांड में असमय मरनेवाले वालक का पिता यह सोचता है कि मेरे वालक की अकाल मृत्यु का कारण राम का ही कोई दुष्कृत है, क्योंकि अन्य राज्यों में वालकों की मृत्यु का कोई भय नहीं होता (७।७३।१०-११)। अंग-राज्य में पड़नेवाले दुर्भिक्ष का कारण वहां के राजा रोमपाद का ही कोई व्यतिक्रम था, जिससे समस्त प्रजा त्रस्त और व्यथित हो गई थी (१।९।८-९)। यह मान्यता, संभव है, प्रजा के ही किसी दोष को ढकने का एक प्रकार रही हो। इसी कोटि में यह विश्वास भी आता है कि पत्नी, अपनी किसी विशेपता के विना ही, पति के भाग्य को प्राप्त करती है—**भर्तृभाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ** (२।२७।५)।

कर्म-फल की प्राप्ति के लिए जन्म-मरण की शृंखला अनिवार्य है, अतः जीव के लिए पुनर्जन्म का सिद्धांत स्वीकार कर लिया गया। आत्मा की आयु शरीर की आयु से नियंत्रित नहीं होती, यह विश्वास सर्वमान्य था। राम क्रोध में भरकर अकेले ही अयोध्या और समस्त पृथ्वी को अपने पराक्रम से जीत सकते थे, किंतु वह अधर्म और परलोक से डरते थे, इसलिए अपना वलपूर्वक अभिषेक नहीं करवाना चाहते थे (२।५३।२५-६)। रामायण में सर्वत्र इस परलोक के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है और उसकी प्राप्ति सदाचारी जीवन से ही संभव मानी गई है।[1] कैकेयी ने सत्य-भाषण को 'परत्रवास' (परलोक) में लोगों के लिए हितकर माना था।[2] राम की यह श्रद्धा थी कि धर्म सनातन है और आत्मा शाश्वत है, अतएव मेरे धर्मात्मा पिता निश्चय ही स्वर्ग पहुंचे होंगे—**न स शोच्यः पिता तात स्वर्गतः सत्कृतः सताम्** (२।१०५।३२)।

---

१. तुलना कीजिए—धार्मिकेणानृशंसेन नरेण गुरुवर्तिना। भवितव्यं नरव्याघ्र परलोकं जिगीषता ॥२।१०५।४०; २।६०।६ भी देखिए।

२. परत्रवासे हि वदन्त्यनुत्तमं तपोधनाः सत्यवचो हितं नृणाम्।२।११।२९

किंतु स्वर्ग में निवास स्थायी नहीं हो सकता । 'पुण्य-संक्षय' होने पर प्राणी को स्वर्ग से च्युत होकर पुनः मृत्युलोक में आना पड़ता है । क्षीण-पुण्य ग्रहों के पृथ्वी पर गिरने के अनेक उल्लेख आये हैं ।[1] ययाति आदि राजाओं के कई आख्यान भी मिलते हैं, जिनमें पुण्य का क्षय होने पर देवलोक से भ्रष्ट होना पड़ा है ।

कर्मवाद में लोगों की यह दृढ़ श्रद्धा तथा दैव के विधान में उनकी यह अटल आस्था जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण को निराशामय बनाने में सहायक हुई। स्थान-स्थान पर चमत्कारी घटनाओं का विवरण प्राप्त होने पर भी पद-पद पर मृत्यु की, क्षय और नाश की, प्रकृति के अमिट नियमों की मंडराती छाया का आभास होता है। राम के अनुसार 'मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि वह पराधीन होने के कारण असमर्थ है। काल उसे इधर-उधर खींचता रहता है। संयोग का अंत वियोग और जीवन का अंत मरण है। जैसे पके फल की अंतिम गति गिर पड़ना है, वैसे ही जन्मे हुए मनुष्य का मरण से पीछा नहीं छूट सकता। जिस प्रकार मजबूत खंभोंवाला मकान भी पुराना होने पर गिर जाता है, उसी प्रकार जरा और मृत्यु के वश में पड़े हुए मनुष्य भी नष्ट हो जाते हैं। दिन और रात लगातार बीत रहे हैं और संसार में सभी प्राणियों की आयु का तीव्र गति से नाश करते जाते हैं' (२।१०५।१५-९)।

इसलिए तत्कालीन मनीषियों ने अपने लौकिक आदर्शों को मर्त्य जीवन की क्षणभंगुरता की प्रगाढ़ अनुभूति पर आधारित किया। लोग सूर्योदय होने पर प्रसन्न होते हैं, सूर्यास्त होने पर भी आह्लादित होते हैं, किंतु यह नहीं जानते कि प्रतिदिन उनके जीवन का ह्रास हो रहा है। जैसे महासागर में बहते हुए दो काठ कभी एक-दूसरे से मिल जाते हैं और कुछ समय के बाद अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार स्त्री, पुत्र, कुटुंब और धन भी मिलकर बिछुड़ जाते हैं, इनका वियोग अवश्यं-भावी है (२।१०५।२४-७)।

निराशा के इन घने बादलों में कभी-कभी आशा की भी एक झीनी झलक दिखाई दे जाती है। यह सच है कि जीवन दुःखमय है, पर उसे नष्ट कर देना भी

---

१. पतितो भूतले शैलात्क्षीणपुण्य इव ग्रहः ।७।१४।२२; ययातिमिव पुण्यान्ते देवलोकात्परिच्युतम् ।२।१३।१

तो सरल नहीं है—**यथा च मन्ये दुर्जीवमेवं न सुकरं ध्रुवम्** (२।५७।२२)। भूख-प्यास, शोक-मोह और जरा-मरण के द्वंद्व तो सब प्राणियों में समान रूप से पाये जाते हैं, वे सब अपरिहार्य हैं, उनसे मुक्ति पाना दूभर है, अतः उनसे शोकाकुल होना उचित नहीं।[1] यदि यह जीवन पानी के बुलबुले के समान क्षणिक है, तो फिर कौन किसके लिए शोक करे ?[2] यह जानते हुए कि यह जीवन उस बहते हुए पानी के सोते की तरह है जो कभी लौट कर नहीं जाता, हमें सदा (धर्म-मार्ग से) सुख-प्राप्ति के लिए उद्योग करना चाहिए, क्योंकि समस्त प्रजा का यही ध्येय है।[3] जीवन की यात्रा हमारे पूर्वज सदा इसी प्रकार तय करते आये हैं; जिस मार्ग से वे गए हैं, उस पर जाना अनिवार्य है। जीवन के इस अनादि-अनवरत क्रम में किसी-को ननु-नच करने का अवकाश ही कहां है! (२।१०५।२९-३०)।

परवर्ती साहित्य एवं उपनिषदों के उपदेशों के विपरीत वाल्मीकि ने जीवन को कहीं बंधन-रूप में चित्रित नहीं किया है; जन्म-मरण के चक्र से मोक्ष पाने को उन्होंने कहीं जीवन का ध्येय नहीं बताया है। वह कहते हैं कि ऐसा कोई प्राणी नहीं जिस पर आपत्तियां नहीं आतीं (**प्राणिनः कस्य नापदः**) और निरंतर सुख कभी मिल नहीं सकता (**दुर्लभं हि सदा सुखम्**), पर उस व्यक्ति को सुख अवश्य प्राप्त होगा, जो जीवन से चिपटा रहता है, चाहे इसमें सौ वर्ष ही क्यों न बीत जायं—**एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्ष शतादपि**।[4]

जीवन के प्रति निराशा का भाव रामायण के प्रायः वे ही पात्र अभिव्यक्त करते हुए पाये जाते हैं, जो किसी कारण से दुर्भाग्य के शिकार हो गए हैं। लंका में सीता शोक के मारे कह उठती हैं कि इस परतंत्र मानव-जीवन को धिक्कार है, जहां अपनी इच्छा से प्राण भी नहीं त्यागे जा सकते।[5] नैराश्य के भाव सीता के

---

१. त्रीणि द्वन्द्वानि भूतेषु प्रवृत्तान्यविशेषतः। तेषु चापरिहार्येषु नैवं भवितुमर्हसि॥ २।७७।२३

२. कश्च कस्यानुशोच्योऽस्ति देहेऽस्मिन् बुद्बुदोपमे।४।२१।३

३. वयसः पतमानस्य स्रोतसो वानिवर्तिनः। आत्मा सुखे नियोक्तव्यः सुखभाजः प्रजाः स्मृताः॥२।१०५।३१

४. देखिए ३।६६।६; २।१८।१३; ५।३४।६; ६।१२६।२

५. धिगस्तु खलु मानुष्यं धिगस्तु परवश्यता। न शक्यं यत्परित्यक्तुमात्मच्छन्देन जीवितम्॥५।२५।२०

वियोग में विह्वल राम के मुख से भी प्रकट हो जाते हैं, विशेष कर जबकि उन्हें सीता की पुनः प्राप्ति असंभवप्राय जान पड़ती है। अविचल साहस, अडिग उत्साह एवं स्वयं दैव से भिड़ जानेवाला दुर्दमनीय पौरुष प्रकट करने के स्थान पर वह असहाय विलाप-प्रलापों का आश्रय लेने लगते हैं। विपत्ति की घड़ी में वैरी से प्रतिशोध लेने का कोई उबाल उनमें नहीं उठता—वह नीति की निःसहाय उक्तियों, भाग्य के प्रति निरर्थक उपालंभों तथा धर्म की अप्रासंगिक चिंताओं में बहते हुए दिखाई देते हैं। नैराश्य के गर्त में पड़े ऐसे हतप्रभ राम में लक्ष्मण के उत्साहवर्धक शब्द नई चेतना का संचार करते हैं—"पुरुषोत्तम, आप अपने को सम्हालिए, शोक न कीजिए। यत्न के अभाव में इष्ट-सिद्धि कभी नहीं हो सकती। उत्साह से बढ़कर दूसरा कोई बल नहीं है—उत्साही पुरुष के लिए संसार में कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है। जिनके हृदय में उत्साह होता है, वे पुरुष कठिन-से-कठिन काम आ पड़ने पर भी हिम्मत नहीं हारते। आप-जैसे बुद्धि-संपन्न पुरुष को आपत्तियों से वैसे ही चलायमान नहीं होना चाहिए जैसे वायु-वेग से पर्वत विचलित नहीं होते। वैदेही चाहे मर ही क्यों न गई हों अथवा विनष्ट ही क्यों न हो गई हों, आपको साधारण मनुष्यों की भांति शोक नहीं करना चाहिए। रघुनंदन, यदि अपने ऊपर आये हुए इस दुःख को आप भी धैर्यपूर्वक नहीं सहेंगे तो दूसरे साधारण पुरुष, जिनकी शक्ति बहुत अल्प है, कैसे सह सकेंगे? नरश्रेष्ठ, आप धैर्य धारण करें। संसार में कौन ऐसा प्राणी है, जिस पर आपत्तियां नहीं आतीं?"[1]

कभी सुग्रीव राम को उनकी अमंगलकारिणी शोक-बुद्धि का परित्याग करने के लिए उद्‌बोधित करते हैं—"जो पुरुष निरुत्साह, दीन और शोकाकुल रहता है, उसके सब काम बिगड़ जाते हैं और वह बड़ी विपत्ति में पड़ जाता है।"[2] ऐसी ही एक उत्साहजनक उक्ति अंगद के मुंह से निकलती है; विशाल समुद्र को देखकर सीतान्वेषण में हताश हुए वानरों को ढाढ़स देते हुए उन्होंने कहा—"वीरो, तुम्हें अपने मन में विषाद नहीं आने देना चाहिए। विषाद में बहुत बड़ा दोष है। जैसे क्रोध में भरा हुआ सांप अपने पास आये हुए बालक को काट खाता है, उसी प्रकार

---

१. देखिए ४।१।१२०-२; ३।६७।७-८, १३, ५-६

२. निरुत्साहस्य दीनस्य शोकपर्याकुलात्मनः। सर्वार्था व्यवसीदन्ति व्यसनं चाधिगच्छति ॥६।२।६

विपाद पुरुष का नाश कर डालता है। जो पराक्रम का अवसर आने पर विषाद-ग्रस्त हो जाता है, वह निस्तेज हो जाता है, फिर उसका पुरुषार्थ भी सिद्ध नहीं होता" (४।६४।९-१०)।

लंका में सीता को न ढूंढ़ पाने पर हनुमान निराश होकर अपने जीवन का अंत करने की ठान लेते हैं, पर शांत चित्त से विचार करने पर यह अनुभव करते हैं कि 'मरने में वहुत-से दोष हैं, पर जीवित रहने से कभी-न-कभी मनुष्य अच्छे दिन देख ही लेता है। इसलिए मैं अवश्य प्राण-धारण करूंगा, जीवित रहने पर एक-न-एक दिन सीता से भेंट हो ही सकती है।'[1] भाई के वियोग में गिन-गिनकर दिन काटनेवाले भरत जव हनुमान से राम के घर लौट आने का संवाद सुनते हैं, और उधर जव लंका में वंदिनी और आत्महत्या के लिए उतारू सीता अपने स्वामी के प्रिय दूत हनुमान को देखती हैं, तव दोनों को ही यह विश्वास हो जाता है कि निराश होकर प्राणांत कर लेने की अपेक्षा सुख की आशा में जीवन-धारण करना अधिक श्रेयस्कर है।

कभी-कभी मानव-मन की स्थिरता के वारे में भी संदेह प्रकट किया गया है।[2] दशरथ अविलंव ही राम का यौवराज्याभिषेक कर देना चाहते थे, क्योंकि उनके मतानुसार मनुष्यों का चित्त चंचल होता है—**चला हि प्राणिनां मतिः** (२।४।२०)।

यद्यपि रामायण में प्रायः सत्य और सदाचरण का ही वारंवार आग्रह पाया जाता है, तथापि कभी-कभी इनकी तीव्र निंदा या भर्त्सना भी कर दी जाती है, विशेष कर ऐसे व्यक्तियों द्वारा जो अधर्म में प्रवृत्त रहते हैं अथवा जो संसार में नैतिकता को उपेक्षित एवं अनादृत पाते हैं। (माया-) सीता की हत्या करने में संलग्न इंद्रजित ने हनुमान के विरोध को यह कहकर उड़ा दिया कि 'हे वानर, तुम जो यह कहते हो कि स्त्रियों को नहीं मारना चाहिए, उसका उत्तर यह है कि जिस कार्य के करने से शत्रुओं को अधिक कष्ट पहुंचे, वह कर्तव्य ही माना गया है'—**पीड़ाकरममित्राणां यच्च कर्तव्यमेव तत्** (६।८१।१८)। मंदमति समुद्र के असहयोग पर रुष्ट होकर राम ने भी कहा था कि 'शांति, क्षमा, सरलता और

---

१. विनाशे वहवो दोषा जीवन्प्राप्नोति भद्रकम्। तस्मात्प्राणान्धरिष्यामि ध्रुवो जीवति संगमः ॥५।१३।४५

२. किं नु चित्तं मनुष्याणामनित्यमिति मे मतम् ।२।४।२७

प्रिय भाषण, ये सत्पुरुषों के गुण हैं, परंतु गुणहीनों के प्रति प्रयोग करने पर इनका कुछ भी फल नहीं होता। जो अपनी प्रशंसा आप करता है, जो दुष्ट और ढीठ है, जो इधर-उधर दौड़ता रहता है और सब जगह दंड से काम लेता है, उसका सभी सत्कार करते हैं। साम (शांत रहने) से न नाम होता है, न यश मिलता है और न संग्राम में ही विजय मिलती है। यह समुद्र मुझे क्षमायुक्त देखकर असमर्थ समझता है। ऐसों के प्रति क्षमा का प्रयोग धिक्कार के योग्य है' (६।२१।१४-७; ६।२२।५२)।

और तो और, पुण्यात्मा राम के कष्टों और दुरात्मा रावण की समृद्धि को देखकर लक्ष्मण धर्म के आचरण को ही निष्फल और निरर्थक घोषित कर बैठते हैं। राम से वह कहते हैं—"आप सन्मार्ग पर आरूढ़ और जितेंद्रिय हैं, फिर भी यदि धर्म आपको अनर्थों से नहीं बचा सकता तो वह व्यर्थ है। यदि धर्म का फल प्रत्यक्ष होता तो आप-जैसे महात्मा विपत्ति में क्यों पड़ते? यदि धर्म का परिणाम सुख है और अधर्म का दुःख, तो रावण को नरक में जाना चाहिए और आप-जैसे धर्मात्मा को दुःख नहीं मिलना चाहिए। किंतु उलटे रावण को सुखी और आपको दुःखी देखकर यही मालूम होता है कि धर्म ही अधर्म है और अधर्म ही धर्म है।... अधर्मियों की अर्थ-वृद्धि देखी जाती है—वे रात-दिन फलते-फूलते दिखाई देते हैं—और बेचारे धर्मशील दुःख पाते हैं। इससे ये दोनों—धर्म-अधर्म—निष्फल हैं" (६।८३।१४-२१)।

इस तर्क-सरणि का वाल्मीकि यह कहकर प्रतिकार करते हैं कि यद्यपि दुष्ट जनों को उनके पापों का तात्कालिक फल नहीं मिल पाता, तथापि यह असंदिग्ध है कि उनके दुष्कर्म यथासमय फलीभूत होकर रहेंगे। वाली और रावण अनाचारी होने पर भी फलते-फूलते दिखाई देते हैं, पर नियत समय पर उनके कुकर्म ही उन्हें सर्वनाश के गर्त में पहुंचा देते हैं—

अवश्यमेव लभते फलं पापस्य कर्मणः।
भर्तः पर्यागते काले कर्ता नास्त्यत्र संशयः॥६।१११।२५

जीवन के प्रति आशापूर्ण दृष्टिकोण किसी जाति या राष्ट्र की समृद्धि और वैभवशालिता का ही नैसर्गिक परिणाम होता है। व्यक्तिगत दुःखों अथवा स्थानीय विपत्तियों के कुछ अपवादों को छोड़कर रामायण का समय हर्ष और उल्लास का

युग था। जनसाधारण का भौतिक जीवन समृद्ध, शिक्षा और कला के ऊंचे मापदंडों के अनुरूप तथा सुख-सुविधा के साधनों से भरा-पूरा था। ऐसी स्थिति में क्या आश्चर्य यदि जन-मानस जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण स्वस्थ, उदार एवं आशावान वनाये रखे! किंतु साथ ही कवि ने नैतिक मूल्यों की उपेक्षा कर केवल सुखोपभोग को मानव-कर्तव्य की इतिश्री नहीं माना है। भोगवादी दृष्टिकोण की झलक रावण-जैसे लंपटों के व्यवहार में मिलती है; उदाहरणार्थ, जब वह सीता से कहता है कि तुम्हारी यह रमणीय युवावस्था वीती जा रही है और जो वीत चुकी है वह लौटकर आती नहीं, वैसे ही जैसे प्रवाह का जल, जो वहता जाता है, नहीं लौटता (अतः क्यों नहीं तुम मेरे साथ अपने इस क्षणिक यौवन का पूर्ण उपभोग करतीं?)।[1] जावालि द्वारा प्रतिपादित चार्वाक-दर्शन भी नैतिकता की उपेक्षा कर जीवन और उसके सुखों का निर्लज्ज उपभोग करने का समर्थन करता है। पर यह दृष्टिकोण सुसंस्कृत व्यक्तियों के लिए हेय एवं निंदित था, जैसाकि राम के प्रत्युत्तर से प्रकट है (२।१०९)।

रामायण के अनुसार आदर्श जीवन वह है, जो एकांगी न होकर बह्वंगी हो, जो मानव-अस्तित्व के आध्यात्मिक, व्यावहारिक और भौतिक सभी पक्षों का यथोचित सेवन करे। महाराज दशरथ ने, अपने ज्येष्ठ पुत्र के हित में राज्य से अवकाश-ग्रहण करने से पूर्व, अपने जीवन की सफलताओं का राम के प्रति इस प्रकार वर्णन किया था—"वेटा, मैं अव वूढ़ा हुआ, मेरी आयु वहुत अधिक हो गई। मैं नाना प्रकार के मनोवांछित भोग भोग चुका। अन्न और प्रचुर दक्षिणा से युक्त सैकड़ों यज्ञ भी मैंने कर लिये। मेरे तुम-जैसा प्रिय और संसार में अनुपम पुत्र है। दान, यज्ञ और स्वाध्याय भी मैं पर्याप्त कर चुका तथा देवता, ऋषि, पितर और ब्राह्मणों के तथा अपने ऋण से भी उऋण हो चुका। अव तुम्हें युवराज-पद पर अभिषिक्त करने के सिवा और कोई कर्तव्य मेरे लिए शेष नहीं रह गया" (२।४।१२-५)। इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम का न्यायोचित एवं नियमित सेवन ही सफल एवं पूर्णकाम जीवन का मापदंड था।

मोटे तौर पर रामायण-काल में जीवन के प्रति दृष्टिकोण आशावाद और

---

१. इदं ते चारुसंजातं यौवनं ह्यतिवर्तते। यदतीतं पुनर्नैति स्रोतः स्रोतस्विनामिव ॥५।२०।१२; ५।२४।३४ भी देखिए।

निराशावाद दोनों के ही श्रेष्ठ तत्वों का समन्वय था। वस्तुतः प्राचीन भारतीय समाज-व्यवस्था व्यावहारिक परिस्थितियों एवं नैतिक आदर्शों की एक सुनियोजित एवं संश्लिष्ट योजना के अनुसार रचित थी, अतः उसमें सभी प्रकार के दृष्टिकोण खोजे जा सकते हैं। जीवन को चार आश्रमों में विभाजित करने का ध्येय लोगों को उत्तरोत्तर प्रगति की ओर ही उन्मुख करना था। साथ ही, जन-साधारण का जीवन भी सुखी, संतुष्ट और सभी संभव सुविधाओं के युक्त था। इन कारणों से लोगों का जीवन के प्रति दृष्टिकोण उज्ज्वल एवं आशामय होना स्वाभाविक था। इसके विपरीत, कर्म-सिद्धांत की व्यापकता तथा मानव-जीवन और घटनाओं पर दैव की दुर्निवार प्रभुता मनुष्य को एक असहाय परिस्थिति में डाल देती थीं, इस नाते प्राचीन आर्यों के दृष्टिकोण में निराशा का संचार हो जाता था। किंतु इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि यद्यपि संसार का त्याग और तपोनिरत जीवन ऐसे ही दृष्टिकोण के परिणाम थे, तथापि उद्योगशीलता और जीवन को अधिकाधिक श्रेष्ठ बनाने की लालसा आश्रम-जीवन का भी एक प्रमुख स्वर थी। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम अध्यात्मवाद से प्रेरित होने पर भी निर्वेद और खेद से उद्भूत नहीं थे; उनका सर्जन एक ऐसी सुविचारित जीवन-योजना के फलस्वरूप हुआ था, जिसमें इस बात का ध्यान रखा गया था कि जीवन का कोई भी अंग अधूरा न रहे।

रामायण में 'धर्म' शब्द सर्वव्यापक है; उसके अंतर्गत कवि ने समस्त ईश्वराभिमुख विचार, शब्द और कर्म का परिगणन किया है। सदाचारी जीवन के प्रेरक सभी सद्गुण धर्म के अंतर्गत हैं और उसके विपरीत जानेवाले समस्त कार्य-कलाप अधर्म हैं। धर्म को सीता ने जीवन के समग्र उत्कर्ष का मूल स्रोत माना है—

> धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात्प्रभवते सुखम्।
> धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्॥३।९।३०

अर्थात धम से अर्थ का लाभ होता है और धर्म से ही सुख की प्राप्ति होती है। धर्म से सब कुछ प्राप्य है। अतः इस जगत की एकमात्र सारभूत वस्तु धर्म है। 'जिस प्रकार कलाकार की कला उसके समस्त दृष्टिकोण को कलामय बना देती है, उसकी चित्रकला और उसके संगीत को ही नहीं, उसकी समस्त कृतियों, उसकी वाणी और लेखनी, उसके चलने-फिरने, उठने-बैठने, खाने-पीने आदि सभी क्रियाओं

को प्राणवान एवं कलात्मक बना देती है, उसी प्रकार धर्म का ध्येय अपने अनुयायियों के दृष्टिकोण को शुद्ध, सात्विक, प्रेमिल एवं निर्भय बनाना था और उनके दैनंदिन जीवन में अपने विशिष्ट सौरभ एवं माधुर्य का संचार करना था।'[१]

संसार में धर्म-संग्रह-जैसा दुष्कर कार्य और कोई नहीं। धर्म का एक प्रधान साधन कर्तव्य-कर्म का आचरण है, चाहे मार्ग में कितनी ही कठिनाइयां क्यों न आयं और सुखोपभोग की नैसर्गिक प्रवृत्ति कितना ही विमुख क्यों न करे; सुख से सुख कभी नहीं प्राप्त होता; धर्म का मार्ग क्लेश-साध्य है।[२] इसीलिए हनुमान ने रावण से कहा था कि तुमने तपस्याजन्य धर्म के फलस्वरूप यह जो ऐश्वर्य-संग्रह किया है तथा शरीर और प्राणों को चिर काल तक धारण करने की शक्ति प्राप्त की है, उसका विनाश करना उचित नहीं—

तपःसन्तापलब्धस्ते सोऽयं धर्मपरिग्रहः।
न स नाशयितुं न्याय्य आत्मप्राणपरिग्रहः ॥५।५१।२५

अन्यत्र रामायण में धर्म के उन व्यावहारिक रूपों पर प्रकाश डाला गया है, जिन्हें हम अपने दैनिक जीवन के विविध सूत्रों में पिरोकर आत्मसात कर सकते हैं। प्रातःकाल उषःकाल में शय्या-त्याग और स्नान, अंतः और वाह्य शौच, आस्तिकता, संध्या, जप, अग्निहोत्र और ध्यान, देव-पूजा, संस्कारों का अनुष्ठान, पितृ-श्राद्ध जो पूर्ववर्ती और वर्तमान पीढ़ियों को जोड़ने की कड़ी है, तपस्या, योग, माता-पिता की सेवा, गुरु और पति की भक्ति—ये ही आस्तिक और सदाचारी जीवन के वे सोते हैं, जो मिलकर धर्म की महानदी में परिणत होते हैं और जिनके अभाव में वह नदी सूख जाय। राम के अनुसार 'सत्य, धर्म, पराक्रम, दया, प्रिय वचन तथा ब्राह्मण, देवता और अतिथियों का पूजन—इन्हीं कर्मों को सज्जन स्वर्ग का मार्ग कहते हैं।'[३]

---

१. 'दि कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया,' भाग १, पृ० ८५।

२. तुलना कीजिए—आत्मानं नियमैस्तैस्तैः कर्षयित्वा प्रयत्नतः। प्राप्यते निपुणैर्धर्मो न सुखाल्लभते सुखम् ॥३।९।३१

३. सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च भूतानुकम्पा प्रियवादिता च। द्विजातिदेवातिथिपूजनं च पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः ॥२।१०९।३१

यों तो धर्म मुख्यतः आत्मिक उन्नति का साधन माना जाता है, पर उसके आदेश-निर्देश दैहिक या भौतिक कल्याण के भी विरोधी नहीं हैं। राम का कथन है कि शरीर और आत्मा इन दोनों के कल्याण-साधनों में कोई विरोध नहीं है; 'जिस प्रकार एक ही भार्या पति के वश में होकर धर्म को, प्रियतमा बनकर काम को और पुत्रवती होकर अर्थ का संपादन करती है, उसी प्रकार एक धर्म के फल की प्राप्ति होने पर धर्म, अर्थ और काम तीनों की सिद्धि हो जाती है; धर्म में ही त्रिवर्ग की प्रतिष्ठा है'—

धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे
भार्येव वश्याभिमता सपुत्रा॥२।२१।५१

यज्ञ-याग, दान-दक्षिणा, तप-त्याग, व्रत-नियम, पूजा-स्वाध्याय आदि निस्संदेह धर्मिष्ठ जीवन के मुख्य लक्षण हैं और उनका अनुष्ठान मानव व्यक्तित्व के लिए सर्वांगीण उत्कर्षकारी है। किंतु कर्मकांड धर्मानुकूल तभी कहा जा सकता है जब उसका ध्येय समस्त प्राणियों का हित-साधन हो। यदि कर्मकांड से प्राप्त आध्यात्मिक शक्तियों का उपयोग दूसरों पर प्रभुत्व प्राप्त करने और अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए उन्हें आतंकित करने में किया जाय तो उस कर्मकांड को नष्ट कर देना शासक का कर्तव्य है। इसीलिए तो जो राम विश्वामित्र तथा अन्य अरण्यवासी ऋषि-मुनियों की यज्ञ-रक्षार्थ राक्षसों से जूझे थे, वही राम मेघनाद के आसुरी यज्ञ को बंद करवाने को बाध्य हुए। यही नहीं, उसकी अदम्य शक्ति के स्रोत को इस प्रकार सुखाकर उन्हें रावण-पुत्र के वध का भी आदेश देना पड़ा।

तत्कालीन धर्म का आदर्श रामायण के कतिपय पात्रों में ज्वलंत रूप से अंकित हुआ है। विषम एवं किंकर्तव्यविमूढ़ करनेवाली परिस्थितियों में भी वाल्मीकि के चरितनायक सर्वोच्च नैतिक आदर्शों से स्खलित नहीं होते और शास्त्रीय परंपराओं का प्राणपण से निर्वाह करते हैं। प्रह्लाद की भांति विभीषण में भी धर्म का उज्ज्वल एवं असामान्य पक्ष चित्रित हुआ है; जन्मगत कुसंस्कारों तथा राजा, संबंधियों और स्वदेश-प्रेम की नैसर्गिक किंतु संकुचित सीमाओं से उनका आदर्श नियंत्रित नहीं रहा और उन्होंने न्याय, औचित्य एवं सत्य का ही पक्ष ग्रहण किया।

जहां रावण में तपस्या एवं परंपराजन्य संस्कार स्वार्थपरायणता और निरंकुशता से आक्रान्त हो गए, वहां पुण्यात्मा विभीषण आसुरी वातावरण से निरंतर संघर्ष करते हुए अंत तक सदा धर्म का ही अवलंबन लेते रहे। हनुमान, अपेक्षाकृत कम सभ्य वानर जाति के होते हुए भी, राम के चरणों की ओर सर्वतोभावेन आकर्षित हुए, यावज्जीवन वही उनके आध्यात्मिक आदर्श बने रहे और उन्हींके हित-साधन में उन्होंने अपनी समस्त शक्तियां अर्पित कर दीं। राम के राज्याभिषेक के बाद उन्होंने यही वर मांगा कि 'आपके प्रति मेरा स्नेह सदा-सर्वदा बना रहे तथा आपमें ही मेरी निश्चल भक्ति रहे। आपके सिवा कहीं अन्यत्र मेरा मन न जाय। जब तक पृथ्वी पर राम-कथा रहे, तब तक निस्संदेह मेरे प्राण इसी शरीर में रहें—आपके चरितामृत को सुनकर मैं अपनी उत्कंठा दूर करता रहूंगा' (७।४०।१६-७)। अंत समय में वाली का सुग्रीव से समझौता कर लेना और अपनी अनीति के लिए क्षमा-याचना करना, तथा स्वयं सुग्रीव का भाई की मृत्यु का कारण बनने के लिए—उस भाई का जिसने कई मुठभेड़ों में उसे जीता छोड़ दिया था—खेद प्रकट करना, इन दोनों महात्माओं की मर्मस्पर्शी धर्मपरायणता व्यंजित करता है। धर्म के लिए, सत्य और प्रतिज्ञा-पालन के लिए प्राणोत्सर्ग कर देनेवाले, अपने 'प्राणा बहिश्चरा:' राम का विछोह झेलनेवाले महाराज दशरथ एक प्रतापी एवं वैभवशाली राज्य के अधिपति थे, फिर भी एक स्त्री को दिये वचनों से वह पराङमुख न हो सके। दशरथ उन महापुरुषों में से थे, जो जीवन को पावन और ऊंचा बनानेवाले नैतिक मूल्यों की प्रत्येक परिस्थिति में रक्षा करने को कटिबद्ध रहते हैं। कौसल्या के चरित्र-चित्रण में उस आदर्श हिंदू-नारी के दर्शन होते हैं, जो अपनी विद्रोही भावनाओं को त्याग एवं सहिष्णुता के सहारे नियंत्रित रखती है और पूर्व-कर्मों का फल भोगने में, दैव के विधान को स्वीकार करने में ही अपने को न्योछावर कर देती है। अपनी जीवन-चर्या और अपने कार्यों से कौसल्या ह्री, श्री और कीर्ति, इन स्त्रियोचित गुणों में से ह्री का प्रतिनिधित्व करती हैं और यह उनके संयम, विनय तथा पातिव्रत्य में प्रकट हुई है। भरत और लक्ष्मण में धर्म का सौरभ राम के प्रति निश्छल ममत्व, भक्ति एवं भ्रातृ-प्रेम के रूप में प्रकट हुआ है। यदि लक्ष्मण रात-रात-भर जगकर वनवास में राम के रक्षक और सेवक बने और उन्हींके कल्याण-साधन को अपने आध्यात्मिक उत्कर्ष का सर्वश्रेष्ठ मार्ग मानते रहे, तो भरत ने भी ऐसे भावों से प्रेरित होकर अपनी माता की दुष्टता

की कड़ी भर्त्सना की, स्वेच्छा से तपस्वी का बाना धारण किया और राम की पादुकाओं को उनका प्रतिनिधि मानकर अनासक्तिपूर्वक राज्य का शासन-संचालन किया। सीता भारतीय नारीत्व का सर्वश्रेष्ठ निदर्शन, तत्कालीन स्त्री-धर्म का चरम उत्कर्ष थीं। अनेक शारीरिक और मानसिक यातनाएं सहने पर भी वह, पातिव्रत्य के सर्वोच्च आदर्शों से अनुप्राणित होकर, अपने पति के प्रति मनसा वाचा कर्मणा अनुरक्त रहीं। क्या शत्रु-गृह में परवश रहते हुए, क्या अग्नि-परीक्षा की कठिन वेला में, क्या वन में निर्वासित होते समय जबकि उनके गर्भ में रघुवंश के उत्तराधिकारी पनप रहे थे, और क्या दूसरी बार जन-संसद में अपने सच्चरित्र की दुहाई देते समय सीता ने सदैव आदर्श पत्नी का-सा व्यवहार किया, अपनी व्यथाओं को अनुद्विग्न होकर सहन किया तथा राम और उनकी प्रजा की सतत कल्याण-कामना करते हुए अपने समुचित कर्तव्य का पालन किया, क्योंकि उनका विश्वास था कि मेरे पतिदेव ने आदर्श राजधर्म का पालन करने के लिए ही मेरे साथ इस प्रकार का निष्ठुर व्यवहार किया है।

पर रामायण-काल के धर्मात्माओं में शीर्षस्थानीय तो रघुकुलतिलक श्री राम हैं—**रामं धर्मभृतां वरम्** (३।७।७)। वाल्मीकि उनकी प्रशंसा में धर्मज्ञ, धर्मिष्ठ आदि विशेषण देते नहीं थकते। 'राम सनातन धर्म-वृक्ष के बीज हैं; अन्य सब मनुष्य उस वृक्ष के पत्र, पुष्प और फल हैं।'[1] कौसल्या की दृष्टि में उनका पुत्र 'धर्मज्येष्ठ', धर्म-पालन में अग्रगण्य था। सत्ता-लोलुप कैकेयी से राम ने कहा था कि 'मैं धन का उपासक होकर संसार में नहीं रहना चाहता; निर्मल धर्म का पालन करने में आप मुझे ऋषियों के ही समान समझें।'[2] वेदांत की शब्दावली में वह एक जीवन्मुक्त थे; 'राज्य न मिलने पर लोक-कमनीय राम की शोभा में लेश-मात्र भी अंतर नहीं आया, वैसे ही जैसे चंद्रमा के क्षय से उसकी कांति में कमी नहीं आती। वह वन जाने को तैयार थे और सारी पृथ्वी का राज्य छोड़ रहे थे, फिर भी उनके चित्त में, लोकातीत जीवन्मुक्त महात्मा की भांति, कोई विकार नहीं देखा गया।

---

१. मूलं ह्येष मनुष्याणां धर्मसारो महाद्युतिः।
पुष्पं फलं च पत्रं च शाखाश्चास्येतरे जनाः ॥२।३३।१५

२. नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे। विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं विमलं धर्म-मास्थितम् ॥२।१९।२०

जैसे शरत्कालीन चंद्रमा अपने तेज को नहीं छोड़ता, वैसे महाबाहु राम ने अपनी स्वाभाविक प्रसन्नता का परित्याग नहीं किया' (२।१९।३२-७)। राम की अक्षोभ्य चित्तवृत्ति एवं निराकुल स्वभाव की एक और प्रशस्ति भरत के शब्दों में पढ़िए—"रघुनंदन, इस जगत में आपकी बराबरी करनेवाला कौन है ? कोई भी दुःख आपको व्यथित नहीं कर सकता; कितनी ही प्रिय बात हो जाय, आप हर्ष से फूल नहीं उठते। वृद्ध पुरुषों के संमाननीय होकर भी आप उनसे संदेह की बात पूछते हैं। जैसे मरे हुए जीव का अपने शरीर आदि से कोई संबंध नहीं रहता, उसी प्रकार जीते-जी भी वह उसके संबंध से रहित है; जैसे वस्तु के अभाव में उसके प्रति राग-द्वेष नहीं होता, वैसे ही उसके रहने पर भी मनुष्य को राग-द्वेष से शून्य होना चाहिए। जिसे ऐसी विवेक-बुद्धि प्राप्त हो गई है, उसे संताप क्यों होगा ? जिसे आपके समान आत्मा और अनात्मा का ज्ञान है, वह संकट में पड़ने पर भी विषाद नहीं कर सकता। आप देवताओं की भांति सत्व-गुण से युक्त, महात्मा, सत्यप्रतिज्ञ, सर्वज्ञ, सबके साक्षी और बुद्धिमान हैं। ऐसे उत्तम गुणों से संपन्न और जन्म-मरण के रहस्य को जाननेवाले आपके पास असह्य दुःख आ नहीं सकता" (२।१०६।२-६)।

वाल्मीकि के राम एक मानव अधिक हैं, भगवान विष्णु के अलौकिक अवतार कम। अपनी भावनाओं में, जीवन के प्रति दृष्टिकोण में, संघर्ष और सफलता में, स्नेह और अनुराग में वह एक सर्वथा मानवीय पुरुष थे; पर उनकी विशेषता यह थी कि मानव होते हुए भी वह मानवीय दुर्बलताओं से ऊपर उठे और इस प्रकार उन्होंने मानव के अंदर छिपी हुई ईश्वरीयता और अलौकिकता का उद्घाटन किया। रामायण में ऐसे अवसर आते हैं जब महर्षि और देवता अंजलि बांधे राम को स्मरण दिलाते हैं कि आप साक्षात परब्रह्म परमात्मा हैं, किंतु वह अपने को एक निरा मनुष्य, दशरथ-पुत्र राम-मात्र समझते हैं—**आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्** (६।११७।११)। अपने उथल-पुथल-भरे जीवन में राम को कई जटिल परिस्थितियों का सामना करना पड़ा, पर कोई भी परिस्थिति ऐसी नहीं थी, जिससे वह हतप्रभ हुए हों, अथवा जिसका उन्होंने किसी दैवी शक्ति के सहारे नहीं, प्रत्युत अपने ही मानवीय पौरुष—मानसिक, शारीरिक एवं आत्मिक शक्ति, सत्य एवं न्यायप्रियता तथा पर-हित के लिए स्व-हित का त्याग करने की भावना—के बल पर हल न किया हो। आर्य-जीवन के ऊंचे

आदर्श राम में साकार हो उठे हैं; आज्ञाकारी पुत्र, स्नेहशील भाई, प्रीतियुक्त पति और निर्मम योद्धा राम में, भवभूति के अनुसार, कुसुमों की कोमलता और वज्र की कठोरता का अनुपम सामंजस्य है।[1]

आज का आस्तिक हिंदू समाज राम को जो ईश्वरीय अवतार मानने लगा है, उसे वाल्मीकि ने आग्रहपूर्वक प्रतिपादित भले न किया हो, फिर भी उन्होंने यह तथ्य बड़े ज्वलंत एवं विशद रूप में प्रस्तुत कर दिया है कि राम धर्म के विविध रूपों के मूर्तिमान विग्रह थे—**रामो विग्रहवान् धर्मः साधुः सत्यपराक्रमः** (३।३७।१३)। धर्म के लिए सर्वस्व-त्याग करने की क्षमता में ही राम की श्रेष्ठता निहित है। धर्म उनके सामने विभिन्न रूपों में आया। कभी वह पिता की वचन-पूर्ति के रूप में, कभी कुल-गौरव की रक्षा करने के रूप में और कभी शत्रु को दंड देने के रूप में आया। जिस रूप में भी धर्म की मांग उनके सामने आई, उसे उन्होंने निभाया और इसके लिए प्रिय-से-प्रिय वस्तु का त्याग करने में वह नहीं हिचकिचाये। राज्याधिकार से मुंह मोड़ लो; पत्नी का त्याग कर दो; भाई को निर्वासित कर दो; जीवन का उत्सर्ग कर दो; किंतु धर्म—उसकी सुरक्षा सर्वोपरि और सर्वाधिक आवश्यक है। लोगों ने उनका उपहास उड़ाया, उनके कार्यों का गलत अर्थ लगाया, नारीत्व की अलंकार-स्वरूपा प्राणप्रिय भार्या के प्रति निर्मम और निर्दय होने का भी आरोप उन पर लगाया, किंतु सत्य एवं पवित्रता के आदर्श के सामने राष्ट्रीय और सामाजिक प्रभाव तथा गौरव को, आत्मीय स्वजनों के स्नेह और ममता के आकर्षण को बात-की-बात में बलिदान करके उन्होंने यह दिखा दिया कि परिवार, समाज और राष्ट्र ये सब आत्मिक आदर्श के लिए ही प्रिय हैं, इनमें से किसीको स्वतंत्र सार्थकता नहीं है। आदर्श की सेवा के लिए किस प्रकार समस्त स्नेह और ममता, समस्त भक्ति-वात्सल्य, समस्त सुख-सौभाग्य और समस्त प्रियजनों को भी त्याग देना होता है—राम का जीवन चिर काल के लिए इसका दीप-स्तंभ बना हुआ है। धर्म या आदर्श की इस कठोर परिभाषा को समझना आज हमारे लिए कठिन है। इसीमें मानवीय राम की अलौकिकता निहित है।

---

१. वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि। लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति॥ उत्तररामचरित, अंक १

: १४ :

स्वर्ण-युग

पिछले अध्यायों में वाल्मीकियुगीन भारतीय संस्कृति का जो दिग्दर्शन कराया गया है, उससे पाठकों को तत्कालीन युग का एक विशद परिचय मिला होगा। कवि द्वारा प्रस्तुत यह सांस्कृतिक चित्रण निस्संदेह अतीव उज्ज्वल और कभी-कभी चकाचौंध करनेवाला भी है। इसका यह अर्थ नहीं कि उसमें कहीं कोई अवांछनीय या अशोभनीय तत्व की कालिमा नहीं है। वस्तुतः किसी भी युग या प्रदेश का मानव-समाज शत-प्रतिशत निर्दोष या निरी अच्छाइयों का पुंज हो ही नहीं सकता, और रामायणकालीन समाज भी इसका कोई अपवाद नहीं है। फिर भी, यह अस्वीकार न करते हुए कि इस प्राचीन संस्कृति में कुछ दोष भी थे, यह मानना पड़ेगा कि वाल्मीकि ने अपनी रामायण में भारतीय समाज के एक उत्कृष्ट एवं परमोदार स्वरूप को काव्यबद्ध किया है, और हम आज भी अपने पुराकालीन पूर्वजों के महान कृतित्व पर—सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्रों में उनकी महान सफलताओं पर—गर्व और गौरव का अनुभव कर सकते हैं।

रामायणकालीन संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं का सिंहावलोकन करते हुए यह कहा जा सकता है कि वह एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था पर आधारित थी, जिसमें जनसामान्य, वर्णों और आश्रमों में विभक्त होते हुए भी, सहयोग और सौहार्द के तंतुओं से परस्पर अनुरक्त था। इस समाज में व्यक्ति अपने जीवन का प्रथम चरण अनुशासनपूर्वक शास्त्रीय एवं व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करने में लगाता था और तत्पश्चात विवाह-सूत्र में ग्रथित होता, एक भद्र नागरिक का जीवन व्यतीत करता और अपने परिवार का भरण-पोषण करता, तथा वृद्धावस्था में सांसारिक प्रवृत्तियों से विरत होकर एक-मात्र कर्मकांड और अध्यात्म के अनुशीलन में निरत हो जाता था। यह एक ऐसा समाज था, जिसमें ब्राह्मणों को, उनकी बौद्धिक

एवं आध्यात्मिक योग्यता के कारण, असाधारण संमान एवं विशेषाधिकार प्राप्त थे, क्षत्रिय उनका वर्चस्व स्वीकार करते और नीति एवं परंपरा के अनुसार राष्ट्र का शासन-संचालन करते, वैश्य वाणिज्य-व्यापार द्वारा राष्ट्रीय समृद्धि में योग-दान करते तथा शूद्र अन्य वर्णों की सेवा में संलग्न रहते थे। विभिन्न वर्णों के लिए विशेषाधिकार या निर्योग्यताएं निर्धारित करने का उद्देश्य उनके विकास के लिए ऐसे अनुकूल वातावरण की सृष्टि करना था, जिसमें वे सभी अपने विहित कर्मों का यथायोग्य निर्वाह कर सकें। निम्न वर्ण से उच्च वर्ण में प्रवेश पाना दुष्कर होते हुए भी असंभव नहीं था। मौलिक रामायण के युग से उत्तरकांड में ही जाकर शूद्रों की निर्योग्यताओं में वृद्धि हुई थी। कहीं-कहीं जातीय विद्वेष के कतिपय आख्यान प्राप्त होते हैं, फिर भी रामायणकालीन संस्कृति के स्रष्टाओं को यह श्रेय अवश्य देना होगा कि सभी वर्णों के संबंध अधिकतर सद्भावनापूर्ण थे, और इसमें राजा के व्यक्तित्व का प्रमुख योग होता था।

संयुक्त पारिवारिक व्यवस्था में कुछ कठिनाइयां अवश्य थीं, पर उन्हें स्नेह और सहयोग के सहारे तथा अतीत की परंपराओं का पालन करके बहुत-कुछ दूर कर लिया जाता था। सच तो यह है कि परिवार ही आत्म-त्याग के दुर्लभ आदर्श को हृदयंगम करने-कराने का प्रशिक्षण-स्थल था। पिता की सर्वोच्च सत्ता, माता के प्रति आदर और स्नेह तथा भाइयों में जेठे भाई का अधिकारपूर्ण स्थान—रामायण-काल की ये परंपराएं आज भी हिंदू समाज में प्रचलित एवं समादृत हैं।

वैवाहिक व्यवस्था में अनुदारता एवं उदारता, आदर्शवादिता एवं व्यावहारिकता दोनों के कांत दर्शन होते हैं। आर्य-आदर्श के अनुसार स्त्री-पुरुष विवाह द्वारा अपने शारीरिक सुख के लिए ही परस्पर संयुक्त नहीं होते; अतः जीवन-साथी के चुनाव में वैयक्तिक भावना, निजी रुचि-अरुचि अथवा पूर्व-परिचय के लिए विशेष अवकाश नहीं था। पुत्र-पुत्रियां विवाह के विषय में अपने माता-पिता के अधीन रहते थे। उस समय की वैवाहिक विधि से पति-पत्नी के पारस्परिक मनोवैज्ञानिक संबंधों का सुंदर आभास मिल जाता है। विवाह-बंधन इहलोक और परलोक दोनों में अटूट था। इस कठोर आदर्शवादिता के साथ-साथ विवाह-संबंध रचाने में पर्याप्त उदारता भी बरती जाती थी और ऐसा स्वस्थ, बलिष्ठ एवं तेजस्वी संतान की प्राप्ति के लिए किया जाता था। वयस्क विवाह, अंतरजातीय विवाह

तथा ऊंच-नीच वर्गों के बीच विवाह-संबंधों पर प्रतिबंधों का अभाव—ये प्रथाएं रामायणकालीन विवाह-पद्धति में आधुनिकता का पुट ला देती हैं।

हां, बहु-विवाह-प्रथा अवश्य ही एक दोषपूर्ण प्रणाली थी और यदा-कदा पारिवारिक संघर्ष का भी कारण बनती थी, पर साथ ही हमें एकपत्नीव्रत के उस महान आदर्श को भी आंखों से ओझल नहीं करना चाहिए, जिसका पालन वांछनीय एवं अनुकरणीय माना जाता था। प्रेम का आदर्श उत्कृष्ट होते हुए भी व्यावहारिक था। आध्यात्मिकता एवं शारीरिकता का उसमें सूक्ष्म सामंजस्य था। यौन भावना उसमें अवश्य मौजूद थी—नर और नारी का प्रणय लौकिक जीवन का सर्वोपरि वरदान था। फिर भी शारीरिक सुख को ही वैवाहिक जीवन का अथ और इति नहीं मान लिया गया। एक संयत एवं शिष्ट दांपत्य जीवन ही, जिसमें वंश-वृद्धि की इच्छा ज्वलंत रखी जाती है तथा धर्म, समाज और स्वजनों के प्रति अपने कर्तव्यों को भुला नहीं दिया जाता, त्रिवर्ग-प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है।

नारी का व्यक्तित्व नितांत आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक था, फिर भी वर्ण-नातीत, दुर्दमनीय एवं असंगतियों से भरपूर। कन्या, वधू, पत्नी, माता तथा कभी-कभी विधवा और गणिका के विविध रूपों में वह हमारे संमुख आती है। कन्याओं के विवाह की चिंता, उनके भावी जीवन को सुखमय बनाने की उत्कट लालसा के कारण 'कन्या-पितृत्व' सभी संमानित लोगों के लिए दुःखदायक था। फिर भी आर्य-गृहों में वे प्रेमपूर्वक पाली-पोसी जातीं, उन्हें उपयुक्त शिक्षा-दीक्षा दी जाती तथा आमोद-प्रमोद की पर्याप्त स्वतंत्रता प्रदान की जाती थी। अविवाहित कन्याओं का दर्शन, उनकी उपस्थिति मांगलिक समझी जाती थी। पुत्री के कौमार्य की मनोयोग से रक्षा की जाती थी। विभिन्न प्रकार के विवाहों में उसकी स्थिति भी विभिन्न होती थी। नई वहू के रूप में उसे श्वसुरालय में पति की प्रगाढ़ प्रीति और सास-ससुर की प्रचुर स्नेह-सहानुभूति प्राप्त होती थी। पत्नी के रूप में उससे पति के प्रति अलौकिक निष्ठा की अपेक्षा की जाती थी—उसके लिए पति ही देवता और पति ही प्रभु था। अप्रतिम सौंदर्य और एकनिष्ठ पातिव्रत्य ही रामायण के अनुसार आदर्श पत्नी का मापदंड है। मन और शरीर की पवित्रता तथा पति के दुर्गुणों की उपेक्षा कर उससे तादात्म्य स्थापित कर लेना, उसीके प्रिय और हित में संलग्न रहना पातिव्रत्य की परिभाषा थी। पत्नी को पति से भरण-पोषण एवं वैवाहिक एकनिष्ठा पाने का अधिकार था। स्त्री-धन पर पत्नी का

ही स्वत्व माना जाता था। यद्यपि वैधव्य स्त्री के लिए घोरतम विपत्ति था, तथापि विधवाएं अनादर की पात्र नहीं थीं। सती-प्रथा प्रचलित नहीं थी। स्वभाव और शरीर की दुर्बलता के कारण नारी 'अस्वतंत्र' अर्थात पुरुप की आश्रिता थी। पारिवारिक संगठन तथा दांपत्य सुख की दृष्टि से वह आदर-संमान की भाजन थी। सुष्ठु पत्नी का परित्याग अनुचित था, पर दुष्टा स्त्री के त्याग को विहित माना गया था। स्त्री के अस्खलित पातिव्रत्य के विपय में समाज में कठोर धारणा प्रचलित थी; पातिव्रत्य-भंग का आरोप लगाये जाने पर नारी की दशा असहाय एवं दयनीय हो जाती थी।

स्त्रियां प्राय: एकांत में रखी जाती थीं, पर विशेप परिस्थितियां इसका अपवाद थीं। पर्दा-प्रथा केवल राक्षसों में प्रचलित थी, आर्यों और वानरों में नहीं। अपने पति या अपनी सखियों के साथ उन्हें उद्यान, सरोवर आदि में विहार करने की स्वतंत्रता थी। गणिकाएं और वारवनिताएं दुराचार का साधन न होकर राज-कीय वैभव का ही चिह्न थीं। अपहृता नारियों को समाज अपने अंक में पुन: स्थान देने को तैयार न था।

यों तो रामायण दांपत्य जीवन में पति से भी स्नेह, सहानुभूति एवं निप्ठा की अपेक्षा रखती है, पर पत्नी से इन गुणों की कहीं अधिक आशा रखी गई है। फिर भी 'सहधर्मचारिणी' के रूप में—सामाजिक एवं धार्मिक कृत्यों में पति की सहयोगिनी के रूप में—पत्नी की प्रतिप्ठा यह सूचित करती है कि जीवन में स्त्री और पुरुप का समानता का दर्जा था। पति के साथ तपस्या करने का उसे अधि-कार था। सीता और तारा-जैसी वुद्धि-प्रधान नारियों ने नारी-संस्कृति की गौरव-वृद्धि में वहुमूल्य योग दिया था। जहां कहीं नारी के अस्तित्व की, उसके महत्व की उपेक्षा कर दी जाती है, वहीं वह अपना स्वत्व प्राप्त करने को कटिवद्ध हो जाती है। महिलाओं के प्रति उच्च शिप्टाचार का पालन तथा उनके प्रति किये गए अपराधों के लिए कठोर दंड की व्यवस्था से नारी को समाज में संमानित स्थान पाने में सहायता मिली। पारलौकिक कल्याण के लिए पुरुप की संतान-प्राप्ति की इच्छा ने नारी की प्राप्ति (दारोपसंग्रह) को आध्यात्मिक एवं धार्मिक दृप्टि से एक अनिवार्य आवश्यकता वना दिया। वस्तुत: प्रेमपरवश पत्नी और स्नेहशील जननी, अपने इन सर्वाधिक नैसर्गिक एवं सुष्ठु रूपों में नारी को रामायण के अति-रिक्त स्यात ही कहीं इतना अधिक गौरवास्पद एवं प्रशंसा-भाजन वनाया गया हो।

पति की अभिन्न आत्मा तथा धर्माचरण में उसकी सहचरी होने के नाते पत्नी को गार्हस्थ्य जीवन में अधिकारपूर्ण तथा सुरक्षित पद प्राप्त था। एक साध्वी, पति-परायणा एवं चारित्रधना नारी को जो श्रद्धा एवं स्नेह प्राप्त होता था, वह अलोक-सामान्य था—किसी महामुनि को प्राप्त होनेवाले संमान से वह कम नहीं था। सुख और सौभाग्य की केंद्र-विंदु, शील और शोभा की आधान थी रामायणकालीन नारी। लावण्य, सुकुमारता, शांतिप्रियता और ममता उसके विशेप गुण थे—क्रूरता, हिंसा, क्रोध, दर्प और द्वेष उसकी प्रकृति के विपरीत थे।

यद्यपि रामायणकालीन आर्यों के जीवन में नैतिकता और सदाचार का स्वर प्रधान था, तथापि जीवन का भौतिक पक्ष उनकी दृष्टि में उपेक्षित या अना-दृत नहीं था। वे यह अनुभव करते थे कि जीवन-संगीत अनेक लयों का समन्वय है, जिसमें से एक को भी छोड़ देना उसकी पूर्णता में वाधा पहुंचाना है। प्राचीन भार-तीय जीवन-चर्या की जो यह थोथी आलोचना है कि वह निराशाजन्य धार्मिकता से ओत-प्रोत तथा भौतिक प्रवृत्तियों से सर्वथा शून्य है, उसका वाल्मीकि ने पर्याप्त निराकरण कर दिया है। प्राचीन आर्य दार्शनिक एवं अतींद्रिय चिंतनाओं में जितने वढ़े-चढ़े थे, उतने ही वे लौकिक व्यापारों में भी सिद्धहस्त थे; जीवन की सुख-सुवि-धाओं से वंचित रहने की उन्हें कोई लालसा नहीं थी। वहुमूल्य खान-पान के वह अभ्यस्त थे, सुरा और मांस भी उनके लिए सर्वथा वर्जित नहीं थे। फिर भी आध्या-त्मिक जीवन के लिए खान-पान में संयम उचित और आवश्यक समझा जाता था। पाक-क्रिया काफी विकसित थी। सामूहिक भोजों में विनम्रता और शिष्टाचार के साथ भोजन परोसा जाता था। भोजन-क्रिया में देवताओं और अतिथियों की तुष्टि की भावना अधिक रहती थी, मात्र अपनी उदर-पूर्ति की कम।

वस्त्राभूषण, शृंगार-प्रसाधन, शयनासन, उत्सव-समारोह आदि में वैभव का उन्मुक्त प्रदर्शन दृष्टिगोचर होता था। नर-नारी दोनों रसिक, सहृदय एवं शारीरिक सज्जा के प्रेमी थे। जीवन को नीरस न वनने देने के लिए आमोद-प्रमोद का महत्व सुविदित था। मनोरंजनों के उपभोग में संयम, अहिंसा, विलास की वस्तुओं के सीमित उपयोग तथा सामाजिक हित का ध्यान रखा जाता था।

नगरों और गृहों का यथाविधि निर्माण तथा उनकी कलापूर्ण साजसज्जा जनसाधारण का स्थापत्य-प्रेम एवं उनकी कलात्मक अभिरुचि प्रकट करते हैं। उस समय का नागरिक, उसका जीवन-स्तर, उसकी दान-दक्षिणा, शिक्षा-दीक्षा,

वेश-भूषा, उसका क्रीड़ा-विनोद, सब कुछ तत्कालीन युग की वैभव-समृद्धि एवं धन के मुक्त वितरण की ओर इंगित करते हैं। समाज के सुसंस्कृत एवं कलाप्रिय होने के कारण जीवन हर्ष, उल्लास और सौंदर्य से परिप्लावित था। जो कोई इस समाज का एक भद्र सदस्य बनना चाहता, उसे साहित्य तथा संगीत, चित्रकला, स्थापत्य आदि ललित कलाओं से परिचय रखना पड़ता था।

देश में सुशासनजन्य आर्थिक सुव्यवस्था एवं ऋद्धि-सिद्धि का बोलबाला था। कृषि, उद्यान-चर्या, गो-संवर्धन, व्यापार, उद्योग, यातायात आदि की समुन्नत स्थिति थी और फलतः प्रजा के लिए जीवन की सुख-सुविधाएं प्रभूत मात्रा में उपलब्ध थीं। नगर, ग्राम और आश्रमों के बीच निकट संपर्क समाज के सामूहिक कल्याण में सहायक था। दुर्भेद्य दुर्गों के रूप में निर्मित होने पर भी तत्कालीन नगर रचना-नैपुण्य के श्रेष्ठ नमूने थे। नगर-निवासियों में एक उदात्त नागरिक-भावना का संचार था। 'जानपदाः' अर्थात ग्रामीण लोग समृद्ध थे तथा कुटीर-उद्योगों का अनुसरण करते थे। आश्रम राष्ट्रीय संस्कृति के संरक्षक एवं पोषक थे ; उनकी रीति-नीति समस्त राष्ट्र को प्रभावित करती थी।

रामायणकालीन शिष्टाचार स्नेहपूर्ण आतिथ्य, सौहार्दपूर्ण व्यवहार, भद्र एवं सज्जनोचित वार्तालाप, मधुर संबोधन, दूसरों की सहायता करने में तत्परता, अपराधों के लिए क्षमा-याचना आदि विशेषताओं से युक्त था। सामाजिक प्रथाओं में प्राचीन परंपराओं, आत्मगौरव, लोक-निंदा तथा सामूहिक कर्तव्यों का ध्यान रखा जाता था। शकुन, दैव, स्वप्न आदि के बारे में कुछ अंध विश्वास भी प्रचलित थे।

शिक्षा के सिद्धांत में प्रशिक्षण की अपेक्षा संस्कारों को अधिक महत्व दिया जाता था। आश्रम ही उस युग के शिक्षणालय थे। नगरों में व्यावहारिक एवं सैनिक शिक्षा के भी केंद्र थे। गुरु प्रभूत श्रद्धा-संमान का पात्र होता था, उसकी आज्ञाओं का पालन करना शिष्य का परम धर्म था। लिखने की कला का अपेक्षाकृत कम प्रचलन था। शास्त्रों को कंठाग्र करके स्मृति-कोश में सुरक्षित रखा जाता तथा स्वाध्याय एवं घोष द्वारा उनकी पुनरावृत्ति की जाती थी। संभवतः आश्रमों में ही स्त्रियों की भी उच्च शिक्षा का प्रबंध रहता था। ज्ञान की सीमाएं विस्तृत हो चुकी थीं, बौद्धिक क्रिया-कलापों से राष्ट्रीय जीवन परिव्याप्त था। शिक्षा की व्यवस्था मानव-व्यक्तित्व की बौद्धिक, नैतिक, भौतिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकताओं की परिपूर्ति करने में सक्षम थी।

जीवन-विषयक समस्त धारणा धर्म और नीति के उदात्त भावों से अनुप्राणित थी। सत्य और सदाचार के प्रति ऐकांतिक निष्ठा रामायणकालीन आर्यों के जीवन का आदर्श थी। कर्मकांड एवं धार्मिक क्रियाओं की प्रचुरता अवश्य दृष्टिगोचर होती है, पर यह कोई निरा आडंवर नहीं था, क्योंकि उसके साथ-ही-साथ ऐसे सभी कार्यों में लोगों की सक्रिय प्रवृत्ति रहती थी, जो महान, पुण्यशाली एवं आदर्शोन्मुख होते थे। कर्म और दैव में विश्वास होने के कारण लोग सच्चरित्र एवं धर्मभीरु थे। 'हमारे मर्त्य जीवन पर ईश्वर का ही अधिकार है, हम तो निमित्त-मात्र हैं, कर्म-फल भोगने के लिए ही हमें यह जन्म प्राप्त हुआ है,' इस सरल सिद्धांत ने लोगों में यह प्रवल अनुभूति उत्पन्न कर दी थी कि हम इस जगतीतल पर दैव या काल के भेजे हुए आये हैं, कि हमें स्वयं अपना सुख-दुःख चुनने का अधिकार नहीं है, औरों की वात तो दूर रही, कि हमें सही दिशा में इस महान सृष्टि-यज्ञ में यथाशक्ति योग देना है, चाहे वह कितना ही स्वल्प क्यों न हो। आत्मोन्नति ही समाजोन्नति का विजय-द्वार है।

तपस्या, वेदाध्ययन, ब्राह्मणों और दीन-हीनों को दान, अतिथि-सत्कार तथा पितरों का संमान, ये पुण्य-कर्म माने जाते थे। देवताओं के पूजन-अर्चन में सहिष्णुता एवं औदार्य का आश्रय लिया जाता था; परवर्ती युग का संकीर्ण एवं असहिष्णु संप्रदायवाद उन दिनों कोसों दूर था। तपश्चर्या की वड़ी प्रतिष्ठा थी। विभिन्न-पंथी नियमित तपस्वियों के वर्ग समस्त देश में व्याप्त थे, साथ ही प्रत्येक सदाचारी एवं पुण्यात्मा व्यक्ति—नर हो या नारी—अपने स्वभाव को तपःपूत एवं अपने जीवन को तपोमय वनाने को सतत सचेष्ट रहता था।

संक्षेप में, रामायणकालीन संस्कृति में चिरकालीन महत्व एवं सार्वकालिक आदर्श के तत्व मौजूद हैं। उसमें आर्यावर्त के उस समय के मानचित्र का दर्शन होता है, जिस समय आर्य-जाति उन्नति के शिखर पर पहुंची हुई थी। भौतिकता और आध्यात्मिकता के वीच संतुलन रखने के कारण उस संस्कृति का सौरभ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रकट हुआ और अधिकतर शुभ परिणामों का जनक वना। अनीति का दमन, नीति का उन्नयन, पशुता का विरोध और मानवता का प्रवर्धन—यही रामायण का आदर्श है। सुखी गार्हस्थ्य जीवन, सुव्यवस्थित समाज-रचना तथा न्याय एवं प्रजानुरंजन के लिए संचालित शासन-सूत्र—ये उस आदर्श के प्राण-स्रोत थे। अयोध्या के नागरिकों का नैतिक एवं वौद्धिक उत्कर्ष उनकी भौतिक

समृद्धि के ही समान बढ़ा-चढ़ा था। रामराज्य की विशेषताओं का परिगणन करते हुए कवि ने उसे एक अतिशय समुन्नत समय—न्याय और नीति पर आधारित भारतीय शासन-व्यवस्था का स्वर्ण-युग—बताया है। सदाचार, धर्म-परायणता, निष्कपटता, न्यायप्रियता, वैभव, सुख, संतोष आदि की तब जो प्रधानता दीख पड़ती थी तथा अपराध, वर्ग-द्वेष, अशांति, कोलाहल, दुःख, शासक-वर्ग के प्रति असंतोष आदि की जो शून्यता या अल्पता पाई जाती थी, वह आज के इस वैज्ञानिक युग में भी एक अनुकरणीय आदर्श के रूप में हमारे संमुख प्रतिष्ठित है।

: १५ :

भारतीय संस्कृति पर रामायण का प्रभाव

किसी भी साहित्यिक कृति के स्थायित्व एवं शाश्वत महत्व की सच्ची कसौटी यह है कि वह उन लोगों के जीवन को कहां तक प्रभावित करती है, जिनकी संस्कृति का उसमें चित्रण किया गया है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद है कि वाल्मीकि-रामायण की संस्कृति, रोम और यूनान के महाकाव्यों की संस्कृति की भांति, पुरातत्व या इतिहास का खंडहर-मात्र बनकर नहीं रह गई। राष्ट्र की अविच्छिन्न संस्कृति के ताने-बाने में वह शताब्दियों से गुंथी हुई है और आज भी भारतीय जनता के जीवन पर उसका सक्रिय एवं सजीव प्रभाव है। समाज के उच्च से लेकर निम्नतम वर्गों पर उसने इतना व्यापक, अनवरत और गहरा प्रभाव डाला है कि जिसकी तुलना किसी भी अन्य साहित्यिक या धार्मिक कृति के प्रभाव से नहीं की जा सकती। रामायण भारतीयों के मस्तिष्क और हृदय में रम चुकी है, उनकी आकांक्षाओं, भावनाओं एवं आचार-व्यवहार में आत्मसात हो चुकी है। रामायण के महान चरित्र, संसार के अन्य ऐतिहासिक महापुरुषों की अपेक्षा, भारत में कहीं अधिक प्राणवान और वास्तविक हैं। रामायण की आदर्श-भरी उक्तियां हमारे देश के सभी स्तरों के लोगों की रसना पर फल-फूल रही हैं—क्या ऊंच और नीच, क्या राजा और रंक, सर्वत्र उनका सार्वजनीन व्यवहार है। गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस के अतिरिक्त वाल्मीकि-रामायण भी भारत के घरेलू साहित्य का प्रतिनिधित्व करती है तथा महाभारत और पुराणों के साथ-साथ लोक-शिक्षा का सुगम माध्यम बनी हुई है। उसमें वे आदर्श संजोये हुए हैं, जिनके आधार पर चरित्र का निर्माण होता है। उसीकी लोकप्रियता के कारण ब्राह्मण (वैदिक) संस्कृति इस महादेश के कोने-कोने में व्याप्त हो गई। निरक्षर ग्रामीण और प्रकांड विद्वान—सभी प्रकार के सांस्कृतिक स्तर के लोगों को रिझाने की, उनके मनोरंजन

एवं ज्ञानवर्धन की अद्वितीय भारतीय परिपाटी का सक्रिय स्वरूप रामायण के प्रचार में दृष्टिगत होता है। प्राचीन भारतीयों ने विभिन्न जातियों और वर्गों में बंटे हुए समाज को जिस रहस्यमयी शक्ति द्वारा सुसंगठित रखा, उसके प्रकट विरोधों में समन्वय स्थापित किया तथा उसे सत्य, सदाचार और सत्परंपराओं के एक सामूहिक एवं सार्वदेशिक मंच पर लाकर प्रतिष्ठित किया, उसका बहुत-कुछ आभास रामायण के प्रभाव के अध्ययन से हो जाता है। रामायण ने भारतीय जनता में दृष्टिकोण की ऐसी समता और एकात्मता स्थापित कर दी, जिसके समक्ष समस्त वैभिन्य एवं विरोधाभास तिरोहित हो गए। यह थी आर्य-मनीषियों की वह पद्धति, जिससे समस्त राष्ट्र, शत-प्रतिशत साक्षरता की आवश्यकता अनुभव किये बिना ही, सभ्यता और संस्कृति के ऊंचे धरातल तक उठ गया।[1]

रामायण का संमान और उसकी लोकप्रियता वृहत्तर भारत में—दक्षिण-पूर्वी एशिया में—भी कुछ कम नहीं है। वहां आज भी राम की पूजा होती है और उनकी कथा—मूल संस्कृत में, अथवा रूपांतरों में अथवा केवल अनुकृतियों में—श्रोताओं को मंत्र-मुग्ध करती है। एशिया के विभिन्न प्रदेशों में हो रही पुरातत्व की खोजों से रामायण के सांस्कृतिक प्रभाव के प्रमाण बराबर प्रकाश में आ रहे हैं; वहां का जीवन, वहां की कला रामायण से अनुप्राणित रही है।[2] 'आत्म-त्याग, वीरत्व और पति-पत्नी के प्रेम की यह अनूठी कथा विश्व में जितनी प्रसारित हुई है, उतनी कोई अन्य साहित्यिक कृति नहीं।'[3]

पिछले तीन हजार वर्षों के भारत के सांस्कृतिक इतिहास का विशद एवं व्यापक परिचय पाने के लिए हमें राष्ट्रीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर रामायण के प्रभाव का भी यथोचित मूल्यांकन करना चाहिए।

जहां तक भारतीय कविता का प्रश्न है, रामायण सदा से अनगिनत कवियों की प्रेरणा का अनंत स्रोत, चिरंतन आदर्श रही है (परं कवीनामाधारम् १।४।२७)।

---

१. आनंद कुमारस्वामी—'राजपूत पेंटिंग', पृष्ठ ५९।
२. के० ए० नीलकंठ शास्त्री—'दि रामायण इन ग्रेटर इंडिया', 'जर्नल आफ ओरिएंटल रिसर्च', जिल्द ६, भाग २, पृ० १२०।
३. पी० मेसन आर्सेल—'एन्श्यंट इंडिया एंड इंडियन सिविलिजेशन', पृ० २५९।

स्फूर्तियुक्त वर्णन, सरल छंद तथा संगीतमय विविधता से परिप्लावित इस महाकाव्य का भारतीय काव्य-गगन पर छा जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत में ऐसा कोई कवि नहीं था, जिसने वाल्मीकि के काव्य-भंडार से प्रेरणा न ग्रहण की हो और फिर वर्ण्य-विषय पर अपनी कल्पना और प्रतिभा की छाप न बैठा दी हो। संस्कृत साहित्य में महाकाव्य का प्रथम एवं भव्य निदर्शन यही वाल्मीकि-रामायण है। इसीका विश्लेषण कर आलंकारिकों ने महाकाव्य का लक्षण प्रस्तुत किया। **सर्गबन्धो महाकाव्यम्** का प्रथम और सबसे सुंदर लक्ष्य है—रामायण। दंडी का प्रसिद्ध महाकाव्य-विषयक लक्षण रामायण को ही आदर्श मानकर लिखा गया है।[1] भारत में महाकाव्यों की परंपरा का स्रोत वाल्मीकि से प्रवाहित हुआ है, वैसे ही जैसे पाश्चात्य साहित्य में महाकाव्य का 'इलियड' से प्राकट्य हुआ है। एक स्फूर्तिमयी और जनप्रिय रचना होने के कारण रामायण ने परवर्ती साहित्य को एकरूपता के प्रवाह में संचारित ही नहीं किया, अपितु उसे नियंत्रित भी रखा। वह एक ही नायक को केंद्र-बिंदु मानकर रची गई है, उसमें जटिलताओं और विषयांतरों की न्यूनता है, तथा वह संक्षिप्त, सुसंगठित और कवित्वमय है, अतः वह परवर्ती कवियों के लिए स्पर्धा एवं अनुकरण का आदर्श बन गई, जबकि महाभारत, अपनी विशालता और जटिलता के कारण, अनुकरण का आदर्श न बनकर प्रेरणा का ही अधिक स्रोत बना। यद्यपि कालांतर में रामायण की गीतात्मक शैली अपनी ऊर्जस्विता खो बैठी और उसकी भाषा में भी सुधार और परिवर्तन हो गए, तथापि परवर्ती कवि उसके नवीन अनुष्टुप छंद का अनुकरण करते रहे तथा उसके कथानक और वर्ण्य-विषय से मुक्त रूप से तथ्य और प्रेरणा ग्रहण करते रहे।

यों तो राम की आंशिक जीवनी महाभारत तथा प्रायः सभी पुराणों में पाई जाती है,पर स्वयं रामायण पर आधारित काव्यों और नाटकों की संख्या गणनातीत है। सभी कवियों ने वाल्मीकि को आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखा है। 'रघुवंश' में कालिदास ने रामायण को 'कविप्रथमपद्धति' और वाल्मीकि को 'आद्य-कवि'

---

१. **अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्। सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः। सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरंजनम्। काव्यं कल्पान्तरस्थापि जायेत सदलंकृतिः॥**

के नाम से संबोधित किया है। उन्होंने अपना मार्ग पूर्वसूरियों अर्थात वाल्मीकि द्वारा आलोकित बताया है। कालिदास के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि उन्होंने आदि-कवि की रचना में अपने को सराबोर कर दिया है, वाल्मीकि के भावों और शब्दों से अपनी कल्पना और भाव-प्रकाशन-क्षमता को समृद्ध एवं सशक्त बनाया है।[1] भवभूति ने अपने नाटकों में वाल्मीकि के पूरे श्लोक-के-श्लोक तो उद्धृत किये ही हैं, अपनी प्रेरणा के स्रोत इस कवि के प्रति यह श्रद्धांजलि भी अर्पित की है कि ऐसे आदि-कवियों की वाणी का अनुसरण स्वयं अर्थ करता है—**ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति**। राजशेखर के अनुसार स्वयं वेदव्यास वाल्मीकि के शिष्य थे। एक-के-बाद-दूसरा कवि इसी मणि-रत्नों की खान की ओर आकर्षित हुआ। अश्वघोष ने बौद्ध होते हुए भी अपने 'बुद्धचरित' के सिद्धार्थ का चित्रण रामायण के राम के आधार पर किया। रामायण का प्रभाव भट्टि, भारवि, प्राकृत-कवि आढ्यराज और बाण में भी खोजा जा सकता है। जब ऐसे-ऐसे महाकवि उस आदि-कवि के प्रति कृतज्ञ होने में गौरव का अनुभव करते हों, तब क्या आश्चर्य यदि कम प्रतिभावाले लेखक उन्हींसे अपनी समस्त प्रेरणा प्राप्त करें !

फिर भी यह उल्लेखनीय है कि रामायण का अनुसरण करनेवाले संस्कृत के ये मध्यकालीन कवि, अपने समय की परिस्थिति द्वारा प्रभावित होने के कारण, अधिक सफल नहीं हो सके। रामायण-महाभारत की संस्कृत इन कवियों के समय की संस्कृत से बहुत दूर हट चुकी थी और अब पाठकों या श्रोताओं को प्रत्यक्ष प्रभावित करने का प्रश्न ही नहीं था। इस कारण लौकिक संस्कृत के महाकाव्यों में रामायण का सहज स्वाभाविक प्रवाह, उसकी भाव-प्रवणता, सरलता एवं सौंदर्य-चेतना के कम दर्शन होते हैं। इस कमी की पूर्ति के लिए ये कवि पांडित्य-प्रदर्शन और अलंकारों का प्रचुर प्रयोग करने लगे। इन प्रासंगिक असमानताओं के आ जाने पर भी लौकिक संस्कृत साहित्य रामायण के यथासंभव निकट ही बना रहा।[2]

---

१. वे० राघवन—वाल्मीकि एंड कालिदास (के० वी० रंगस्वामी आयंगार स्मृति-ग्रंथ, पृ० ४१२)।

२. आर० वी० जागीरदार—'ड्रामा इन संस्कृत लिटरेचर', पृ० ९-१०।

भारत के प्रादेशिक काव्य-साहित्य पर भी रामायण का प्रभाव इतना व्यापक है कि उसका पूर्ण अध्ययन एक स्वतंत्र प्रबंध में ही संभव है। ईसा की नवीं और दसवीं शताब्दी में, जब संस्कृत और प्राकृत से भारत की आधुनिक भाषाओं का उद्भव हो रहा था, रामायण ने ही उनका दिशा-निर्देश किया, उनके साहित्यकारों को प्रोत्साहित किया और इस प्रकार वर्तमान बोलियों के निर्माण में योग दिया। भारतीय साहित्य के आधे से अधिक हिस्से को वाल्मीकि-रामायण ने प्रेरित किया है। जहां संस्कृत में वाल्मीकि के कथानक को लेकर अनेक रामायणें निर्मित हुईं, वहां आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य में भी राम-कथा की अद्वितीय व्यापकता दिखाई पड़ती है। तमिल कंबन रामायण, तेलुगु द्विपाद-रामायण, मलयालम रामचरित, कन्नड़ तोरवे रामायण, बंगाली कृतिवासीय रामायण, हिंदी रामचरितमानस, उड़िया बलरामदास रामायण, असमिया रामायण, मराठी भावार्थ रामायण, गुजराती रामबालचरित तथा राजस्थानी रघुनाथ रूपक गीतां रो—ये वाल्मीकि की दिग्विजय के प्रमाण हैं। शताब्दियों तक भारत के सभी भागों के हिंदुओं में पुरातन राम-कथा का इन प्रादेशिक रूपों में पठन्-श्रवण होता रहा। बौद्ध और जैन भी रामायण के व्यापक प्रभाव से अछूते नहीं रहे। 'दशरथजातक' (४०० ई० पू०) और 'अनामकजातक' में राम-कथा का बौद्ध रूप देखने को मिलता है तो विमलसूरि के 'पउमचरिय' (१०० ई०) और हेमचंद्राचार्य की जैन-रामायण (१२०० ई०) में जैन-परंपरानुसार राम-कथा वर्णित है। सन १५८५ में बादशाह अकबर के फर्मान से रामायण का फारसी में अनुवाद किया गया। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में रामायण के अंग्रेजी, जर्मन, फ्रांसीसी, इतालवी आदि यूरोपीय तथा भारत की प्रादेशिक भाषाओं में अनुवाद किये गए। हाल ही में चेक भाषा में भी एक अनुवाद हुआ है। हिंदी में वाल्मीकि की कृति के अनेक अनुवाद एवं भावार्थ हुए। 'बंदौ मुनिपदकंज रामायण जेहि निरमयेऊ' के द्वारा तुलसीदासजी ने कालिदास की तरह वाल्मीकि को अपना आदर्श बनाया था। तब से लेकर भारतेंदु हरिश्चंद्र के पिता श्री गिरिधर-दास-कृत 'वाल्मीकि-रामायण' (सातों कांड पद्यानुवाद) तक वाल्मीकि के कई अनुवाद और भावार्थ हिंदी को प्राप्त हुए। छत्रधारी ने संवत १९१४ में वाल्मीकि-रामायण के तीन कांडों का अनुवाद किया, संतोषसिंह ने सं० १८१० में उसका भाषानुवाद किया और गणेश कवि ने 'वाल्मीकीय रामायण श्लोकार्थ

प्रकाश' के नाम से वालकांड और सुंदरकांड के पांच सर्गों का भाषानुवाद किया।[1]

एक अन्य दृष्टि से भी रामायण ने अपना प्रभाव प्रकट किया। जैसाकि हम देख चुके हैं, आरंभ में उसका प्रचार लव-कुश ने जन-समूहों में गा-गाकर किया था। रामायण की कथा की मनोहारिता ने भ्रमणशील गायकों के वर्ग को अपनी कला-चातुरी के प्रदर्शन का एक अपूर्व अवसर प्रदान किया। रामायण का सामूहिक गान और पाठ शताब्दियों से प्रचलित रहा है, जिसका सबसे प्राचीन उदाहरण द्वितीय शताब्दी ईस्वी की कुमारलात-कृत 'कल्पनामंडितिका' में उपलब्ध होता है। आज भी रामनवमी के महोत्सव पर वाराणसी और मथुरा में गायकों के कंठ से निःसृत रामायण-गान अपार जनता को मुग्ध करता है।

जहां तक वृहत्तर भारत में राम-कथा के प्रसार का प्रश्न है, यह देखा गया है कि आज तक कंबोडिया, लाओस, थाईलैंड और हिंदचीन के अन्य भागों में राम का आख्यान लोकप्रिय है तथा वहां की मौलिक कला और साहित्य का एक प्रमुख स्रोत बना हुआ है। इन देशों के शिलालेखों, स्थापत्य तथा मूर्तियों के प्रमाणों से सिद्ध होता है कि हिंदचीन में अत्यंत प्राचीन काल से रामायण व्यापक रूप में प्रचलित थी।[2]

संस्कृत नाटककारों के लिए रामायण प्रारंभ से ही प्रेरणा की मुख्य स्रोत रही है। आदि-काव्य का उद्देश्य साहित्य को कला बना देना, रस और सौंदर्य के आस्वादन के लिए उपयुक्त भूमि तैयार करना था; और इस उद्देश्य की परिपूर्ति नाटकों में जाकर हुई।[3] वैदिक आख्यानों तथा औपनिषदिक कथोपकथनों की अपेक्षा रामायण की कथा मानवीय सुख-दुःखों से अधिक संबंध रखती है और उस कथा का निर्वाह भी अधिक मानव-संवेद्य ढंग से किया गया है। उसमें घटनाओं और मानव-मनोभावों का भी अधिक सजीवता के साथ समावेश हुआ है। संस्कृत नाटककारों ने रामायण के कथानक पर अपनी रचनाएं आश्रित करके इन तत्वों

---

१. वासुदेवशरण अग्रवाल—'हिंदी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव', 'आलोचना', ६, पृ० ४१-२।

२. देखिए नीलकंठ शास्त्री का 'जर्नल आफ ओरिएंटल रिसर्च' ६।२ में लेख।

३. आर० वी० जागीरदार—'ड्रामा इन संस्कृत लिटरेचर', पृ० १४।

को अपनी कृतियों में सुरक्षित रखा। रामायण की दोनों प्रमुख विशेषताएं—दर्शन और वर्णन (वस्तु-तत्व का यथार्थ दर्शन और अनुभूत वस्तु-तत्व की रस-पेशल शब्दों में अभिव्यक्ति)—संस्कृत नाटक-साहित्य में स्वीकार कर ली गईं। पौराणिक साहित्य में (चित्र-विचित्र कथा, अलौकिक पात्र, अर्ध-दिव्य प्राणी तथा अंधकार और दुष्टता के प्रतीक निशाचरों के रूप में) जो अलौकिकता का पुट पाया जाता है, वह संस्कृत काव्यों में ही नहीं, नाटकों में भी बहुत-कुछ समाविष्ट कर लिया गया। प्राकृतों अर्थात बोलचाल की भाषाओं का नाटकों में उपयोग करने की प्रवृत्ति भी रामायण-महाभारत से प्रभावित हुई जान पड़ती है, क्योंकि बोल-चाल की भाषा में लिखने का सर्वप्रथम प्रयास इन्हींमें किया गया। कीथ महोदय की मान्यता है कि रामायण के सामूहिक पाठ और गान से उसमें निहित नाटकीय तत्व प्रकट हुए, जिन्हें कालांतर में साहित्यिक रूप दे दिया गया।[1]

भास के नाम से प्रचारित नाटकों में से तीन—'बालचरित', 'अभिषेक' और 'प्रतिमा'—रामायण की घटनाओं पर आधारित हैं। उनमें प्रायः समग्र राम-कथा आ गई है। रामायण की कथा-वस्तु पर वे इतने अधिक आश्रित हैं कि उन्हें संस्कृत नाटक के प्रारंभिक रूप का प्रतिनिधि मान लेना असंगत न होगा। उनमें जो अपाणिनीय प्रयोग दीख पड़ते हैं, उनका कारण यही रहा होगा कि वे भी रामायण की भांति लौकिक शैली में लिखे गए। रामायण की तरह कथा और वर्णन उनके भी मुख्य लक्षण हैं।

भास के पश्चात दीर्घ काल तक रामायण पर रचित नाटक नहीं मिलते। भास ने भी रामायण की अपेक्षा महाभारत को अधिक अपनाया। सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जाकर भवभूति ने अपने तीन नाटकों में से दो—'महावीर-चरित' और 'उत्तररामचरित'—वाल्मीकि के आधार पर रचे। इसी कारण 'महावीरचरित' की प्रस्तावना में सूत्रधार से नट पूछता है कि राम-कथा का कौन-सा अंश अभिनीत किया जा रहा है, क्योंकि ऐसा कार्य (रामायण का नाटकीकरण) असामान्य है। भवभूति ने वाल्मीकि की कथा की रूढ़ि-विरोधी व्याख्या कर अपने कौशल का परिचय दिया है। उन्होंने अपने उन पूर्ववर्ती (भास के नहीं) नाटकों के दोषों को भली भांति भांप लिया, जिनमें नृपतियों की प्रणय-लीलाओं के घिसे-

---

१. 'संस्कृत ड्रामा', पृ० २७।

पिटे कथानकों का ही पिष्टपेषण किया गया था (जैसे हर्ष के नाटक) और एक ऐसा नाटक प्रस्तुत किया, जिसमें 'सुसंस्कृत मस्तिष्क की वीरोचित भावनाओं, विभिन्न चरित्रों के घात-प्रतिघात तथा उनकी सूक्ष्म संवेदनाओं का निपुण अंकन' किया गया था। उनके लिए नाटक मूलत: एक सामाजिक अध्ययन था, लोक-चरित का प्रस्तुतीकरण था। उनके नाटकों की कथा प्राचीन होते हुए भी सर्वथा नवीन ढंग से प्रस्तुत की गई है। उनके दोनों राम-नाटकों में समग्र रामायण की कथा आ गई है। इनमें नाटककार ने राम के जीवन और उनके कार्यों का वर्णन ही नहीं किया है, प्रत्युत अपने समाज और वातावरण की पृष्ठभूमि में उनकी व्याख्या और समीक्षा भी की है।

संस्कृत नाटकों के रचना-काल के अंतिम चरण में रामायण का प्रभाव पुन: प्रकट होता है, जैसाकि दिङ्नाग या वीरनाग की 'कुंदमाला', राजशेखर का 'बाल-रामायण', मुरारि का 'अनर्घराघव', जयदेव का 'प्रसन्नराघव' और रामभद्र दीक्षित का 'जानकीपरिणय'-जैसी कृतियों से सिद्ध है। संस्कृत नाटककारों पर रामायण के महान ऋण को स्वीकार करते हुए मुरारि ने कहा है कि समस्त कवि-रूपी व्यापारियों के लिए वाल्मीकि ने एक सामूहिक पूंजी प्रस्तुत कर दी है—अहो सकल-कविसार्थसाधारणी खल्विदं वाल्मीकीया सुभाषितनीवी। दसवीं शताब्दी के बाद जाकर कहीं हम भास के पश्चात प्रथम बार महाभारत पर रचित नाटक पाते हैं। किंतु जहां भास और भवभूति ने रामायण की घटनाओं का नाटकीकरण किया, वहां बाद के नाटककारों ने राम-कथा को गद्य-पद्य-मयी चंपू-शैली में तथा पौराणिक वातावरण में दोहरा-भर दिया।

रामायण से लौकिक संस्कृत के प्राचीन नाटककारों ने ही प्रेरणा नहीं ली, वरन आज भी भारत में उसके आधार पर नाटक और चित्रपट निर्मित किये जा रहे हैं। राम-कथा के सर्वप्रथम नाटकीकरण का उल्लेख 'हरिवंश' में हुआ है और उसका वर्तमान रूप नगर-नगर और गांव-गांव में खेली जानेवाली राम-लीलाओं में पाया जाता है। विशेष कर चैत्र और आश्विन के नवरात्र-महोत्सव में रामायण के अनेक दृश्य अभिनीत किये जाते हैं, तथा अंत में रावण, कुंभकर्ण और मेघनाद के पुतलों को जलाकर पाप पर पुण्य की विजय सूचित की जाती है।

साहित्य के अतिरिक्त कला-कौशल पर भी रामायण का प्रभाव लक्षित होता है। दुर्भाग्यवश आज हमारी जानकारी के लिए प्राचीन काल के रामायण-

संवंधी चित्रों के कोई अवशेष उपलब्ध नहीं हैं। हां, भवभूति के 'उत्तररामचरित' के आरंभ में राम और सीता को अपने जीवन-विषयक चित्रों का अवलोकन करते हुए दिखाया गया है और इस प्रकार करुण रस की अभिव्यंजना को तीव्रतर वनाने की चेष्टा की गई है। भारत के विभिन्न संग्रहालयों में मध्ययुगीन चित्रकृतियों के जो नमूने सुरक्षित हैं, उनमें कई राम-कथा से भी संवंधित हैं। भारतीय चित्र-कला के समग्र विकास का सिंहावलोकन करने पर पता चलता है कि उसमें रामायण और महाभारत के दृश्यों की ही प्रायः पुनरावृत्ति की गई है। लंदनस्थित इंडिया आफिस पुस्तकालय में एक सचित्र रामायण के कुछ अंश मिलते हैं। राजपूत-शैली (जिसका समय तेरहवीं शताव्दी के आरंभ से उन्नीसवीं शताव्दी का मध्य माना जा सकता है) तथा कांगड़ा-शैली के चित्रों में रामायण के अनेक दृश्य अंकित हैं। जोधपुर के संग्रहालय में लगभग सौ वर्ष प्राचीन इक्यानवे रामायणविषयक चित्रों का संग्रह मौजूद है। जयपुर के पोथीखाने में रामायण के फारसी अनुवाद की एक सौ छिहत्तर चित्रों और सुनहरे वार्डर से सज्जित नयनाभिराम हस्तलिखित प्रति पड़ी है। ए० कनिंघम के चित्र-संग्रह में रामायण-संवंधी अनेक चित्र उद्धृत हैं।

वृहत्तर भारत की ललित कलाओं पर भी रामायण का कितना प्रभाव पड़ा है, यह चंपा (प्राचीन हिंदचीन) के पड़ोसी कंवोज से प्राप्त प्रचुर प्रमाणों से सिद्ध होता है। फनोम-पेन के मसी खमेर में कंवोज-रामायण के दृश्य दस वर्गों में अंकित हैं, जिनमें जनक द्वारा सीता की प्राप्ति, राम द्वारा शिव-धनुष-भंग, विवाह के वाद अयोध्या लौटते हुए राम का परशुराम के साथ विवाद आदि वालकांड की सुविदित घटनाएं पहचानी जा सकती हैं।

प्राचीन भारतीय स्थापत्य के उपलब्ध नमूनों पर रामायण में वर्णित नगरों और प्रासादों की छाप दिखाई पड़ती है।[1] लंका के वर्णन में वाल्मीकि कहते हैं कि उस नगरी की दुर्भेद्य दीवार के चारों ओर कमलों से युक्त खाइयां हैं (**परिखाभिः सपद्माभिः सोत्पलाभिरलंकृताम्**, ५।२।१४)। इस वर्णन की यथावत प्रतिकृति सांची में तथा अन्यत्र खुदी खाइयों में मिलती है (चित्र ३३)। आगे वाल्मीकि

---

१. देखिए—सी० शिवराममूर्ति—'सम आर्किटेक्चरल पैसेजेस इन दि रामायण', ('जर्नल आफ ओरिएंटल रिसर्च', जिल्द १३, भाग २, पृ० ८७-९२)।

कहते हैं कि खाई के पार प्राकार या चहारदीवारी थी, जिसकी ओट में रावण का समूचा महल छिप गया था (प्राकारावृतमत्यन्तम्, ५।४।२६)। इसी प्रकार प्राचीन स्थापत्य में भी ऊंचे परकोटे देखने को मिलते हैं, जिनमें कहीं सांची की तरह ऊपर की ओर रेखालंकरण हैं तो कहीं अमरावती की भांति सीधी सरल रेखाएं-मात्र (चित्र ३०, पृष्ठ २१२)। लंका के अट्ट, प्राकार और तोरण की झांकी सांची, अमरावती तथा अन्यत्र पाये

चित्र ३२—अलंकृत तोरण (अमरावती)
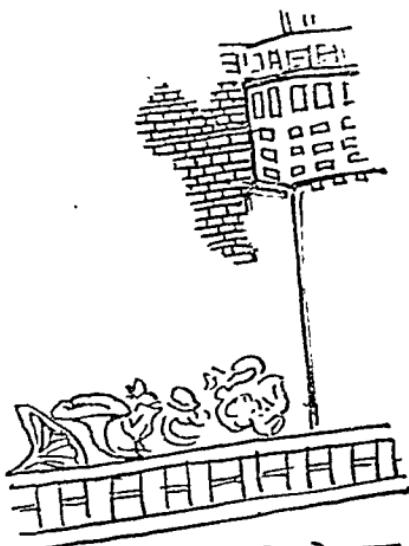
चित्र ३३—परकोटे के पास कमलयुक्त खाइयां (सांची, प्रथम शताब्दी ई० पू०)
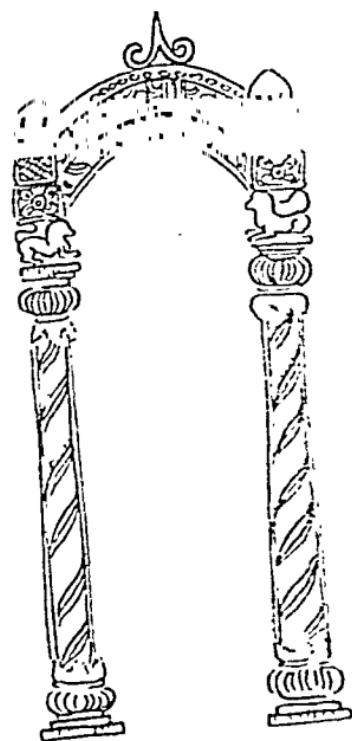
जानेवाले स्तूपों में की जा सकती है और उनका वर्णन कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में भी मिलता है। लंका के सुनहरी लता-पंक्तियों से सुशोभित तोरणों (तोरणैः कांचनैर्दिव्यैर्लतापंक्तिविराजितैः, ५।२।१८) का अनुकरण अमरावती के एक तोरण में हुआ है, जिसमें

ऐसा ही लतालंकरण किया गया है और पत्तों को खंभा लपेटते हुए दिखाया गया है (चित्र ३२)। सांची के तोरण-स्तंभों पर भी ऐसे अलंकरण प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं।

भरहुत, वोधगया, अमरावती, उदयगिरि और अन्य स्थानों में ऐसे दृश्य अंकित हैं, जिनमें हाथी लक्ष्मी को स्नान करा रहे हैं। यह दृश्य पुष्पक-विमान के वर्णन का स्मरण दिलाता है कि उसमें हाथियों के साथ लक्ष्मी कमलासन पर हाथ में कमल लिये हुए अंकित की गई थी।[1] सांची के तोरण-द्वार पर लक्ष्मी वैठे और खड़े रहने की मुद्रा में कई वार अंकित हुई है (चित्र २८, पृष्ठ १९८)।

वाल्मीकि के वर्णनानुसार पुष्पक-विमान को निशाचर आकाश में लिये घूमते थे (**वहन्ति यं कुण्डलशोभितानना महाशना व्योमचरा निशाचराः**, ५।८।७), अर्थात उसके निम्न भाग में इस प्रकार के विचित्र प्राणी वने हुए थे, जो समूचे विमान को उठाकर आकाश में ले जाते हुए प्रतीत होते थे। उधर नासिक की तीसरी गुफा में प्रासाद का भार-वहन करते हुए ऐसे ही दैत्याकार प्राणियों की पंक्ति चित्रित की गई है। सांची में भी तोरण-स्तंभों को उठाते हुए विचित्र, वड़े पेटवाले, कुंडलधारी वौने वने हुए मिलते हैं (चित्र २९, पृष्ठ १९९), जो वाल्मीकि के वर्णन से विलकुल मेल खाते हैं। वाल्मीकि ने 'ईहामृगों' (कलाकार की कल्पना से प्रसूत चित्र-विचित्र जंतुओं) से पुष्पक के स्तंभों को सुशोभित वताया है,[2] और इस अभिप्राय का उपयोग भरहुत, सांची, वोधगया, मथुरा, अमरावती आदि के प्राचीन स्थापत्य में किया गया है। ऐसे हाथी, घोड़े और सांड़, जिनका पृष्ठ-भाग मछली का-सा होता है, कल्पना-निर्मित जंतुओं (ईहामृगों) की श्रेणी में आते हैं। प्राचीन स्तंभों के शीर्ष पर प्रायः हाथी और सिंह के आकार के आकाशचारी दैत्य वैठे पाये जाते हैं, जिनके अगले पाद-मूलों से पंख निकले रहते हैं (चित्र २८, पृष्ठ १९८)। सिंह-जैसे शरीर और वाज-जैसी नाकवाला दैत्य भी ईहामृग की कोटि की कला-कृति है। मछलीनुमा थलचर जीव खंभों पर प्रायः मानव के पैरों के

---

१. वभूव देवी च कृता सुहस्ता लक्ष्मीस्तथा पद्मिनि पद्महस्ता ।५।७।१४

२. ईहामृगसमायुक्तैः कार्तस्वरहिरण्मयैः । सुकृतैराचितां स्तम्भैः प्रदीप्तमिव च श्रिया ॥५।९।१३

नीचे दबे अंकित रहते हैं (चित्र २७, पृष्ठ १९७)। रामायण में इस प्रकार के विचित्र जंतुओं का वर्णन हुआ है।[1]

रण-भूमि का वर्णन करते समय वाल्मीकि युद्ध-रत सेना की तुलना किसी विशाल नदी या समुद्र से करते हैं, जिसमें हाथियों और घोड़ों के रूप में मछलियां और मगरमच्छ भरे हैं। प्राचीन प्रस्तर-कला में मछली की-सी पूंछवाले घोड़े तथा मछली के-से पृष्ठ-भागवाले हाथी बने मिलते हैं (चित्र ३४)। संभवतः शिल्पकार के मन में यह कौतूहल जगा हो कि वाल्मीकि की काव्य-कल्पना को पाषाण में अंकित करने पर कैसा प्राणी चित्रित होगा। महाभारत में भी 'गजवक्त्रझष' (हाथी के मुंहवाली मछली) और 'मीनवाजी' (मछली-जैसे हाथी) का उल्लेख हुआ है।[2]

चित्र ३४—गजवक्त्रझष (अमरावती)

वाल्मीकि का कथन है कि पुष्पक-विमान के खंभे श्रेष्ठ नारी (-चित्रों) से उद्भासित थे (**नारीप्रवेकैरिव दीप्यमानम्**, ५।७।७)। जान पड़ता है, इसी पद्यांश की प्रस्तर-टीका के रूप में जग्गय्यपेट्ट, मथुरा और भुवनेश्वर के मंदिर-स्तंभों पर यक्षिणियों की सुंदर मूर्तियां अंकित हैं (चित्र ३५)। इसी प्रकार वाल्मीकि का यह वर्णन कि पुष्पक-विमान को उत्तम हंस उड़ा लिये जा रहे थे (**हंसप्रवेकैरिव वाह्यमानम्**, ५।७।७), अमरावती के एक प्राचीन प्रस्तर-चित्रण में पाया जाता है, जहां स्तंभ-मूलों (चौखूंटे निचले भागों) में हंसों की पांत बनाई गई है (चित्र ३६)। ऐसे और भी उदाहरण घंटशाला और नागार्जुनीकोंड में मिलते हैं। केवल हंसों की पांत का सुंदर नमूना अशोक-स्तंभ से बढ़कर अन्यत्र नहीं मिल सकता। बेलूर और हलेबिद के मध्यकालीन स्थापत्य में कमल-नाल

---

१. मृगसिंहमुखैर्युक्तं खरैः कनकभूषितैः ॥६।५१।२८; देखिए सी० शिवराममूर्ति—'संस्कृत लिटरेचर एंड आर्ट, मिरर्स आफ इंडियन कल्चर', पृ० २।

२. सी० शिवराममूर्ति—'अमरावती स्कल्पचर्स', पृ० ९३।
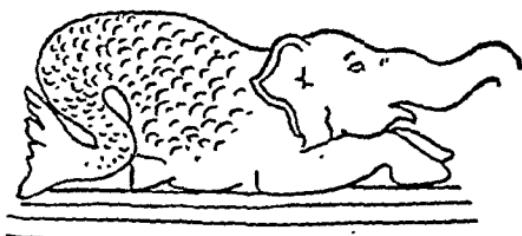
लिये हुए हंस वहुतायत से मिलते हैं।[1] विजयनगर के मंदिरों में भी इस अभिप्राय की पुनरावृत्ति हुई है। प्राचीन अवशेषों में फड़फड़ाते पंखोंवाले तथा चोंचों में
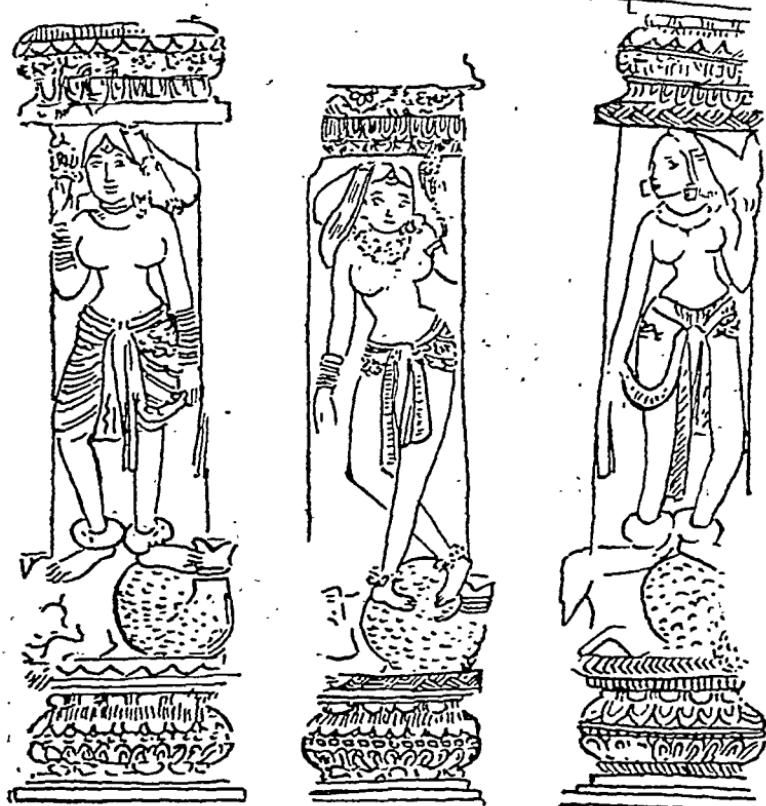
चित्र ३५—स्तंभों पर उत्कीर्ण नारियां (जग्गय्यपेट्ट, दूसरी शताब्दी ई०)

कमल और मालाएं लिये प्रस्तर-निर्मित हंस वाल्मीकि द्वारा वर्णित उन विहंगों की स्मृति दिलाते हैं, जो मूंगों और स्वर्ण-पुष्पों से जड़े अपने पंखों को लीलापूर्वक सिकोड़ते और मोड़ते जान पड़ते थे।[2]

---

१. सी० शिवराममूर्ति—'सम आर्किटेक्चरल पैसेंजेस इन दि रामायण' ('जर्नल आफ ओरिएंटल रिसर्च', जिल्द १३, भाग २, पृ० ९१-२)।

२. प्रवालजाम्बूनदपुष्पपक्षाः सलीलमावर्जितजिह्मपक्षाः।५।७।१३

प्राचीन वास्तु में, जैसाकि कोंडणे गुफा के उदाहरण से प्रकट है, जाल-वातायन (जालीदार खिड़की) के निकट वेदिका (जंगला) बनाई जाती थी (चित्र ३७)। इसे वाल्मीकि ने बहुत पहले ही इंगित कर दिया था।[1]

चित्र ३६—स्तंभ-मूल में हंसों की पांत (अमरावती)

रामायण में मंदिरों और महलों की समता, उनकी ऊंचाई के कारण, प्रायः मेरु, मंदर और कैलास पर्वतों से की गई है (कैलासशिखरप्रख्यमालिखन्तमिवाम्बरम्, ५।२।२३)। वाल्मीकि की इस उत्प्रेक्षा का साकार रूप सुदूरवर्ती कंबोडिया के भव्य मंदिर अंकोर थाम और उसके गगनचुंबी शिखरों में देखा जा सकता है, जहां तक पहुंचने के लिए खाइयों पर बने पुल पर से होकर जाना पड़ता है। पुल की एक ओर देवों की और दूसरी ओर असुरों की चौवन-चौवन मूर्तियों की कतार बनी हुई है, जो अनेक फनोंवाले एक नाग को थामे हुए है (चित्र ३८, ३९)। यह दृश्य स्पष्टतः मंदर पर्वत को मथानी और वासुकि नाग को रस्सी

चित्र ३७—जाल-वातायन (कोंडणे गुफा, लगभग प्रथम शताब्दी ई

१. जालवातायनैर्युक्तं काञ्चनैः स्फाटिकैरपि। इन्द्रनीलमहानीलमणिप्रव
कम्॥५।९।१६

बनाकर अमृत-प्राप्ति के लिए समुद्र-मंथन करते हुए देवासुरों का है। इस अमृत-मंथन की घटना का उल्लेख वाल्मीकि के इस कथन में हुआ है कि महाकाय रावण
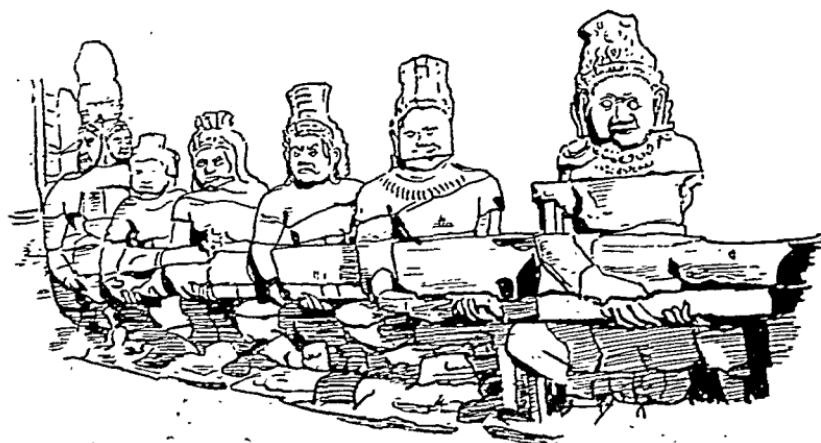
चित्र ३८—अमृत-मंथन के लिए वासुकि नाग को थामे हुए असुर (अंकोर थाम, कंबोडिया, नवीं शताब्दी ई०)

मंदर पर्वत के समान था और उसकी काली करधनी वासुकि नाग की भांति थी।[1] कंबोडिया के भव्य स्थापत्य में भारत की इस महान पौराणिक घटना का प्रस्तर-अंकन दर्शनीय है।

किष्किंधाकांड (४३।४४-८) में सब प्रकार की इच्छा-पूर्ति करनेवाले कल्प-वृक्ष का विस्तृत वर्णन आया है। प्राचीन स्तूपों में कल्पवृक्ष का स्थान कल्पवल्ली ने ले लिया है, क्योंकि स्थापत्य में यही अभिप्राय अधिक सुविधाजनक है। भरहुत और सांची के स्तूप के कटघरे पर पूरी लंबाई में, मानो वाल्मीकि के ही अनुकरण पर, एक सर्पाकार कल्पवल्ली बनी हुई है (चित्र ४०)।[2]

---

१. श्रोणीसूत्रेण महता मेचकेन सुसंवृतः। अमृतोत्पादने नद्धो भुजंगेनेव मन्दरः॥ ५।२२।२६; देखिए—सी० शिवराममूर्ति—'संस्कृत लिटरेचर एंड आर्ट...', पृ० ८-९।

२. 'संस्कृत लिटरेचर एंड आर्ट...' पृ० ११।

रामायण में रावण और नींद में बेसुध उसकी रानियों का जो मनोहर वर्णन आया है (५।१०), उसकी प्रायः पुनरावृत्ति, वैसी ही परिस्थितियों में, अश्वघोष

चित्र ३९—अमृत-मंथन के लिए वासुकि नाग को थामे हुए देव (अंकोर थाम, कंबोडिया, नवीं शताब्दी ई०)

ने की है। वाल्मीकि ने बताया है कि निद्रामग्न राक्षसी रमणियां किस प्रकार वाद्य-यंत्रों से लिपट-चिपटकर सो रही थीं। उनके सोने की प्रत्येक संभव मुद्रा का कवि ने बड़ा ही रम्य एवं विशद शब्द-चित्र खींचा है। यह चित्र अमरावती के उस शिला-फलक पर मानो पुनर्जीवित हो गया है, जिसमें गृह-त्याग से पूर्व सिद्धार्थ के अंतःपुर का दृश्य अंकित है। अश्वघोष ने इसी दृश्य का वाल्मीकि के अनुकरण पर वर्णन किया है। अमरावती के प्रस्तर-अंकन में वाल्मीकि के वर्णन की सभी विशेषताएं उभरी हैं—विभिन्न वाद्य-यंत्रों के साथ अंतःपुर की नारियां ठीक वाल्मीकि द्वारा वर्णित शयन-मुद्राओं में सोती देखी जा सकती हैं (चित्र ४१)।[1]

---

१. 'संस्कृत लिटरेचर एंड आर्ट...', पृ० २०।

इसी प्रकार उत्तरकांड का वह स्थल, जहां राम सीता को मधु-मैरेय पिलाते हैं, अजंता के मधुपान-दृश्य में मूर्तिमान दृष्टिगोचर होता है (चित्र २१, पृष्ठ ९१)।[1]
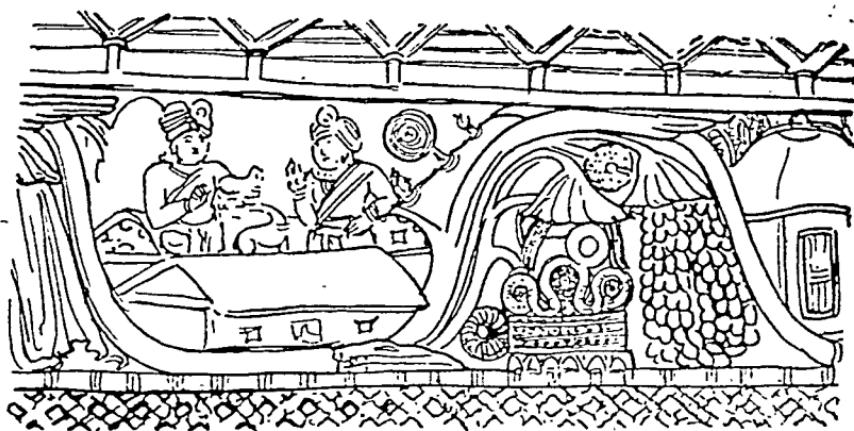
चित्र ४०—कल्पवल्ली (भरहुत, दूसरी शताब्दी ई० पू०)

चित्र ४१—वाद्य-यंत्रों के साथ सोई हुई नारियां (अमरावती, दूसरी शताब्दी ई०)

---

१. 'संस्कृत लिटरेचर एंड आर्ट...,' पृ० १५।

वाल्मीकि ने राम के अनेक कक्ष्याओं (चौकों) वाले जिस राजप्रासाद का सूक्ष्म वर्णन किया है (२।१५। ३०-३९), उसकी झांकी अमरावती, सांची और भरहुत के प्रासाद-स्थापत्य में की जा सकती है।[१] अरण्यकांड में वर्णित छत्रं **दिव्यमाल्योपशोभितम्** (३।६४।४५)—मालाओं से सुशोभित छत्र—की अनुकृति अमरावती के मणि-जटित और सुनिर्मित प्रस्तर-छत्रों में की गई है।[२] वाल्मीकि-कृत कबंध का वर्णन, जिसके अनुसार वह मस्तक-रहित और पेट पर आंखवाला एक विकराल राक्षस था, अमरावती के एक स्थपति के हाथों साकार हो उठा है।[३] यह 'उदरेमुख' अभिप्राय, अपनी असाधारणता के कारण, घंटशाला, सारनाथ, अजंता और प्रांबनन के शिव-मंदिर की भित्तियों पर भी भरपूर दोहराया गया है (चित्र ४२)।[४]

इन प्रमाणों के आधार पर यह सहज निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन भारत के भवन-निर्माताओं ने वाल्मीकि-रामायण के स्थापत्य-विषयक संकेतों का अवश्य उपयोग किया होगा।

---

१. 'संस्कृत लिटरेचर एंड आर्ट...', पृ० ७२-३।
२. सी० शिवराममूर्ति—'अमरावती स्कल्पचर्स', पृ० ९७।
३. वही, पृ० ५१।
४. सी० शिवराममूर्ति—'संस्कृत लिटरेचर एंड आर्ट...', पृ० ८३।

चित्र ४२—अमरावती, घंटशाला, अजंता, बादामी और प्रांबनन से प्राप्त 'उदरेमुख' अभिप्राय

यह भी सर्वथा संभव जान पड़ता है कि रामायण में वर्णित कुछ दृश्यों का अंकन मुद्राओं पर भी कर लिया गया हो। एक ऐसा ही दृश्य अयोध्याकांड के आरंभ में आता है। जब महाराज दशरथ अपनी सभा को यह सूचित करते हैं कि मैं राम को युवराज-पद अभिषिक्त कर विश्राम करना चाहता हूं, तव सभासद कह उठते हैं कि हम महावाहु राम को, जिनके मुख पर राजछत्र से छाया की जा रही हो, विशाल हाथी पर जाते हुए देखना चाहते हैं।[1] कुमारगुप्त की हस्तियुक्त मुद्रा में इस दृश्य को बड़ी सुंदरता से अंकित किया गया है; उसमें भी सम्राट राजकीय हाथी पर सवार होकर जा रहे हैं तथा एकछत्र शासन का सूचक छत्र उनके सिर पर तना है। 'कैटेलाग आफ इंडियन कॉइन्स' में गुप्तकालीन सिक्कों की सूची (फलक १५।१६) में कुमारगुप्त प्रथम की पांचवीं शताब्दी की एक स्वर्ण-मुद्रा की प्रतिकृति दी गई है, जिसके सामने के भाग में राजा दायें हाथ में तलवार लिये हाथी पर सवार है, हाथी बाईं ओर मुड़ रहा है तथा राजा के पीछे एक अनुचर राजा के सिर पर छत्र ताने बैठा है (चित्र ४३)।[2]

चित्र ४३—कुमारगुप्त प्रथम की स्वर्ण-मुद्रा (पांचवीं शताब्दी ई०)

"भारत में रामायण और महाभारत, राम और सीता, हनुमान और रावण, विष्णु और गरुड़, कृष्ण और राधा तथा कौरव और पांडव सर्वत्र चित्रित, अंकित या निर्मित दीख पड़ते हैं—मंदिरों में, भवनों में, अलंकृत काष्ठ-कला में, तांबे-पीतल के घरेलू वर्तनों और दीवारों पर। राम, विष्णु की भांति, हर्षसूचक पीले रंग में चित्रित किये जाते हैं, लक्ष्मण बैंगनी में, भरत हरे में और शत्रुघ्न लाल

---

१. इच्छामो हि महावाहुं रघुवीरं महावलम् । गजेन महता यान्तं रामं छत्रावृताननम् ॥२।२।२२

२. सी० शिवराममूर्ति—'न्यूमिस्मैटिक पैरेलल्स आफ कालिदास', पृ० १३, १७।

में। जो चित्र स्त्रियों के हाथीदांत के कघों पर कढ़े रहते हैं अथवा उनके दर्पणों के पीछे बने रहते हैं अथवा उनके आभूषणों, पलंगपोशों और पर्दों पर अंकित रहते हैं, वे सब इन्हीं ऐतिहासिक चरित्रों, दृश्यों अथवा घटनाओं पर आधारित होते हैं।"[1]

राम-कथा का मंदिर-निर्माण अथवा पाषाण-शिल्प में प्रचुर अंकन मिलता है। इसके नमूने देवगढ़-स्थित गुप्तकालीन दशावतार मंदिर, हलेबिद (होयसल) तथा हजरा के राम-मंदिरों में बहुतायत से मिलते हैं। एलोरा की कैलास-गुफा में चट्टानों को काटकर बनाई गई दीवारें रामायण की दृश्यावली से अलंकृत हैं। ऐहोल के दुर्गा-मंदिर तथा औरंगाबाद की तीसरी गुफा में राक्षसों के पाषाण-निर्मित चेहरे पाये जाते हैं।[2] द्वितीय शताब्दी ई० पू० के आसपास की भरहुत की पाषाण-कला में एक आश्रम-दृश्य अंकित है, जो कनिंघम के अनुसार प्रयाग-स्थित भरद्वाज-आश्रम या चित्रकूट-स्थित अत्रि-आश्रम है तथा जिसमें राम, लक्ष्मण और सीता ऋषि के सामने खड़े हैं (चित्र ३०, पृष्ठ २३०)।[3] रामायण के दृश्यों का कहीं अधिक विस्तृत, नाटकीय और ब्योरेवार अंकन लगभग द्वितीय शताब्दी ईस्वी की नागार्जुनीकोंड में खुदी एक चतुर्वर्गी कथा-पट्टी में मिलता है।[4] पहाड़पुर (बंगाल) के आठवीं शताब्दी ईस्वी के विशालकाय मंदिर में रामायण से संबंधित अनेक दृश्यावलियां बनी हैं।[5]

राजस्थान की मूर्ति-कला में भी रामायण के कई दृश्य खोजे जा सकते हैं।[6]

---

१. जार्ज सी० एम० बर्डवुड—'दि इंडस्ट्रियल आर्ट्स आफ इंडिया', जिल्द १, पृ० २६।

२. आनंद कुमारस्वामी—'ए हिस्ट्री आफ इंडियन एंड इंडोनेशियन आर्ट', पृ० ७९।

३. राधाकुमुद मुखर्जी—'एन्श्यंट इंडियन एज्यूकेशन', फलक १५, पृ० ३४४।

४. पुरातत्व विभाग, भारत सरकार, के मेमायर, संख्या ५४, फलक ४५।

५. रमेशचंद्र मजूमदार—'हिस्ट्री आफ बंगाल', भाग १, पृ० ५२६ और फलक ४७।

६. रत्नचंद्र अग्रवाल—'रामायण सीन्स इन राजस्थान स्कल्पचर्स' ('इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली', जून १९५४)।

जयपुर-संग्रहालय में सुरक्षित एक प्रस्तर-खंड में कैलास-पर्वत पर शिव और पार्वती विराजमान हैं और नीचे रावण उस पर्वत को हिलाने का प्रयत्न करता दीख पड़ता है। यह दृश्य भारत और वृहत्तर भारत के कई स्थानों में अंकित है। जोधपुर से सत्तासी मील दूर स्थित केकींदा के नीलकंठ महादेव-मंदिर (दसवीं शताब्दी) के शिखरनुमा सभा-मंडप में रामायण के कई दृश्य खुदे हैं, जैसे पर्वतधारी हनुमान, जटायु और राम, धनुष-वाण-धारी राम, वाली-सुग्रीव-युद्ध तथा स्वर्ण-मृग। इसी प्रकार किराडू (जोधपुर से एक सौ तेईस मील) के सोमेश्वर-मंदिर के मुख्य देवालय के वाहरी भाग पर भी कई रामायण-दृश्य अंकित हैं, यथा वाली-सुग्रीव-युद्ध, सेतु-निर्माण करते हुए वानर और अशोकवाटिका में सीता। इसी मंदिर के समीप वने एक शिव-मंदिर में मेघनाद की शक्ति से घायल लक्ष्मण तथा रामायण के कुछ अन्य दृश्य दिखाये गए हैं। किराडू से प्राप्त तेरहवीं सदी के काले पत्थर के एक दरवाजे पर, जो अव जोधपुर-संग्रहालय में सुरक्षित है, विष्णु के अवतारों में धनुष-वाण लिये राम भी अंकित हैं। राम की एक ऐसी ही मूर्ति खेड़ (जोधपुर डिवीजन में वालोतरा से पांच मील दूर)-स्थित रणछोड़रायजी के मंदिर के आले में पाई गई है। असावा (सिरोही) में १२९८ ई० की वनी हनुमान की एक विशाल प्रतिमा प्रतिष्ठित है।

कंवोडिया के 'टावर आफ दि गोल्डन हार्न' (जो अव 'पुओन' के नाम से पहचाना जाता है) के सवसे ऊंचे प्रकोष्ठ की दीवारों पर रामायण के दृश्यों का अंकन करनेवाले सुंदर उत्कीर्ण पट्ट पाये जाते हैं। राम-विषयक चित्रों में उल्लेखनीय ये हैं—राम-लक्ष्मण की सुग्रीव के साथ भेंट, वाली-सुग्रीव का द्वंद्व-युद्ध, हनुमान के कंधों पर वैठे राम के संमुख रावण जो सिंहों द्वारा खींचे जानेवाले रथ पर सवार है, सीता की अग्नि-परीक्षा और राम का राज्याभिषेक।[1] कंवोडिया के अंकोर वाट में, जो मूलतः एक विष्णु-मंदिर था, कई उत्कीर्ण शिलाएं हैं, जिनमें रामायण के दृश्य खुदे हैं, यथा कवंध-वध, राम-सुग्रीव-मैत्री, सुग्रीव-वाली-युद्ध, हनुमान का लंका में सीता को पाना, लंका की रण-भूमि तथा पुष्पक-विमान में राम का अयोध्या लौटना। इनमें से प्रथम छः दृश्य मध्य जावा के नवीं शताब्दी के मंदिर प्रांवनन

१. वी० आर० चटर्जी—'इंडियन कल्चरल इन्फ्लुएंस इन कंम्वोडिया', पृ० १६५-६।

में भी उपलब्ध होते हैं। ये दृश्य कला की दृष्टि से निःसंदेह श्रेष्ठतर हैं, यद्यपि ये वाल्मीकि-रामायण का अक्षरशः अनुसरण नहीं करते।[1]

भारत के अनेक प्राचीन शिलालेखों में रामायण के शब्दों, भावों तथा श्लोकार्धों की छाया पाई जाती है, और कहीं-कहीं तो उन्हें उद्‌धृत ही कर लिया गया है, जैसा कि निम्नांकित उदाहरणों से प्रकट है[2]—

शिलालेख	वाल्मीकि-रामायण
१. एभ्यो ब्राह्मणेभ्यो नानागोत्र-चरणतपःस्वाध्यायनिरतेभ्यः। (दामोदरवर्मा का मत्तेपाद प्लेट, चौथी शताब्दी ई०, 'एपिग्राफिया इंडिका,' १७, पृ० ३२९, चित्र १)	१. तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्।१।१।१
२. पर्जन्येन एकार्णवभूतायामिव पृथिव्यां कृतायाम्। (महाक्षत्रप रुद्रदामन का शिलालेख, दूसरी शताब्दी ई०, वही, ८, पृ० ४२, चित्र २)	२. अयं ह्युत्सहते क्रुद्धः कर्तुमेकार्णवं जगत्।५।४९।२०
३. पोरजननिविसेससमसुखदुखस (वालासिरी का नासिक गुफावाला शिलालेख, दूसरी शताब्दी ई०, वही, ८, पृ० ६०, चित्र ३)	३. व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः। उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति ॥२।२।४०-१
४. संरंजयां च प्रकृतिर्बभूव पूर्व-स्मिताभाषणमानदानैः। (स्कंद-	४. स्मितपूर्वाभिभाषी च धर्मं सर्वात्मना श्रितः।२।५।४२

१. 'इंडियन कल्चरल इन्फ्लुएंस इन कंबोडिया', पृ० २०८-९।

२. देखिए—सी० शिवराममूर्ति-कृत 'एपिग्राफिकल ईकोज आफ कालिदास', पृ० १६५-६।

गुप्त का गिरनार शिलालेख, ४५७ ई०, 'कार्पस इंस्क्रिप्शनम इंडिकेरम', भाग ३, पृ० ६०, चित्र ४)

५. यो लालयामास च पौरवर्गान्... पुत्रान् सुपरीक्ष्य दोषान् । (वही)

५. पौरान् स्वजनवन्नित्यं कुशलं परिपृच्छति । पुत्रेष्वग्निषु दारेषु प्रेष्यशिष्यगणेषु च । निखिलेनानुपूर्व्याच्च पिता पुत्रानिवौरसान् ॥ २।२।३८-९

६. देवद्विजगुरुवृद्धोपचयिन...। (पल्लव सिंहवर्मा का पिकिरा दानपत्र, 'एपिग्राफिया इंडिका', ८, पृ० १६१)

६. बहुश्रुतानां वृद्धानां ब्राह्मणानामुपासिता ।२।२।३३

७. समुद्र इव गम्भीरः क्षमया पृथिवीसमः । (महाकूट स्तंभ पर मंगलेश का अभिलेख, 'इंडियन एंटीक्वेरी', १९, पृ० १७, चित्र ६)

७. समुद्र इव गाम्भीर्ये क्षमया पृथिवीसमः ।२।१।१७-८

८. ज्येष्ठः श्रेष्ठगुणसमुदयोदितपुरुरणपराक्रमांकप्रियः । (वही, चित्र १७)

८. ज्येष्ठं श्रेष्ठगुणैर्युक्तं प्रियं दशरथः सुतम् ।१।१।२०

९. तस्य पुत्रो महातेजाः कन्दर्प इव मूर्तिमान् । धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च पार्थतुल्यपराक्रमः ॥ (पूर्वी चालुक्य राजा विष्णुवर्धन का सतारा दानपत्र, वही, १९, पृ० ३०९, चित्र ८)

९. रूपवान् सुभगः श्रीमान् कन्दर्प इव मूर्तिमान् ।५।३४।३०; धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः ।१।१।२

१०. सत्यपराक्रमः। (धर्मराजरथ, महावलीपुरम के एक अलंकृत मंच पर अंकित लेख में दिया गया पल्लव नरसिंह वर्मा का एक विरुद, 'साउथ इंडियन इंस्क्रिप्शन्स', भाग १, चित्र ९, पृ० ४)	१०. दिव्यैर्गुणैः शक्रसमो रामः सत्यपराक्रमः ।२।२।२८; तमेव गुणसम्पन्नं रामं सत्यपराक्रमम्। १।१।१९; २।२।४८
११. जलनिधिरिव व्योम व्योम्नः समोऽभवदम्बुधिः। (पुलकेशी के ऐहोल शिलालेख में रविकीर्ति का पद्यांश, 'एपिग्राफिया इंडिका,' ६, पृ० ६, चित्र १०)	११. सागरं चाम्बरप्रख्यमम्बरं सागरोपमम्। रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ॥६।१०७।५१-२
१२. कैलासशिखरप्रतिमानि। (कुमारगुप्त और बन्धुवर्मा का मंदसोर शिलालेख, 'कार्पस इंस्क्रिप्शनम इंडिकेरम', ३, पृ० ८१, चित्र ७३)	१२. कैलासशिखरप्रख्यमालिखन्तमिवाम्बरम्।५।२।२३; २।३।३२

वृहत्तर भारत से प्राप्त कुछ शिलालेखों में भी वाल्मीकि के वर्णनों की छाया दीख पड़ती है, जिससे सूचित होता है कि वहां रामायण का प्रचार बहुत प्राचीन काल से रहा है।[1]

रामायण के पठन-श्रवण में तथा उसके आधार पर रचित नाटकों में राम का मानव-रूप ही अधिक उभरा है—लोकमानस अपने चरितनायक की कष्ट-गाथा को देख-सुनकर भाव-विभोर हो उठता है। किंतु जनसाधारण के धार्मिक क्रिया-कलापों में राम विष्णु के अवतार के रूप में गृहीत हुए हैं। पाश्चात्य विद्वान रिजवे[2] ने अपना यह मत प्रकट किया है कि हिंदुओं के देवी-देवता निरे प्रकृति

---

१. देखिए नीलकंठ शास्त्री का 'जर्नल आफ ओरिएंटल रिसर्च' ६।२ में लेख, पृ० ११७-८।

२. 'दि ड्रामाज एंड ड्रामेटिक डान्सेस आफ नान-यूरोपियन रेसेस', पृ० १३३।

के उपादान नहीं हैं, न वे अव्यक्त, अदृश्य वनदेवता ही हैं, वल्कि मूलत: वे ऐसे विशिष्ट नर-नारी रहे होंगे, जिनके पराक्रमों, गुणों या कष्टों ने समसामयिक जगत को वड़ा प्रभावित किया। राम के अलौकिकीकरण पर यह वात वहुत घटित होती है—राम, जो उस युग के महामानव थे और जिन्हें वाद की पीढ़ियों ने मर्यादा-पुरुषोत्तम के रूप में समादृत किया। 'एक आज्ञाकारी पुत्र, एक स्नेही भ्राता और एक अनुरक्त पति होने के साथ-साथ राम निश्चय ही एक आदर्श राजा, विशिष्ट नागरिक और उदार शत्रु हैं, जिनके मानवीय गुण इतने उदात्त, इतने लोकोत्तर हैं कि हमें आश्चर्य नहीं होता जव उन्हें सारभूत ईश्वरत्व कहा जाता है।"[1] रामायण में जव राम तत्कालीन जगत को त्रस्त और आतंकित कर देने-वाले रावण का वध कर डालते हैं, तव व्रह्मा आदि देवता और ऋषि-मुनि एकत्र हो उनकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि आप साक्षात सुदर्शनधारी विष्णु भगवान हैं। इस स्थल पर प्रकट किया गया यह विश्वास कि राम विष्णु के सातवें अवतार हैं, युगों वाद आज तक व्यापक रूप से प्रचलित रहा है और इसने राम को एक महामहिम महापुरुष के स्तर से ऊपर उठाकर ईश्वरीय विभूति की कोटि तक चढ़ा दिया। उनके नाम पर मंदिरों का निर्माण हुआ और जिन-जिन स्थलों पर उनके चरण-कमल पड़े, वे तीर्थ-रूप हो गए। राम और कृष्ण की आराधना ही भारत के करोड़ों जनों को—संप्रदायों, मान्यताओं और प्रथाओं की विभिन्नता होते हुए भी—परस्पर वांधे हुए है।

इससे भी कहीं अधिक, राम की उदात्त कथा ने हमारे धार्मिक सुधारकों को प्रेरणा दी और लोक में प्रचलित धार्मिक विश्वासों को सुसंस्कृत एवं विशुद्ध वनाया। वारहवीं शताव्दी में रामानुजाचार्य ने विष्णु की सार्वभौमता उद्घोषित कर दक्षिण भारत में एकेश्वरवाद का प्रचार किया। तेरहवीं और चौदहवीं शती में रामानंद ने यही मत उत्तर भारत में प्रचारित किया। रामानंद के प्रतिभा-शील शिष्य कवीर ने हिंदू और मुसलमानों को एक ही ईश्वर—चाहे उसे राम कहें या रहीम—की पूजा-आराधना के नाम पर संयुक्त कर देने की साहस-भरी कल्पना की। वंगाल में चैतन्य ने और पंजाव में गुरु नानक ने इस दिव्य संदेश की धारा घर-घर प्रवाहित की। गोस्वामी तुलसीदास ने उत्तर भारत की जनता के

---

१. के० टी० शाह—'दि स्प्लेंडर दैट वाज इंद', पृ० ६५।

समक्ष, उन्हींकी भापा में, राम को विश्व के सारभूत तत्व की साकार प्रतिमूर्ति के रूप में प्रस्तुत किया। आज भी असंख्य मंदिरों में असंख्य देवी-देवताओं की पूजा करनेवाली धर्मप्राण हिंदू जनता एक ही सार्वभौम परमेश्वर की सत्ता में विश्वास करती है तथा राम और कृष्ण को उसी परमेश्वर का अवतार मानती है।

लौकिक और पारलौकिक जीवन के सर्वोच्च आदर्शों का कोश होने के कारण रामायण भारत में आज भी नैतिकता और सदाचार की आधार-शिला बनी हुई है। वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए ऐसे मानदंड निर्धारित करती है, जिनके अनुसार वह अपना दैनंदिन व्यवहार संचालित कर सकता है। तरुण-तरुणियों को सद्-व्यवहार के उदात्त आदर्शों की ओर प्रेरित करने के लिए रामायण से बढ़कर और कोई ऐसी निर्दोष पाठ्य-पुस्तक नहीं है, जो निःसंकोच उनके हाथों में दी जा सकती हो।[1] नैतिक महत्ता के सर्वातिशायी रूप का उद्‌घाटन करनेवाले आदर्श नृपति, आदर्श पति, आदर्श भाई और आदर्श सेवक का भव्य चित्रण करके वाल्मीकि ने भारतीय मानस को मंत्र-मुग्ध कर दिया है। विशेप कर अयोध्याकांड का नैतिक प्रभाव इतना प्रगाढ़ होता है कि 'वह सदा के लिए भारत के आर्यों के समक्ष एक ऐसा दिव्य उदाहरण बना रहेगा, जो महान व्यक्तियों को अपना वचन किसी भी मूल्य पर निभाने के लिए, सन्नारियों को सुख-दुःख में अपने पति का साथ देने के लिए तथा भ्रांत-चित्त और हठी स्त्रियों को कैकेयी की भांति स्वार्थों का अत्यधिक अनुसरण न करने के लिए सदा प्रेरित करता रहेगा। बिना किसी अतिशयोक्ति अथवा विचित्रता के कवि ने एक सच्ची सरल कथा द्वारा हमारी अंतरतम मृदु भावनाओं को इस प्रकार उद्वेलित किया है तथा दैनिक जीवन के सत्यों का हमारे चित्त पर इतना गहरा प्रभाव डाला है कि वे हमारे हृदय में पैठ जाते हैं और हम प्रत्येक परिस्थिति में कर्तव्य का पालन करने में अपने को सबल और समर्थ पाते हैं।'[2] जहां आत्मजयी और धर्मात्मा राम संकटापन्न परिस्थितियों में भी सत्य और धर्म का परित्याग नहीं करते और इस प्रकार नैतिक श्रेष्ठता के ज्वलंत प्रतीक बन जाते हैं, वहां शील और सौंदर्य की प्रतिमा सीता भारतीय नारियों

---

१. पी० पी० एस० शास्त्री—'वाल्मीकि-रामायण', प्रस्तावना, पृ० ८।
२. चिं० वि० वैद्य—'दि रिडिल आफ दि रामायण', पृ० १३०।

के लिए पवित्रता, पातिव्रत्य एवं स्त्रियोचित गरिमा का अनुपम आदर्श उपस्थित करती हैं। राम और सीता दोनों मिलकर पूर्ण एवं श्रेष्ठ जीवन के भारतीय आदर्श का प्रतिनिधित्व करते हैं। हमारे हर्ष-विषाद के वे चिरंतन स्रोत वन गए हैं और जीवन के उतार-चढ़ाव में हमारे एक-मात्र संवल।

इस प्रकार रामायण भारतीय जीवन और संस्कृति में ओत-प्रोत है। महाभारत और पुराणों के साथ उसने भी प्राचीन एवं मध्ययुगीन भारत में विभिन्न जातियों और संप्रदायों के सांस्कृतिक एकीकरण में तथा भारतीयों के दृष्टिकोण को आध्यात्मिक वनाने में अप्रतिम योग दिया है। उसने पुरुषत्व और नारीत्व के ऐसे आदर्श हमारे सामने रखे हैं, जो सभी वर्गों के लोगों के लिए अनुकरणीय हैं और आपत्ति-काल में उनका पंथ-प्रदर्शन करते हैं। पश्चिम में वाइविल के अतिरिक्त, विश्व की किसी भी साहित्यिक कृति का ऐसा सर्वातिशायी प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता।[1] पाश्चात्य आलोचक इस विषय में एकमत हैं कि विश्व-साहित्य की किसी भी लौकिक (सेक्यूलर) कृति ने किसी जाति के जीवन और विचारों को वाल्मीकि-रामायण की तरह प्रभावित नहीं किया।[2] राम के जीवन के विचित्र भाव-प्रवाह पर वाल्मीकि ने जो रस-माधुर्यपूर्ण महाकाव्य रचा है, वह 'तव तक पृथ्वीतल पर प्रचारित होता रहेगा जव तक पर्वत स्थिर हैं और नदियां प्रवहमान हैं।'[3] इस कथन की पुष्टि हमारे समग्र सांस्कृतिक जीवन के इतिवृत्त से होती है। 'रामायण में एक नवीन छंद और नवीन भाषा में मानो भारत के वर्तमान और अतीत के समस्त राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक आदर्श पुंजीभूत हो गए हैं और जव तक वैदिक धर्मानुयायी हिंदू-जाति का अस्तित्व एक पृथक एवं आत्मभरित धार्मिक इकाई के रूप में विद्यमान रहेगा, रामायण सदा आर्य-सभ्यता की उज्ज्वलता को, उसके सौरभ को चतुर्दिक प्रसारित करती रहेगी।'[4]

---

१. मन्मथनाथ दत्त-कृत रामायण के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका।

२. 'एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एंड एथिक्स' में ए० ए० मैक्डानेल का लेख, भाग १०, पृ० ५७४।

३. यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले। तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति ॥१।२।३६-७।

४. जार्ज सी० एम० वर्डवुड-दि इंडस्ट्रियल आर्ट्स आफ इंडिया,' जिल्द १, पृ० ३२-३।

आदि-काव्य के सार्वदेशिक और सार्वकालिक महत्व एवं आकर्षण पर फ्रांसीसी इतिहासकार मैचेलेट के, १८६४ में अभिव्यक्त, ये उद्गार चिर स्मरणीय हैं—"जिस किसीने भी महान कार्य किये हैं या बड़ी-बड़ी आकांक्षाएं संजोई हैं, उसे इस गहरे प्याले से जीवन और यौवन की एक लंबी घूंट पीनी चाहिए। पश्चिम में सभी चीजें सकरी और तंग हैं—यूनान एक छोटी जगह है और उसका विचार करके मेरा दम घुटता है; जूडिया शुष्क जगह है, वहां मैं हांफ जाता हूं। मुझे विशाल एशिया और गहन पूर्व की ओर जरा देखने दो। वहां मिलता है मेरे मन का महाकाव्य—हिंद महासागर-जैसा विस्तृत, मंगलमय सूर्य के प्रकाश से चमकता हुआ—जिसमें दैवी संगीत है, जिसमें कोई बेसुरापन नहीं। वहां एक गहरी शांति का राज्य है और संघर्ष के बीच भी एक अपार माधुर्य, एक सीमातीत सौहार्द है, जो सभी पर प्रेम, दया और क्षमा का अपार और अथाह सागर लहरा देता है।"[1]

१. जवाहरलाल नेहरू-कृत 'हिंदुस्तान की कहानी' में उद्धृत, पृ०११९।

संदर्भ-ग्रंथ

अनंत सदाशिव अलतेकर	'एज्यूकेशन इन एन्श्यंट इंडिया', वाराणसी, १९४४
आनंद कुमारस्वामी	'ए हिस्ट्री आफ इंडियन एंड इंडोनेशियन आर्ट', लंदन, १९२७
	'राजपूत पेंटिंग', लंदन, १९१६
आर० वी० जागीरदार	'ड्रामा इन संस्कृत लिटरेचर', बंबई, १९४७
एच० सी० चकलाधर	'सोशल लाइफ इन एन्श्यंट इंडिया', कलकत्ता, १९२९
एफ० ई० पार्जिटर	'एन्श्यंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रैडीशन', लंदन, १९२२
एन० ए० गोरे	'ए बिब्लिओग्राफी आफ दि रामायण', पूना, १९४३
ए० ए० मैक्डानेल	'एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एंड एथिक्स', जिल्द १०, में रामायण पर लेख
एस० कृष्णस्वामी आयंगार	अभिनंदन ग्रंथ
एस० सी० सरकार	'एज्यूकेशनल आइडियाज एंड इन्स्टीटयूशंस इन एन्श्यंट इंडिया'
एस० वी० वेंकटेश्वर	'इंडियन कल्चर थ्रू दि एजेस', जिल्द १, लंदन, १९२८
कल्याण	'रामायणांक' तथा 'संक्षिप्त वाल्मीकि-रामायणांक', वर्ष ५ तथा १८
के० टी० शाह	'दि स्प्लेंडर दैट वाज इंद', बंबई, १९३०
के० एस० रामस्वामी शास्त्री	'स्टडीज इन दि रामायण', बड़ौदा, १९४४
चिंतामण विनायक वैद्य	'दि रिडिल आफ दि रामायण', बंबई, १९०६
जवाहरलाल नेहरू	'हिंदुस्तान की कहानी', नई दिल्ली, १९४७

जार्ज सी० एम० वर्डवुड — 'दि इंडस्ट्रियल आर्ट्स आफ इंडिया', लंदन १८८०
जी० पी० मजूमदार — 'सम एस्पैक्ट्स आफ इंडियन सिविलिजेशन', कलकत्ता, १९३८
जे० एन० फर्कुहर — 'एन आउटलाइन आफ दि रिलिजस लिटरेचर आफ इंडिया', लंदन, १९२०
जे० कैट्स — 'दि रामायण ऐज स्कल्पचर्ड इन रिलीफ्स इन जावानीज टेंपल्स', वटाविया-लेयडन, १९४०
जे० म्युअर — 'ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स', जिल्द २, लंदन, १८७१
टी० परमशिव ऐयर — 'रामायण एंड लंका', बंगलौर, १९४०
डब्लू० रिजवे — 'दि ड्रामाज एंड ड्रामेटिक डांसेस आफ नान-यूरोपियन रेसेस', कैंब्रिज, १९१५
तारापद भट्टाचार्य — 'ए स्टडी आन वास्तुविद्या', कलकत्ता, १९४८
दे और दासगुप्त — 'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर', कलकत्ता, १९४७
देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर — 'सम एस्पैक्ट्स आफ एन्श्यंट इंडियन कल्चर', मद्रास, १९४०
पी० पी० एस० शास्त्री — 'वाल्मीकि-रामायण', मद्रास, १९३५
पी० मेसन आर्सेल — 'एन्श्यंट इंडिया एंड इंडियन सिविलिजेशन', लंदन, १९००
पी० सी० धर्मा — 'रामायण पॉलिटी,' मद्रास, १९४१
बी० आर० चटर्जी — 'इंडियन कल्चरल इन्फ्लुएंस इन कंबोडिया', कलकत्ता, १९२८
बी० बी० दत्त — 'टाउन प्लानिंग इन एन्श्यंट इंडिया', कलकत्ता, १९२५
मन्मथनाथ दत्त — वाल्मीकि-रामायण का अंग्रेजी गद्यानुवाद, तीन जिल्दें, कलकत्ता, १८८९-९१
मुल्कराज आनंद — 'दि हिंदू व्यू आफ आर्ट', लंदन, १९३३
राधाकमल मुखर्जी — 'दि सोशल इन्फ्लुएंस आफ आर्ट', लंदन, १९४८
राधाकुमुद मुखर्जी — 'एन्श्यंट इंडियन एज्यूकेशन', लंदन, १९४७
राजेंद्रलाल मित्र — 'इंडो आर्यन्स', जिल्द १, लंदन, १८८१

वाल्मीकि	'रामायण', गुजराती प्रेस, वंबई, सात जिल्दें; तिलक, शिरोमणि और भूषण टीकाओं-सहित, १९१२-२०
वासुदेवशरण अग्रवाल	'भारत की मौलिक एकता', इलाहाबाद १९५४; 'हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन' पटना, १९५३
वी० आर० रामचंद्र दीक्षितार	'मत्स्य पुराण ए स्टडी', मद्रास, १९३५
वी०एस० श्रीनिवास शास्त्री	'लेक्चर्स आन दि रामायण', मद्रास, १९४९
वी० एम० आप्टे	'सोशल एंड रिलीजस लाइफ इन दि गृह्य सूत्राज', पूना, १९३९
शांतिकुमार नानूराम व्यास	'संक्षिप्त वाल्मीकि रामायण', दिल्ली, १९५५
सर्वपल्ली राधाकृष्णन (सं०)	'दि कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया', जिल्द १, कलकत्ता, १९३०; 'हिस्ट्री आफ फिलासफी, ईस्टर्न एंड वेस्टर्न', जिल्द १, लंदन, १९५२
सिस्टर निवेदिता	'सिविक एंड नेशनल आइडियल्स'
सी० शिवराममूर्ति	'एपिग्राफिकल ईकोज आफ कालिदास' मद्रास, १९४५; 'सम न्यूमिस्मैटिक पैरेलल्स आफ कालिदास', मद्रास, १९४४; 'अमरावती स्कल्पचर्स इन दि मद्रास म्यूजियम', मद्रास, १९४२; 'संस्कृत लिटरेचर एंड आर्ट—मिरर्स आफ इंडियन कल्चर', दिल्ली, १९५५
स्टैनली राइस	'हिंदू कस्टम्स एंड देअर ऑरिजिन', लंदन, १९३७

वाल्मीकि-कालीन भारत

कंबोज
गांधार
पुष्कलावती
तक्षशिला
सिंधु नदी
हिमवंत पर्वत
गिरिव्रज
वितस्ता नदी
केकय
चंद्रभागा नदी
मद्र
इरावती नदी
विपाशा नदी
वाल्हीक
शतद्रु नदी
सरस्वती नदी
कुरुजांगल
दृशद्वती
हरद्वार
इंद्रप्रस्थ
हस्तिनापुर
कांपिल्य
ब्रह्मावर्त
पांचाल
सरयू नदी
श्रावस्ती
गोप्रतार
नंदिग्राम
अर्बुद पर्वत
शूरसेन
मधुपुरी
सांकाश्या
कान्यकुब्ज
कोसल
अयोध्या
विदेह
गौतमाश्रम
मिथिला
पुष्कर
चर्मण्वती नदी
श्रृंगवेरपुर
प्रयाग
वेत्रवती नदी
कौशांबी
काशी
विशाला
अंग
ऋष्यश्रृंग-आश्रम
वाल्मीकि-आश्रम
वाराणसी
गंगा नदी
चित्रकूट
मलद-करुष
मगध
वंग
लौहित्य नदी
कामरूप
प्राग्ज्योतिष
मालव
हिरण्यवाह नदी
आनर्त
अवंती
माहिष्मती
नर्मदा नदी
विंध्य पर्वत
जाबालिपत्तन
किरात
धर्मारण्य
पयोष्णी नदी
दक्षिण कोसल
चित्रोत्पला नदी
जनस्थान
पंचवटी
अगस्त्य-आश्रम
विदर्भ
उत्कल
गोदावरी नदी
दंडकारण्य
दक्षिणापथ
कलिंग
महोदधि
पंपापुर
कृष्णवेणी नदी
किष्किंधा
ऋष्यमूक
प्रस्रवणगिरि
मतंग-आश्रम
कांची
चोल
अर्कवती नदी
कृतमाला नदी
ताम्रपर्णी नदी
सेतुबंध
पांड्य
लंका

0 50 100 200 300
मील

परिशिष्ट

वाल्मीकि-कालीन स्थान-परिचय

अगस्त्य-आश्रम—नासिक से चौबीस मील दक्षिण-पूर्व।
अर्धगंगा—कावेरी।
अपर ताल—रामपुर के उत्तर में रामगंगा-तटवर्ती प्रदेश।
अपर विदेह—रंगपुर और दीनाजपुर।
अर्बुद—आबू पर्वत।
अयोध्या—सरयू के दक्षिण तट पर स्थित।
अंग—गंगा के उत्तर-दक्षिण भागलपुर का इलाका, जिसमें मुंगेर भी शामिल है।
अवंती—मालवा की प्राचीन राजधानी।
अंशुमती—यमुना नदी का एक प्राचीन नाम।
आनर्त—उत्तरी गुजरात।
इक्षुमती—फर्रुखाबाद जिले की इक्षुला या ईखन नदी।
इंद्रप्रस्थ—दिल्ली।
इरावती—रावी।
इल्वल—एलोरा।
उज्जिहान—उझानी, बदायूं।
उत्कल—उड़ीसा।
उत्तर कुरु—तिब्बत और पूर्वी तुर्किस्तान।

उत्तरगा या उत्तानिका—रामगंगा नदी।
उशीनर—दक्षिणी अफगानिस्तान।
ऋष्यमूक—बिलारी जिले में हंपी के उत्तर में स्थित पर्वत।
ऋष्यशृंग-आश्रम—भागलपुर जिले में माधीपुर तहसील में सिंहेश्वर।
कंबोज—पामीर, बदख्शां।
करूष—बघेलखंड।
कर्णाट—दक्षिण भारत का एक प्रदेश, जिसमें आजकल बेलगांव, धारवाड़, बीजापुर, बिलारी आदि स्थित हैं।
कर्मनाशा—बिहार के शाहाबाद जिले की पश्चिमी सीमा पर एक नदी।
कलिंग—उड़ीसा से दक्षिण तथा द्रविड़ देश से उत्तर, पूर्वी घाट का एक प्रदेश।
कांची—कांजीवरम।
कान्यकुब्ज—कन्नौज।
कांपिल्य—कंपिल, फर्रुखाबाद।
कामाश्रम—बलिया जिले में सरयू-गंगा के संगम पर। अब सरयू पूरब में हट गई है।
कामरूप—असम।
कारुपथ—सिंधु नदी के पश्चिमी किनारे पर बन्नू जिले में स्थित कालाबाग

या कारावाग। राम ने लक्ष्मण-पुत्र चंद्रकेतु को यहां का राजा बनाया था।

कालिंदी—यमुना नदी का एक प्राचीन नाम।

काशी—वह जनपद, जिसकी राजधानी वाराणसी थी।

किष्किंधा—विलारी जिले में, हंपी से चार मील दूर, तुंगभद्रा नदी पर स्थित वर्तमान अनागोंदी।

किरात—भारत का पूर्वी सीमा-प्रदेश।

कुरुजांगल—हस्तिनापुर के उत्तर-पश्चिम की ओर सरहिंद में।

कुलिंद—सहारनपुर जिला।

कुशावती—भड़ौंच से अड़तीस मील उत्तर-पूर्व। राम-पुत्र कुश द्वारा स्थापित।

कूटिकोष्टिका—कौसिला नदी, राम-गंगा की पूर्वी शाखा।

कृष्णवेणी—कृष्णा और वेणा नदियों की संयुक्त धारा।

कृतमाला—वैगा नदी, जिस पर मदुरा स्थित है।

केकय—झेलम और चिनाव के मध्य का प्रदेश। आधुनिक शाहपुर—गुजरात।

केरल—कनाडा, मलावार, त्रावणकोर।

कैलास—मानसरोवर से पच्चीस मील उत्तर।

कोसल (उत्तर)—अवध।

कौशांबी—प्रयाग से तीस मील पश्चिम यमुना के बायें किनारे पर स्थित कोसम नामक एक प्राचीन गांव।

कौशिकी—कोसी नदी, गंगा की एक शाखा।

गंधर्व—कुनार तथा सिंधु नदियों के बीच काबुल नदी के किनारे का प्रदेश।

गांधार—तक्षशिला से काबुल तक का प्रदेश।

गिरिव्रज—केकय राज्य की राजधानी। झेलम पर स्थित गिरिझक या जलालपुर। इसका नाम राजगृह भी था।

गोकर्ण—गंगोत्री से दो मील आगे, गोमुखी, जहां भगीरथ ने गंगा को भूतल पर लाने के लिए तप किया था।

गोप्रतार—फैजाबाद में सरयू नदी पर स्थित गुप्तार। यहीं राम ने इह-लीला समाप्त की थी।

गोमती—जिस पर लखनऊ स्थित है।

गौतमाश्रम—तिरहुत में, जनकपुर से चौबीस मील दक्षिण-पश्चिम की ओर, जरैल परगने के अहियारी गांव का अहल्या-स्थान।

चंद्रभागा—चिनाव।

चंपा—भागलपुर।

चर्मण्वती—चंबल।

चित्रकूट—चित्रकूट स्टेशन के समीप कामतानाथ गिरि।

चित्रोत्पला—महानदी।

चेर—मलावार का कुछ हिस्सा तथा कोयंबटूर।

चोल (द्रविड़)—कृष्णा और कावेरी नदियों के बीच का प्रदेश।

जनस्थान—औरंगाबाद तथा कृष्णा और गोदावरी के बीच का प्रदेश।

जाबालिपत्तन—जबलपुर।

तक्षशिला—पूर्वी गांधार की राजधानी। रावलपिंडी जिले में तक्षिला गांव।

तमसा—इस नाम की दो नदियां रामायण से सूचित होती हैं—एक अयोध्या से दक्षिण सरयू और गोमती के बीच में बहती है, जिसका नाम वेदश्रुति भी है, तथा दूसरी गंगा के दक्षिण में टोंस, जिस पर वाल्मीकि का आश्रम स्थित था।

ताम्रपर्णी—तिन्नेवेली जिले में तांवरवारी नदी।

दक्षिण कोसल—छत्तीसगढ़।

दक्षिणापथ—नर्मदा का दक्षिणवर्ती भारतीय प्रायद्वीप। मूल रूप से यह ऊपरी गोदावरी की आर्य-वस्तियों का सूचक था।

दंडकारण्य—चित्रकूट से लेकर गोदावरी तक का वन-प्रदेश; डा० भंडारकर के अनुसार महाराष्ट्र।

दर्दुर पर्वत—नीलगिरि।

दशार्ण—भेलसा, वेत्रवती तथा बुंदेलखंड की अन्य छोटी नदियों का प्रदेश।

दृशद्वती—सरस्वती और यमुना के बीच में कुरुक्षेत्र की चित्तांग नदी।

धर्मारण्य—कृतयुग में उत्कल में आर्यों का अधिनिवेश (राम से पूर्व)।

नलिनी—बंगाल की पद्मा नदी। इसे ब्रह्मपुत्र नदी भी माना जाता है।

नंदिग्राम—अयोध्या से एक कोस। आधुनिक नंदगांव, फैजाबाद से आठ-नौ मील दक्षिण।

नैमिषारण्य—गोमती नदी पर स्थित। आधुनिक निमसर, लखनऊ से पैंतालीस मील उत्तर-पश्चिम।

पंचवटी—नासिक।

पयोष्णी—ताप्ती।

पर्णाशा—बनास।

पंपासर—तुंगभद्रा की एक सहायक नदी, जो ऋष्यमूक पर्वत से निकलती है।

पंचाल—रुहेलखंड।

पांड्य—तिनेवेल्ली और मदुरा जिले।

पुष्कलावती—स्वात और काबल नदियों के संगम पर स्थित, वर्तमान चारसद्दा।

प्रलंब—पश्चिमी रुहेलखंड में, बिजनौर से आठ मील उत्तर, मुंदावर या मुंदोरा।

प्रस्रवण पर्वत—तुंगभद्रा नदी-वर्ती एक पर्वत-माला।

प्राग्ज्योतिष—कामरूप की राजधानी, आधुनिक गोहाटी।

बाल्हीक—बलख।

ब्रह्मावर्त—सरस्वती और दृशद्वती के बीच की भूमि।

मगध—दक्षिणी बिहार।

मतंग-आश्रम—बिलारी जिले में पंपा के पास।

मतंग-वन—पंपा के पश्चिमी तीर पर।

मत्स्य—अलवर-भरतपुर।

मद्र—चिनाब के पूर्व में उत्तरी पंजाब का एक जनपद।

मधुपुरी—मथुरा।

मधुमंत—दंडकारण्य में स्थित।
मध्यदेश—सरस्वती, हिमालय, प्रयाग और विंध्य के मध्य का देश।
मंदाकिनी—चित्रकूटा या पयस्विनी नदी, जो ऋष्यवान पर्वत से निकलकर चित्रकूट में बहती हुई यमुना में जा मिलती है।
मलद—गंगा के पूर्वी किनारे का जनपद, जो अब मालदा कहलाता है।
मलय गिरि—पश्चिमी घाट का दक्षिणी भाग।
मल्लदेश—मुलतान जिला।
महेंद्र पर्वत—पूर्वी घाट में गंजाम जिले में।
महोदधि—बंगाल की खाड़ी।
मागधी—सोन नदी।
माल्यवान पर्वत—किष्किंधा के पास प्रस्रवण-पर्वत-माला का एक शिखर।
मालिनी—प्रलंब और अपरताल नामक प्राचीन जिलों के बीच बहनेवाली चुक (शुक) नदी, जो अयोध्या से पचास मील उत्तर सरयू में गिरती है।
माहिष्मती—नर्मदा-स्थित महेश्वर, इंदौर से चालीस मील दक्षिण।
मिथिला—विदेह में जनकपुर से दक्षिण एक नगर।
मैनाक—लंका और भारत के मध्यवर्ती समुद्र में स्थित एक पर्वत।
यवद्वीप—जावा।
रत्नाकर—अरब सागर।
रसातल—पश्चिमी तारतार।
राजगृह—केकय देश की राजधानी गिरिव्रज का दूसरा नाम। बौद्ध काल में यह नाम मगध की प्राचीन राजधानी का था।
रामगिरि—नागपुर से चौबीस मील उत्तर रामटेक, जहां राम ने शंबूक-वध किया था।
लंका—परंपरानुसार वर्तमान श्रीलंका (सिलोन)। कुछ विद्वानों के अनुसार पूर्वी मध्य प्रदेश, मैडेगास्कर, अरब सागर के मलय द्वीप या आस्ट्रेलिया।
लवपुर—लाहौर (राम-पुत्र लव द्वारा स्थापित)।
लौहित्या—ब्रह्मपुत्र।
वत्स—प्रयाग से पश्चिम का प्रदेश, जिसकी राजधानी कौशांबी थी।
वाराणसी—बनारस।
वाल्मीकि-आश्रम—गंगा के दक्षिण में, तमसा नदी पर स्थित, प्रयाग से दस कोस। प्रयाग से चित्रकूट जाते समय राम यहां आये थे। किंतु उत्तरकांड के अनुसार यह गंगा पर कानपुर से चौदह मील आधुनिक बिठूर है।
वितस्ता—झेलम।
विदर्भ—बरार।
विदिशा—भेलसा।
विदेह—तिरहुत।
विपाशा—व्यास नदी।
विशाला—मुजफ्फरपुर (बिहार) जिले में बेसाढ़। रामायण के समय में यह गंगा के उत्तरी किनारे पर स्थित थी। यही बौद्ध काल की वैशाली थी।

विश्वामित्र-आश्रम—बक्सर का चरित्र-वन।

वेत्रवती—बेतवा।

वेदश्रुति—कोसल जनपद में सरयू के दक्षिण में सबसे पहले मिलनेवाली एक छोटी नदी, जिसे राम ने अपनी वनवास-यात्रा में पार किया था। इसका वर्तमान नाम तानसा या तमसा है।

वंग—बंगाल।

शतद्रु या शुतुद्रि—सतलज।

शाल्मली—चंद्रभागा की सहायक नदी।

शूर—मथुरा के आसपास का प्रदेश।

शृंगवेरपुर—सिंगरौर, प्रयाग से अठारह मील वायव्य दिशा में गंगा-तट पर स्थित।

श्रावस्ती—राप्ती पर स्थित सहेत-महेत।

सदानीरा—राप्ती।

सरयू—घग्घर।

सरस्वती—घाघरा।

सह्य—सह्याद्रि, पश्चिमी घाट।

सांकाश्या—फर्रुखाबाद जिले में फतेहगढ़ के पश्चिम की ओर तेईस मील इक्षुमती नदी पर कपित्थ नाम से प्रसिद्ध।

सिद्धाश्रम—शाहाबाद जिले में बक्सर का पश्चिमी भाग।

सिंधु—उत्तरी सिंधु नदी का देश।

सुतीक्ष्ण-आश्रम—मंदाकिनी के उद्गम के पास, बुंदेलखंड की भूतपूर्व पन्ना रियासत में।

सुवर्ण द्वीप—सुमात्रा।

सौराष्ट्र—काठियावाड़।

स्यंदिका—गोमती और गंगा के बीच कोसल की दक्षिणी सीमा पर बहनेवाली सई नदी।

सौवीर—उत्तरी सिंध।

हस्तिनापुर—दिल्ली और मेरठ से उत्तर-पूर्व में गंगा पर स्थित।

हिरण्यवाह—सोन नदी।

ह्लादिनी—केकय और शतद्रु के बीच की कोई नदी, जिसे भरत ने अयोध्या लौटते समय पार किया था।

त्रिकूट—दक्षिण-पूर्वी लंका का एक पर्वत।

अनुक्रमणिका